प्रकाशक—
आचार्य शुक्ल साधना-सदन
(स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल की
पुण्य स्मृति में संस्थापित)
१९/४४, पटकापुर
कानपुर

मूल्य ८)

मुद्रक—
साधना प्रेस
चगिया मनीराम, कानपुर

तुम हू ते व्रज हितू कोउ नहिं कोटि कहौ नहिं मानै
काके पिता, मात है काके, काहू हम नहिं जानै
काके पति सुत, मोह कौन कौ, घर है कहा पठावत
कैसौ धर्म, पाप है कैसो, आस निरास करावत
हम जानैं केवल तुमही कों और वृथा संसार ॥
सूर स्याम निठुराई तजिये तजिये वचन बिनु सार ॥७॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १

धाड़ मार कर रोती हुई गोपियों की इन कातर एवं व्याकुल को सुन कर कृष्ण ने उनके अनन्य प्रेम का अनुभव किया:—

हरि सुनि दीन वचन रसाल ।
विरह व्याकुल देखि बाला भरे नैन विसाल ॥

× × × ×

हरष वाणी कहत पुनि पुनि धन्य धनि व्रजलाल ।
सूर प्रभु करि कृपा जोहृयौ सदय भये गोपाल ॥१८॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६४६)

भक्त की वेदना का अनुभव करके भगवान द्रवित हो गये और गोपियों के प्रेम को धन्य-धन्य कहने लगे ।

रास प्रारम्भ हुआ । कितना सुहावना समय है ! शरद कालीन निर्मल नभ में पूर्ण चन्द्र का प्रकाश, रोम-रोम में मादकता की तरंगें उत्पन्न करने वाली शीतल मंद सुगंधित वायु, परम रुचिर यमुना का तट !! सूर कहते हैं:—

आजु निसि सोभित सरद सुहाई ।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई ॥
यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रचि मण्डली बनाई ।
राधा वाम अंग पर कर धरि मध्यहिं कुँवर कन्हाई ॥६६॥पृ० ३५०

सूरसागर (ना०प्र०स० १७५६)

राधा और कृष्ण बीच में हैं । चारों ओर गोपियाँ हैं । वैसा ही समय, वैसा ही सौंदर्य और वैसी ही हार्दिक प्रेम की उमंग ! रासलीला क्या है, मानों भगवान का एक एक आत्मा के साथ तद्रूप हो जाना है । पहले राधा के साथ नृत्य प्रारम्भ हुआ । सूर के शब्दों में ही सुनिये:—

कुण्डल संग ताटंक एक भये युगल कपोलनि झाई ।
एक उरग मानों गिरि ऊपर द्वै ससि उदय कराई ॥

समर्पण

प्रणव की भावमयी त्रिभंगी मुद्रा के प्रतीक ! शब्द ब्रह्म को
नाना संगीति-लहरियों में ध्वनित करने वाले मुरलीधर !
निराश हृदय को अपनी बाँकी छवि दिखाकर
आश्वस्त करने वाले नटराज ! यह कृति
तो तुम्हारी ही है, इसमें तुम्हीं
विद्यमान हो, तुम्हीं
खेल रहे हो;

अतएव

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।"

★

का देहान्त हो गया होगा। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में गोकुल का महत्वपूर्ण वर्णन उपलब्ध नहीं होता। जिस छप्पन भोग का ज्यौनार के रूप में सूर ने वर्णन किया है, वह सम्वत १६१५ की घटना हो सकती है, १६४० की नहीं।[1] सूरनिर्णय के पृष्ठ ९९ पर जो कृष्णदास-रचित बसन्त का पद उद्धृत किया गया है, उसमें घनश्याम के साथ सूरदास का भी नाम है। घनश्याम गोस्वामी विट्ठलनाथ के सातवें पुत्र थे, जिनका जन्म सम्वत १६२८ माना जाता है। इस सम्वत की सम्भावना से सूर का जीवन-काल १६३८ सम्वत तक इस-लिए नहीं जा सकता कि आज भी ग्रामीण स्त्रियाँ एक दो वर्ष की आयु वाले बच्चों के नाम बड़े-बड़े बच्चों के साथ विवाह आदि अवसरों पर गानों के अन्तर्ग लिया करती हैं। सम्भव है, कृष्णदास जी ने शिशु घनश्याम का नाम, इ ग्रामीण-प्रथा के अनुकरण पर, सूर आदि के साथ रख दिया हो।

ऊपर जो सम्भावित मत हमने प्रकट किये हैं, वे विद्वान लेखकों विचार के लिए हैं। वैसे 'सूर-निर्णय' और 'अष्टछाप परिचय' जैसे दो वह ग्रंथ लिखकर श्री मीतल और परीख जी ने वल्लभ सम्प्रदाय की अन्तरंग वा उद्घाटन द्वारा जो अत्यन्त आयास-साध्य विपुल सामग्री सूरदास के सम संचित कर दी है, वह सर्वतोभावेन सराहनीय और सूर के अध्ययन को f रूप से आगे बढ़ाने वाली है। विचार-विनिमय हमें किसी वस्तु की स्थिति तक पहुँचा सकता है, इसी हेतु हमने कुछ विचार उनके समक्ष कर दिये हैं।

कवि के काव्य को, उसके शब्दों में निहित भाव को, हृदयंग लिए अध्येता तथा आलोचक दोनों को प्रथम भावुक बनना पड़ता है। कर ही वे कवि के हृदय में प्रवेश कर सकते हैं। इसके पश्चात् उनके समीक्षक होने की अवस्था आती है। श्री व्रजेश्वरवर्मा काव्य-मर्मज्ञ अपने प्रबन्ध 'सूरदास' में इस गुण का परिचय काव्य-समीक्षा के अ स्थानों पर दिया है। सूर के हृदय में निहित तथा सूरसागर में भावनाओं के उद्घाटन एवं विश्लेषण में उन्होंने श्लाघनीय प्रयत्न कि इस प्रबन्ध में सूरदास की रचनाओं से मूल पदों को उद्धृत न व जैसी शैली में जो अर्थ दिया गया है, उससे सूरदास का भाव सम की खड़ी बोली के साहित्यिक रूप से परिचित पाठक को, कठिन

ॐ स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः।

ऋ० ८-१६-११

विषय-सूची

पंचम अध्याय

विषय | पृष्ठ संख्या

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

एकादशम अध्याय

प्राक्कथन

महात्मा सूरदास ने अपने व्यक्तित्व से जिस युग को अलंकृत किया, वह हिंदी साहित्य में भक्ति युग के नाम से विख्यात है। इस युग में अनेक दैवी विभूतियों ने जन्म लिया। स्वामी रामानन्द, सन्त-प्रवर कबीर, विष्णु स्वामी, महाप्रभु वल्लभाचार्य, चैतन्य स्वामी, सूरदास और तुलसीदास इसी युग के अवतारी पुरुष हैं। भारतीय जीवन के अन्तराल में जिस आध्यात्मिक साधना का संचरण होता रहा है, ये आचार्य और सन्त उसी के एकान्तनिष्ठ साधक थे।

सूर की साधना का आभास सर्व प्रथम मुझे उस समय हुआ, जब मैं सारावली में सूर की हरिलीला-दर्शन-सम्बन्धी स्वीकारोक्ति को पढ़ रहा था। जिस दिन मेरे मानस-पट पर सूर का हरिलीला-दर्शन अंकित हुआ, उसी दिन से मेरे सूर-अध्ययन के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। सूर की भाव-विभोरता एकदम नवीन अध्यात्म रूप में मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुई। प्रस्तुत प्रबन्ध का आधार यही साधना-सम्बन्धी दृष्टिकोण है।

भारतीय साधना प्रत्यक्ष में छिपी हुई एक परोक्ष-शक्ति की खोज करती रही है। इस खोज में संलग्न होकर उसने उधर ले जाने वाले कई मार्गों का अनुभव किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में इन्हीं साधना-पथों का निरूपण है। इसमें चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में भारतीय साधना और उसकी विशेषतायें वर्णित हैं। द्वितीय परिच्छेद में भारतीय साधना के विविध प्रकारों की व्याख्या है। इन प्रकारों में मैंने मूर्धन्य स्थान भक्ति को दिया है। तीसरा परिच्छेद भक्ति के विकास से सम्बन्ध रखता है, जिसमें मैंने पर्याप्त रूप से नवीन सामग्री का समावेश किया है। सगुणोपासना को लेकर इस देश में भागवत-भक्ति के जिस रूप की प्रतिष्ठा हुई, उसका विश्लेषण चतुर्थ परिच्छेद में किया गया है। सूर-साहित्य को भक्ति भावना के इसी क्षेत्र में रखकर मुझे देखना था, अतः प्रथम अध्याय के इन चार परिच्छेदों में उसी का पृष्ठाधार तैयार हुआ है।

द्वितीय अध्याय में सूर-साहित्य का वैज्ञानिक विश्लेषण है। समग्र सूर-साहित्य को मैंने दो भागों में विभाजित किया है:—(१) विनय के पद जिनका निर्माण सूर ने आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व किया था और (२) हरिलीला के पद जिनका निर्माण इस भेंट के उपरान्त हुआ। इस विभाजन का सूत्र मुझे चौरासी वैष्णवों की वार्ता से प्राप्त हुआ। इस सूत्र के अनुसार सूर की रचनाओं का एक पर्याप्त अंश आचार्य वल्लभ से ब्रह्म सम्बन्ध होने के पूर्व ही लिखा जा चुका था। चौरासी वार्ता के अनुसार इन रचनाओं का विषय सूर द्वारा अपने प्रभु के सामने दैन्य प्रदर्शन करना, घिघियाना था। मेरी समझ में इन रचनाओं पर नाथ-पंथी, कबीर-पन्थी तथा पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के अनुयायियों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा। तीसरे अध्याय में मैंने इसी प्रभाव को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है। इस प्रभाव-ग्रहण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सूर ने इन पन्थों में नियमपूर्वक प्रवेश किया हो। ऐसे प्रभाव तो अप्रत्यक्ष रूप से, किसी पन्थ में बिना सम्मिलित हुए भी, अपने आप पड़ते रहते हैं। फिर भी सूर की रचनाओं में शैवपन्थ के विधि-विधानों के अनुकूल तप करने का उल्लेख आ गया है। ऐसे पद यद्यपि मात्रा में कम हैं, फिर भी उनसे शैव सम्प्रदाय की ओर संकेत स्पष्ट रूप से जाता है। कुछ ऐसा आभास होता है कि सूर अपने प्रारम्भिक जीवन में, उत्तराखण्ड के अन्य ब्राह्मणों की भाँति शैव थे। पर वे सम्प्रदाय के विशिष्ट नियमों के अनुसार नैष्ठिक शैव मतावलम्बी थे, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार उन दिनों सामान्य जनता जन्माष्टमी के दिन कृष्ण की और शिवरात्रि के दिन शिव की उपासना में लीन हो जाती थी, उसी प्रकार की सामान्य-निष्ठा सूर के अन्दर भी रही होगी। संस्कार-सम्पन्न जीव होने के कारण सूर की निष्ठा में कुछ तीव्रता की मात्रा अधिक अवश्य माननी पड़ेगी। सूर की अन्तः प्रवृत्ति शैवपन्थ के विधानों के मेल में बहुत दिनों तक नहीं रही, क्योंकि नाथ-पंथियों की योग-धारा की उपयोगिता का प्रत्याख्यान उन्होंने आचार्य वल्लभ से भेंट होने के उपरांत लिखी गई अपनी कृतियों में बाहुल्य से किया है।। वैष्णव संप्रदाय की ओर उनकी विशेष रुचि प्रतीत होती है। उन्होंने हरिवंशी और हरिदासी जैसे वैष्णव संप्रदायों के अनुयायियों के साथ निवास करने की कामना नीचे लिखे पद में इस प्रकार प्रकट की है:—

सूर आस करि बरण्यौ रास। चाहत हौं वृन्दावन वास।
हरिवंसी हरिदासी जहाँ। हरि करुणा करि राखहु तहाँ॥
सूरसागर, पृष्ठ ३६३, (ना०प्र०स०१७९८)

निर्गुण-पंथियों के शब्दों का प्रभाव भी सूर पर पड़ा था। इन सब प्रभावों का विवेचन तीसरे अध्याय के तीन परिच्छेदों में किया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सूर एक पंथ से दूसरे पंथ में भागते फिरते थे। कहने का प्रयोजन केवल यही है कि आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व सूर की आत्मा व्याकुल थी। उसकी यह व्याकुलता उन दिनों के विविध सम्प्रदायों के संतों की शब्दों तथा गीतियों वाली प्रचलित शैली में अभिव्यंजित हुई है।

आचार्य वल्लभ से ब्रह्म-सम्बन्ध होने के पश्चात् सूर को हरिलीला के दर्शन हुए, जिसने उनकी समस्त व्याकुलता को नष्ट कर दिया। हरिलीला क्या है, पुष्टिमार्गीय भक्ति से उसका क्या सम्बन्ध है, हरिलीला हमारे प्राचीन तथा मध्यकालीन संस्कृत साहित्य से किस प्रकार स्वीकृति प्राप्त करती है—इन विषयों का प्रतिपादन चतुर्थ अध्याय के ११ परिच्छेदों में हुआ है। वेद का स्वाध्याय करते हुए, हरिलीला के प्रमुख अंगों से सम्बन्ध रखने वाली जो सामग्री मुझे प्राप्त हुई, उसका समावेश "हरिलीला और वेद" शीर्षक परिच्छेद में किया गया है। वेद मंत्रों का अर्थ मैंने महर्षि दयानन्द द्वारा समर्थित निरुक्त शैली पर किया है और इसी कारण उस सामग्री को भी छोड़ देना पड़ा है, जिसे ऐतिहासिक शैली में ग्रहण कर पुष्टिमार्ग के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है।

पुराणों में हरिलीला-सम्बन्धी दो प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई; एक तो विशुद्ध जीवन-लीला से सम्बन्ध रखने वाली और दूसरी उसके सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन करने वाली। प्रथम प्रकार की सामग्री का उपयोग मैंने चतुर्थ अध्याय में किया है। दूसरे प्रकार की सामग्री कुछ तो "सूरदास और हरिलीला" शीर्षक छठवें अध्याय में आ गई है, शेष परिशिष्ट के वायु तथा पद्मपुराण वाले प्रथम एवं द्वितीय परिच्छेदों में समाविष्ट है। इस सामग्री का अनुशीलन हरिलीला के तात्त्विक रूप को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भागवतभक्ति का प्रचार तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण भारतीय इतिहास के गुप्त-साम्राज्य-काल में विशेष रूप से हुआ। इन्हीं दिनों नारद-भक्ति-सूत्र, शांडिल्य-भक्ति-सूत्र तथा नारद-पांचरात्र के अन्तर्गत विविध संहिताओं का निर्माण हुआ। सूत्रों के साथ, संहिताओं में से मैंने बृहद्-ब्रह्म-संहिता का अध्ययन किया। इस संहिता में हरिलीला का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। सम्यक समीक्षा के साथ इसके प्रमाणों का मैंने इस प्रबन्ध में प्रचुर प्रयोग किया है।

पंचम अध्याय में सूरदास और ने पुष्टिमार्ग का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। डा० दीनदयालु गुप्त ने पुष्टिमार्ग का विशेष रूप से अध्ययन

परिशिष्ट के अन्तिम परिच्छेद में सूर पर हिन्दी में अब तक जो कार्य हुआ है, उसका सिंहावलोकन है। उसमें मैंने मान्य विद्वानों के कतिपय मतों तथा नवीन स्थापनाओं का समीक्षण किया है। ऐसा करने में मेरी प्रवृत्ति विशुद्ध रूप से सत्य के निर्णय करने की ओर रही है। यदि इससे किसी को किंचित भी क्लेश होता है, तो उसकी पाप-भागिनी मेरी बुद्धि है, और यदि यह ज्ञान के विवर्धन एवं सत्य की प्रतिष्ठा में कुछ भी सहायता देता है, तो उसका श्रेय इन विद्वानों की क्षमाशीलता एवं उदार सहृदयता को है।

यह प्रबन्ध आदरणीय प्रिंसीपल कालकाप्रसाद जी भटनागर, एम० ए० की प्रेरणा से प्रस्तुत हुआ और इसका वर्तमान स्वरूप उन्हीं के सत्प्रयत्न का परिणाम है। अतः अत्यन्त विनीत भाव से उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

डा० राजवली पांडेय, बनारस विश्वविद्यालय, डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय और प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसाद गौड़, एम० ए० कानपुर ने सुबोधिनी भाष्य, अणुभाष्य, बृहद ब्रह्मसंहिता आदि अमूल्य ग्रन्थों को मेरे लिये सुलभ कर जो अपूर्व सहायता प्रदान की है, उसके लिये धन्यवाद देकर मैं उनके श्रद्धा-संवलित स्नेह के मूल्य को कम नहीं करना चाहता।

जिन विद्वानों के ग्रंथों का उपयोग मैंने इस प्रबन्ध में किया है, उनके नाम यथा स्थान दे दिये गये हैं। फिर भी भूल से यदि किसी का नाम छूट गया हो, तो क्षमा प्रार्थी हूँ।

चिरंजीवी ओंकारस्वरूप शर्मा तथा डा० प्रेमनारायण शुक्ल ने इस प्रबन्ध के अथ से लेकर इति तक जो परिश्रम किया है, वह मेरे लिए अत्यन्त आह्लाद, संतोष और गौरव का विषय है। परमपिता परमात्मा उन्हें यशस्वी और वर्चस्वी बनावे।

विद्वद्वर पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और डा० धीरेन्द्र वर्मा के सत्परामर्शों से भी मैंने लाभ उठाया है। एतदर्थ इन बन्धुओं के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

इस सम्बन्ध में सूरदास के जो पद उद्धृत किये गये हैं, उनकी संख्या और पृष्ठ चैत्र, संवत् १९८० में श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई में मुद्रित सूरसागर के अनुसार रखे गये थे। अब काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सूरसागर का एक सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित कर दिया है। अतः पद-संख्या उसके आधार पर भी लिख दी गई है। आशा है, पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

मुंशीराम शर्मा

प्रथम अध्याय

भारतीय साधना

भारतीय साधना
और
उसकी विशेषतायें

दैवी भाव आसुर भावों पर विजय प्राप्त करें, मानव की अधोगामिनी प्रवृत्ति ऊपर उठकर आलोक में विचरण करने लगे, दुख दग्ध हों और सुख एवं शान्ति का प्रसार हो—ऐसी कामना प्रायः प्रत्येक संस्कृत मानव में होती है। पार्थिवता से पृथक् होकर दिव्यता की ओर, असत् से हट कर सत् की ओर, तम से ज्योति तथा मृत्यु से अमृत की ओर चलना सभी चाहते हैं। यह कामना सबके अन्दर विद्यमान है, पर कोई कामना निष्ठा-संवलित प्रयत्न के अभाव में कभी सफल नहीं होती। वलवती चेष्टायें, प्रवल प्रेरणायें, अनवरत अभ्यास जब आंतरिक संस्कारों को दृढ़ कर देते हैं, तभी यह कामना उस ओर प्रयाण करती है और गन्तव्य भूमिका की झलक दिखाई देने लगती है।

पार्थिवता की अनुभूति प्रायः सभी उन्नत प्राणियों के हृदयों में रहती है। उसके दुखद परिणामों से भी हम सब परिचित हैं। दिव्यता का अनुभव सबकी नहीं, कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की ही सम्पत्ति है और इसी हेतु उससे उद्भूत आनन्द भी सबके भाग्य की वस्तु नहीं है। जो वस्तु प्रतिदिन सामने आती है, उसे छोड़कर अज्ञात एवं अननुभूत वस्तु की ओर दौड़ लगाना कुछ विरले संस्कार-सम्पन्न साधकों का ही काम है। इसी कारण दुख से दूर रह कर सुख की कामना करते हुए भी, हम अधिकांश निर्वल मानव उधर चलने में असमर्थ हो जाते हैं।

भारतीय ऋषि परमार्थ-प्रिय थे। वे परोक्ष से प्रेम करते थे; प्रत्यक्ष से नहीं। परोक्ष सिद्ध हो गया, तो प्रत्यक्ष अपने आप वन जायगा। अतः वे अन्तर्मुखी वनकर प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर चलते थे। जाग्रत अवस्था के अन्नमय तथा प्राणमय-कोषों को छोड़ कर वे चिति के सहारे स्वप्नावस्था के मनोमय-कोष

और वहाँ से सुषुप्ति अवस्था के आनन्दमय-कोष तक पहुँचते थे। फिर कोष को भी छोड़कर वे तुरीयावस्था की सहज आनन्दरूपता का अनुभव करते थे। प्रत्यक्ष प्रकृति है; माया है; संसार है। परोक्ष आत्मा है; चित् है। प्रत्यक्ष चलायमान है; परिवर्तनशील है—अतः नाशवान है। आत्मा अचल है; शाश्वत है—अतः अविनाशी है। प्रत्यक्ष दुख का हेतु है। आत्मा आनन्द रूप है। आनन्द की कामना सभी को होती है। दुख की इच्छा कोई भी नहीं करता। अतः हमारे साधकों का स्पष्ट रूप से यही मंतव्य था कि मानव के पुरुषार्थ का मुख्य लक्ष्य दुखों से निवृत्ति[1] और आनन्द की प्राप्ति करना है।

आनन्द की यह उपलब्धि अभ्युदय और निःश्रेयस द्विविध रूपवाली है।[2] अभ्युदय प्रवृत्ति-मूलक है और निःश्रेयस निवृत्ति-प्रधान। प्रवृत्ति-मार्ग साधना के क्षेत्र में निष्काम कर्म का द्योतक है। निवृत्ति-पथ में ज्ञान एवं उपासना की प्रधानता है। इस प्रकार भारतीय ऋषियों की साधना—ज्ञान, कर्म एवं उपासना—इन तीनों धाराओं में प्रवाहित होनेवाली त्रिपथगा गंगा के समान है। इन्हीं तीन मार्गों पर चल कर मानव अपने अभीष्ट को प्राप्त करता है। अनेक आचार्यों एवं सन्तों ने एक पथ की सम्पूर्ण उत्तीर्णता को भी अभीष्ट प्राप्ति का साधन माना है, पर सर्वमान्य सिद्धांत यही रहा है कि तीनों मार्गों का समन्वय ही सम्यक सिद्धि का हेतु है। उपनिषदों की सारभूत श्रीमद्भगवद्गीता में भी ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों का विवेचन पाया जाता है, पर प्रधानता उसने निष्काम-कर्म को दी है, जो ज्ञान और उपासना के बिना सम्भव नहीं हो सकता।

ज्ञान बुद्धि से सम्बन्धित है और उपासना श्रद्धा एवं विश्वास पर अवलम्बित है। प्रत्येक कार्य के मूल में इन दोनों का होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार कर्म के लिए ज्ञान और उपासना, बुद्धि और श्रद्धा-विश्वास की आवश्यकता है, उसी प्रकार ज्ञानार्जन के लिए कर्म (तप) और उपासना (श्रद्धा) तथा उपासना के लिए ज्ञान और कर्म अपेक्षित हैं।

उपासना में एवं भक्ति की भूमिका में स्तुति तथा प्रार्थना आते हैं। स्तुति में प्रभु के गुणों का कीर्तन होता है। किसी के गुणों का ज्ञान उसके स्वरूप को समझने में अधिक सहायता देता है। अतः स्तुति, गुण-कीर्तन ज्ञान-कांड के अन्तर्गत है। प्रार्थना में प्रभु से पाप के प्रक्षालन और पुण्य की प्राप्ति के

१— त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। कपिल-सांख्य १—१

२— यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः। कणाद-वैशेषिक १—२

लिये याचना की जाती है। दानवता का दमन और दैवी विभूतियों का विकास कर्म की अपेक्षा रखते हैं। अनवरत कर्म, सतत अभ्यास के द्वारा ही उनकी सिद्धि सम्भव होती है। इस प्रकार अकेली भक्ति भी ज्ञान (स्तुति), कर्म (प्रार्थना) और उपासना की पावन त्रिवेणी के संगम का रूप धारण कर लेती है।

आस्तिक आर्यों की विश्वासी बुद्धि के अनुसार वेद ब्रह्म की वाणी है। उसमें समस्त साधनाओं के, कर्तव्यों के, सूत्र संकलित हैं। ऋग्वेद ऋक् परक अर्थात् स्तुति-प्रधान है। आदिकालीन ब्राह्मण स्तोता थे। ऋग्वेद इन्हीं स्तोताओं की ऋचाओं अर्थात् स्तुतियों से भरा पड़ा है। इन स्तुतियों द्वारा अग्नि, वायु, द्यावा, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, अदिति, ऋत, सत्य, मेघ आदि के गुण-दोषों का विवेचन हुआ और विश्व की नाना प्रकार की शक्तियों के सम्बन्ध में प्रचुर ज्ञान-राशि संचित हो गई। ऋग्वेद को इसीलिये ज्ञान-कांड का वेद कहा जाता है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही श्रेष्टतम कर्म करने का आदेश दिया गया है। यह वेद यजुस् अर्थात् कर्मकांड का वेद है। सामवेद हृदय के रागात्मक अंश से सम्बन्ध रखता है। यह उपासना कांड का वेद है। अथर्ववेद पूर्वोक्त वेदत्रयी से समन्वित होकर एक ओर ब्रह्म-विद्या का प्रकाश करता है तो दूसरी ओर लौकिक ज्ञान का भी भंडार बना हुआ है। इसी हेतु इसे ब्रह्म वेद कहते हैं। देवर्षि पितामह ब्रह्मा ने इस ज्ञान, कर्म और उपासना की त्रिवेणी में स्नान करके मानवों के लिए साधना-क्षेत्र को सुलभ बना दिया।[1]

इस प्रकार साधना का पथ हमारे आदिकालीन साहित्य से ही निःसृत अथवा संबद्ध होकर अनवच्छिन्न रूप से आज तक हमारे साथ चला आया है। इस साधन-पथ की अन्तिम परिणति, चरम सीमा, प्रधान लक्ष्य आत्म-तत्व की प्राप्ति अथवा जीवन के चरम उत्कर्ष, आनन्द की उपलब्धि है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि ने इस अवस्था को भूमा[2] नाम दिया है और केनोपनिषद् के ऋषि ने कहा है:

इहचेदवेदीदथसत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

१—अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थम् ऋग् यजुः साम लक्षणम्॥ मनु० १।२३॥

२— यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छान्दोग्य ७।२३॥

ब्रह्म सूत्र ३-३-४७ के अणुभाष्य, पृष्ठ ११ ३६ पर आचार्य वल्लभ भूमा के सम्बन्ध में लिखते हैं:—"अक्षर पर्यन्तं गणितानन्दत्वात् पुरुषोत्तमस्य एव आनन्दमयत्वेन निरवधि सुखात्मकत्वात् स एव भूमा।"

वहाँ ही यदि इसे प्राप्त कर लिया, तो अच्छा है, नहीं तो महान् विनाश है।

जिस प्रकार वेदत्रयी अथवा ज्ञान, कर्म एवं उपासना का संगम भारतीय-साधना की एक विशेषता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति की समन्विति भी। यह ठीक है कि किसी समय प्रवृत्ति की प्रधानता रही है और किसी समय निवृत्ति की, परन्तु भारतीय-साधकों ने प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति के सामंजस्य को सदैव आदर की दृष्टि से देखा है। उन्होंने अन्दर और बाहर की एकता का अनुभव किया है।[1]

साधना का एक अत्यन्त सामान्य रूप संध्या है, जिसका अर्थ है अपने लक्ष्य, अपने इष्टदेव का सम्यक् प्रकार से ध्यान करना। इस सन्ध्या में भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के समन्वय की ओर साधक की दृष्टि रहती है। वह अंगन्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों को बलवती और यशस्विनी बनाने की प्रार्थना करता है और अभिमार्जन द्वारा उन्हें पवित्र बनाने की भावना में लीन होता है। यही है प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर मोड़ना और निवृत्ति को प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करना। साधना के क्षेत्र में प्रवृत्ति-परायणता एवं निवृत्ति-परायणता जब एक दूसरे में मग्न हो जाती हैं, तो साधक उच्चतम अवस्था में पहुँच जाता है। भारतीय-साधना की यह दूसरी विशेषता है।

भारतीय-साधना की तीसरी विशेषता द्वैत में अद्वैत की स्थिति को हृदयंगम करना है। विश्व में विविध-रूपता दृष्टिगोचर होती है, पर इस विविध-रूपता के अंतस् में गया हुआ एक ही तार इसे एकरूप भी बनाये हुए है। यह एक तार आत्म-तत्त्व है, जो स्वतः आनन्द रूप है। नाना मनोवृत्तियों को धारण करते हुए प्राणी उसी एक तत्त्व की ओर जाने अनजाने चले जा रहे हैं। सबकी आकांक्षा आनन्द रूप बनने की है। सब की भूख इस आनन्द रूप का उपभोग करने के लिए [illegible] हो रही है। सब आनन्दमय बनना चाहते हैं। आनन्द की [illegible] प्रवृत्ति विश्व के नानात्व को एकत्व की ओर प्रेरित कर रही है। [illegible] ने बिना किसी अपवाद के इस विविधरूपता में एकरूपता के [illegible] है। ईशोपनिषद् का ऋषि कहता है:—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्ये वानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ६ ॥

[illegible] । अथर्व० १०।८।१४ ॥
[illegible]
[illegible] में [illegible] । —कबीर

भारतीय-साधना की चौथी विशेषता प्रत्येक साधक की अवस्था के अनुसार उसे साधना में प्रवृत्त करना है। हम सब एक ही परिस्थिति में नहीं हैं। जो प्राणी जिस कोटि, श्रेणी या स्थिति में है, वह उसी स्थिति में रहता हुआ साधना कर सकता है। वृत्त का केन्द्र एक है, पर उसकी परिधि के विन्दु अनेक हैं और वे सब एक-एक सीधी रेखा के द्वारा उससे संयुक्त हो जाते हैं। जो विन्दु जहाँ है, उसे वहाँ से किसी दूसरे विन्दु अथवा उसके मार्ग का उल्लंघन नहीं करना पड़ता। वह सीधे अपने स्थान से चलकर केन्द्र-विन्दु के साथ एक हो जाता है। इसी प्रकार जो प्राणी जिस अवस्था में है, वह वहीं से अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। वेद ने "विश्वाभिःगीर्भिःईमहे"[1] कहकर इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

भारतीय-साधना गुरु की महत्ता को स्वीकार करती है। यह उसकी पाँचवीं विशेषता है। वैसे तो सब गुरुओं का आदि गुरु वह परम–तत्व ही है,[2] जिसे ब्रह्म, ईश्वर, प्रभु, परमात्मा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। पर साधना के क्षेत्र में साधक को उस पथ के चीर्णव्रत, पथक्रान्त, द्रष्टा पथिकों से भी पथ-प्रदर्शन में पर्याप्त सहायता मिल जाती है। पथ तो उसे स्वयं ही पार करना होता है, पर उस पथ को दिखलाने वाला, मार्ग में आनेवाले कंटक रूप विघ्नों से सावधान करने वाला और आवश्यकता पड़ने पर हाथ लगाकर आगे बढ़ाने वाला एक समर्थ पथ-प्रदर्शक चाहिये ही। गुरु का महत्व इसी कारण है। गुरु अविवेकी साधक की आँखों में ज्ञान का अंजन तथा भक्ति का सुरमा लगा कर उसे विवेक-सम्पन्न द्रष्टा बना देता है। वह दीपक हाथ में देकर कहता है—"इसके प्रकाश में आगे बढ़े चलो।" फिर यदि कहीं स्खलन होता है, तो तुरन्त मार्ग पर चलने के लिए खड़ा कर देता है, व्यवधान आने पर समाधान करता है और साधक को उसके गंतव्यस्थल तक पहुँचा देता है।

वास्तव में हम सभी यात्री हैं, पथ के पथिक हैं। जब से अपने घर से पृथक हुये हैं, तब से चल ही रहे हैं और तब तक चलते रहेंगे, जब तक अपने घर फिर नहीं पहुँच जाते। भारतीय साधना हम सब पथिकों को उसी घर तक पहुँचाने का

१—अथर्ववेद २०।१६।३
२—सपूर्वेषामपि गुरुःकालेन अनवच्छेदात्। योग दर्शन, समाधि पाद, सूत्र २६॥

प्रयत्न करती है। वह सत् से चित् और चित् से आनन्द की ओर ले जाने वाली है।[1]

तैत्तिरीय उपनिषद का ऋषि कहता है: "आनन्दाद्धि खलु इमानि भूतानि जायन्ते।"[2] आनन्द रूप उस महाचिति से ही हम पृथक हुये थे—पृथक होने के पश्चात् उत्तम, मध्यम, अधम आदि अनेक आवरणों में उलझते गये। भारतीय साधना इन समस्त आवरणों को चीरती हुई, दुखों से दूर करती हुई, साधकों को आनन्द रूप अवस्था तक पहुँचा देती है। यह आनन्द रूप अवस्था ही परम धाम है, गुह्यतम गति है, तत्वों का तत्व है—वह परोक्ष तार है जो प्रत्यक्ष की विविधता में व्याप्त है। भारतीय ऋषियों, मनीषियों, साधकों के चिन्तन, मनन और भजन का यही केन्द्र-बिन्दु है। यही उत् से उत्तर और उत्तर से उत्तम ज्योति है, जिसे हम पथिकों को प्राप्त करना है। यही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय, अचल और अविनाशी परम आत्म-तत्व है। वेद इसी की व्याख्या में संलग्न हैं। तपस्वी इसी के लिये तप करते हैं। वीतराग यतियों की यही विश्राम भूमि है। ब्रह्मचारी इसी की कामना करते हैं। यही सबसे श्रेष्ठ, सबसे ज्येष्ठ और सबसे श्रेष्ठ अक्षर ब्रह्म है। भारतीय साधना का यही चरम लक्ष्य है।

१— असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योः माऽमृतं गमय। यहाँ सत् पर पहुँच कर साधक रुक नहीं जाता, वह ज्योति-चित्-ज्ञान की ओर तथा अन्त में अमृत— आनन्द की प्राप्ति की ओर भी अपनी निश्चित गति रखता है।

२— तैत्तिरीय उपनिषद, भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक।

साधना के प्रकार

आनन्दावस्था तक पहुँचने और मृत भूमिका से हटकर अमृत-भूमिका को प्राप्त करने के लिए कठोपनिषद के ऋषि ने मन और इन्द्रियों की स्थिर धारणा को अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। साधारणतया इन्द्रियाँ बाहर को दौड़ती हैं, विविध कामनाओं में अनुरक्त होती हैं। उनकी इस अनुरक्ति और आसक्ति को समाप्त कर उन्हें अन्तर्मुखी कर देना और बाह्य-सम्पर्क-जन्य ग्रन्थि को नष्ट कर डालना ही अमरत्व की ओर प्रयाण करना है। इस अवस्था के सम्पादन के लिए हमारे देश में कई प्रकार की साधनायें प्रचलित हुईं। ये साधनायें विभिन्न रूपा हैं, पर इनका अवसान एक ही स्थिति में होता है। इस स्थिति को परम गति कहा गया है।

पीछे हम ज्ञान, कर्म एवं उपासना रूपी त्रिविध पथ का निर्देश कर चुके हैं। अतः जितनी साधनायें हमारे यहाँ प्रचलित हुईं, वे इन्हीं तीनों का सम्मिश्रित या विकसित रूप हैं। स्थूल रूप से हम इन्हें नीचे लिखे वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:—

१—ज्ञान प्रधान।

२—कर्म प्रधान।

३—भाव प्रधान।

४—ज्ञान और कर्म प्रधान (जिसमें भक्ति भी सम्मिलित है)।

गीता के नीचे लिखे श्लोक में दो साधन मार्गों का वर्णन है:—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३-३

इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा है : एक ज्ञान योग द्वारा सांख्यों की और दूसरी कर्म योग द्वारा योगियों की। इस प्रकार ज्ञान योग और कर्म योग दो साधन-मार्ग गीता में उपदिष्ट किए गए हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि कर्म-योग से चित्त-शुद्धि होती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तो साधक ज्ञान-योग

पर आरूढ़ होकर अपने लक्ष्य "द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्" को प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान का क्रम-समुच्चय होना चाहिये। परन्तु वेद ने कई स्थानों पर ज्ञान और कर्म के सह-समुच्चय को महत्व दिया है। जैसे 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह।' तथा 'विद्याञ्चाविद्यांच यस्तद्वेदोभय ँ सह।' अर्थात् जो ब्रह्म और क्षत्र, विद्या और अविद्या, ज्ञान और कर्म को साथ-साथ लेकर चलता है, वही कल्याण प्राप्त करता है। जैसे पक्षी दोनों पंखों के सहारे आकाश में उड़ता है, एक पंख से नहीं उड़ सकता, वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनों की सहायता से ब्रह्म-प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवत में त्रिविध साधन-पथ का वर्णन है। भगवान उद्धव से कहते हैं:—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ११।२०।६॥

मनुष्यों के कल्याणार्थ तीन योगों का मैंने उपदेश दिया है। यह तीन योग हैं : ज्ञान, कर्म और भक्ति। इन तीन के अतिरिक्त कल्याण का अन्य कोई उपाय नहीं है। यहाँ गीता के द्विविध योग के स्थान पर त्रिविध योग का वर्णन है, जिसमें भक्ति-योग का समावेश अधिक है। गीता भी भक्ति-योग को पृथक नहीं करती। वह ज्ञान और कर्म में ही इसका समावेश कर लेती है। साधन-भक्ति कर्म के अन्तर्गत आ जाती है और साध्य भक्ति-ज्ञान के।[1] साध्य-भक्ति को ही परा-भक्ति कहा गया है।

ज्ञान-प्रधान सांख्य मार्ग में तत्व दर्शन की महत्ता है। किसी वस्तु का तात्विक ज्ञान उसके स्वरूप का दर्शन करा देता है। वस्तु का स्वरूप दर्शन ही अभीष्ट है। जब तक वस्तु का तात्विक ज्ञान नहीं होता, तभी तक मन उसके ग्रहण और त्याग के सम्बन्ध में चंचल रहता है। स्वरूप दर्शन होते ही वह स्थिर हो जाता है। सांख्यकारिकाकार ने ६७वीं और ६८वीं कारिका में इसी तथ्य का उद्घाटन किया है।[2] अद्वैतवादियों में तो 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' ज्ञान के

१—ये ज्ञानार्थाः ते प्राप्यर्थाः। साध्य वस्तु प्राप्य होती है।

२—सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कार वशाच्चक्रभ्रमिवद् धृत शरीरः ॥ ६७ ॥
प्राप्ते शरीर भेदे चरितार्थत्वात् प्रधान विनिवृत्ते।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

जिसका कोई अंत नहीं, [illegible] है। गीता के चौथे [illegible] श्लोकों में इस तत्त्व की व्याख्या की गई है:-

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥४।३३॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥४।३६॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ॥४।३७॥
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥४।३९॥

समस्त कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है। ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान रूपी नाव के द्वारा मनुष्य पाप रूपी सरिता को पार कर जाता है। ज्ञान प्राप्त करके ही परम शान्ति उपलब्ध होती है।

हमारे षड्दर्शनकार इसी कारण तत्वों की तात्त्विक मीमांसा में संलग्न हुए। उन्होंने दुःख, बंध, मुक्ति और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य शंकर ने साधना के क्षेत्र में ज्ञान-मार्ग को ही प्रधानता दी है। उनके मतानुसार दुःख का मूल कारण अज्ञान है। अतः ज्ञान के उदय होते ही आनन्द का आविर्भाव होने लगता है। मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय खंड, द्वितीय मुण्डक के ८वें श्लोक में लिखा है:—

भिद्यते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

उस परात्पर परब्रह्म को तत्व दृष्टि से ज्ञान होने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय कट जाते हैं और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं। अष्टांग योग में धारणा, ध्यान और समाधि का एक होना संयम कहलाता है। इस संयम के सिद्ध हो जाने पर प्रज्ञा अर्थात् सर्वोत्तम ज्ञान का प्रकाश होता है। आर्य संस्कृति ने ज्ञान का कभी तिरस्कार नहीं किया। उसके ऋषि सदैव यही कहते रहे हैं: 'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'। इसी कारण आस्तिक, नास्तिक आदि विभिन्न विचार धारायें उसके अन्दर पनपतीं रहीं। ज्ञान के विकास एवं विवर्धन में उसने कभी अवरोध उपस्थित नहीं किया। विश्व का विशाल वाङ्मय ज्ञानकांड का ही फल है।

ज्ञान दो प्रकार का है: शाब्द-बोध और स्वरूप-बोध। कोरे शाब्द-बोध का आर्य संस्कृति तथा भारतीय साधना में कोई महत्व नहीं है। गरुड़ पुराण, उत्तर खंड, द्वितीयांश धर्मकांड के अध्याय ४९ में लिखा है:

संसार मोह नाशाय शाब्द बोधो न हि क्षमः ।
न निवर्तेत तिमिरं कदाचिद्दीप वार्तया ॥८१॥
प्रज्ञा हीनस्य पठनं यथान्धस्य च दर्पणम् ।
अतः प्रज्ञावतां शास्त्रं तत्वज्ञानस्य लक्षणम् ॥८३॥
अनेकानि च शास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्न कोटयः ।
तस्मात् सारं विजानीयात् क्षीरं हंसमिवाम्भसि ॥८४॥

केवल शाब्दिक ज्ञान सांसारिक मोह के नाश करने में असमर्थ है, जब तक उसके द्वारा अर्थ का स्वरूप-बोध नहीं हो जाता । दीपक दीपक चिल्लाने से क्या अंधकार नष्ट हो जायगा ? स्वरूप बोध के लिए अन्तःप्रज्ञा का होना अत्यन्त आवश्यक है । प्रज्ञा-विहीन व्यक्ति के लिए पठन-पाठन अन्धे के लिये दर्पण के समान है । फिर शास्त्र इतने अधिक हैं, वांङ्मय इतना विस्तृत है कि उनका अध्ययन अनेक विघ्नों से भरे हुए इस स्वल्प जीवन में तो हो नहीं सकता । अतः जैसे हंस जल में से दूध को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही साधक को सार-तत्व ग्रहण कर लेना चाहिये । जब वह प्राप्त हो जाय, तो शास्त्रों से चिपटे रहना व्यर्थ है । इसी कारण केवल वेद का अध्ययन अथवा शास्त्र का पठन साधना के क्षेत्र में निरर्थक हो जाता है । साधना का प्रमुख लक्ष्य मुक्ति है । जो [illegible] मुक्ति का साधक न बन सके, उसके करने से क्या लाभ ? जो विद्या मोक्ष न [illegible], उसके पढ़ने से क्या प्रयोजन ? तत्व ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, अद्वैत [illegible] की कोरी मान्यता नहीं । जिसने द्वैताद्वैत-विवर्जित समतत्व को जान लिया, शब्द-बोध में स्वरूप-बोध प्राप्त कर लिया, वही मुक्ति का अधि-कारी है । [illegible] पुराण का रचयिता कहता है:—

न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्र पठनादपि ।
ज्ञानादेव हि कैवल्यं नान्यथा विनतात्मज ॥८७॥

[illegible] होने पर मानव के मानवत्व की सार्थकता है । [illegible] पशु के समान है । परम तत्व का न जानने वाला वेददर्शनादि का [illegible] । जैसे दर्वी (करछुल) पाकरस में पड़ी हुई भी [illegible], इसी प्रकार वेद शास्त्रों में डूबा हुआ भी मानव [illegible] में [illegible] है ।

[illegible] गीता के अनुसार निष्काम बुद्धि से अपने कर्तव्य [illegible] । [illegible] कर्मणि [illegible] संसिद्धिं लभते नरः—" [illegible] । [illegible] गीता ने कर्म-संन्यास को, निवृत्ति-

[illegible] कहा जाता है।

वैदिक (पौराणिक एवं आगमिक) अर्थात् धर्म के परिनिष्ठित विशुद्ध साधना की दृष्टि से कर्म-प्रधान साधना दो प्रकार की है: मानसिक और शारीरिक। मानसिक साधना के भी दो भेद किये जा सकते हैं। (१) मंत्र-योग या नाद-योग और (२) ध्यान-योग।[1]

मंत्र-योग—मन का त्राण करने वाला ही मंत्र है। कुछ मंत्र सिद्ध होते हैं, कुछ साधारण। सिद्ध मंत्रों में पूर्ण शक्ति होती है। वे शिष्य को प्राप्त होते ही अपनी शक्ति का परिचय देने लगते हैं। साधारण मंत्रों को शक्तिमान् बनाने के लिये विशेष अनुष्ठान करने पड़ते हैं। पुस्तकों में लिखे मन्त्र शक्ति-रहित होते हैं। जो मन्त्र गुरु से श्रद्धा और विधिपूर्वक ग्रहण किया जाता है, वही कार्य करता है।

मन्त्रजाप का मुख्य उद्देश्य शक्तियों को अन्तर्मुख करना है। गीता ने 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' कह कर जप को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कह दिया है। जप द्वारा नाम के सहारे नामी तक पहुंचा जाता है। जप पूर्व संकल्पों के बल को क्षीण करके अनुकूल संकल्पों को उत्पन्न करता है। जप से मन में दिव्य आनन्द का संचार होने लगता है।

वैज्ञानिक क्रम में परमात्मा से भाव और भाव से नामरूपात्मक जगत की सृष्टि हुई है। विलीनीकरण में यह क्रम विपरीत हो जाता[2] है, अर्थात् नाम-रूप भाव में और भाव परमात्मा में लय को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार चित्त-

१— कूर्म पुराण, उत्तरार्ध, अध्याय ४, श्लोक २४ में ध्यान योग को ज्ञान, कर्म और भक्तियोग से स्वतंत्र एवं पृथक साधन माना गया है; जैसे:
ध्यानेन मां पश्यन्ति केचिज्ज्ञानेन चापरे।
अपरे भक्ति योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
२— ब्रह्मसूत्र २-३-१४ के अणुभाष्य पृष्ठ ६६६ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—
"यथोत्पत्तिर्न तथा प्रलयः। किन्तु विपर्ययेण क्रमः।...प्रवेशो विपर्ययेण हि निर्गमनम्॥

वृत्ति को नाम-रूप के सहारे भाव में, फिर भाव के सहारे परमात्मा में लीन करने का ही नाम मन्त्र-योग है। मन्त्र-योग के साथ लय-योग लगा हुआ है और वह भक्ति-योग का भी एक अंग है।

वैदिक संस्कृति में मन्त्रों का महत्व सर्वाधिक है। गायत्री मन्त्र वेद का सर्वश्रेष्ट मन्त्र कहलाता है। देवी भागवत में लिखा है :

सर्ववेद सारभूता, गायत्र्यास्तु समर्चना।
ब्रह्मादयोऽपि संध्यायाम्, तां ध्यायन्ति जपन्ति च॥११।१६।१५

गायत्री समस्त वेदों का सार है। ब्रह्मादिक देवता संध्या में इसी का ध्यान और जप करते हैं। जैसे फूलों का सार मधु, दूध का सार घृत और वनस्पतियों का सार रस है, वैसे ही सब मन्त्रों का सार गायत्री है।[1] गायत्री का भी सार तीन महा व्याहृतियाँ (भूः, भुवः, स्वः) और महा व्याहृतियों का भी सार ॐ है। इसीलिये वेद ने 'ॐ क्रतोस्मर' तथा उपनिषदों ने 'ॐ इति उद्गीथमुपासीत', 'ॐ इति आत्मानम् युंजीत,' 'ॐ इति ब्रह्म'—आदि वाक्यों द्वारा ॐ की उपासना का और जाप का उपदेश किया है। पौराणिक युग में मन्त्र-योग का नाद-योग के रूप में और भी अधिक विकास हुआ। हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में नाम स्मरण या जप ने सभी कवियों को प्रभावित किया। विधि-विधानों का खंडन करने वाले कवीर और वैदिक मर्यादा के प्रवल समर्थक तुलसीदास—दोनों नाम स्मरण को महत्वपूर्ण साधना मानते हैं।

श्वासोच्छ्वास के साथ मन्त्र का सम्वन्ध जोड़ देने से अजपाजाप होने लगता है। दिन रात में २१६०० वार जो श्वास-प्रश्वास चलता है, उसके साथ सोऽहं का जाप निरन्तर होता रहता है। इसी सोऽहं का उल्टा हंसः है। यदि इसे स्मरण का केन्द्र बना दिया जाय, तो चित्त अपने आप स्थिर हो जाता है।

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र १-१-२४ के अणुभाष्य पृष्ठ २५१ में गायत्री के सम्बन्ध में लिखते हैं :—"गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किञ्च।" उसी के आगे पृष्ठ २५२ पर लिखते हैं—"एतेन सर्वा मन्त्रोपासना व्याख्याता:।" "[illegible] सूत्र प्रयोजनतया गायत्री द्वारा बुद्धिस्तत्प्रतिपाद्ये ब्रह्मणि [illegible]।"

ध्यान योग—इसी का दूसरा नाम राज-योग है। गीता में[1] ध्यानयोगी को एकान्त में अकेले ही स्थित हो, सब प्रकार की आशा और परिग्रह-भावना का परित्याग करके, शरीर और मन का निग्रह करते हुए, निरन्तर योग का अभ्यास करने का आदेश है। इस प्रकार सर्वदा योग-साधन में लगा हुआ वह पापहीन योगी सुगमता से ब्रह्म-साक्षात्कार रूप अत्यन्त उत्कृष्ट सुख को प्राप्त कर लेता है। (गीता ६।१०, २८, २६) श्रीमद्भागवत, माहात्म्य प्रकरण, अध्याय १, श्लोक ७३ और ७४ में ध्यान-योग के लिये मन का संयम, लोभ, दंभ, पाखंड से वञ्चना और शास्त्रों का अभ्यास करना परमावश्यक माना गया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद के द्वितीय अध्याय में प्राणायाम को ध्यान-योग की साधना में सहायक कहा गया है। ध्यान के लिये उपयुक्त स्थानों का भी इसमें निर्देश है। जो समतल, पवित्र, शर्करा (अग्नि और बालू) से रहित, शब्द, जल और आश्रय आदि की दृष्टि से अनुकूल तथा नेत्रों को पीड़ा न देने वाला हो, ऐसे गुहा आदि वायु-शून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिये। (२।६, १०)

इसी उपनिषद् में ध्यान-योग की विधि इस प्रकार वर्णित है ?

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्यान निर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥१।१४॥

ध्यान योगी को चाहिये कि वह अपने शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बना कर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन करे और अपने ही अन्दर छिपी हुई अग्नि की भाँति परम देव परमेश्वर को देखे। जैसे तिलों में तेल और दही में घी छिपा रहता है, वैसे ही परमात्मा अपने अन्दर छिपा है।

श्वेताश्वतर उपनिषदकार लिखता है कि जब ब्रह्मवेत्ताओं ने प्रमाणान्तर से ज्ञात न होने वाले उस मूल तत्व के विषय में अन्य किसी उपाय की गति न देखी, तो ध्यान योग के अनुशीलन द्वारा उस परम मूल कारण का स्वयं साक्षात्कार किया:

१— गीता (१३-२४) में ध्यान-योग को विशिष्ट रूप से स्पष्टतया स्वीकार किया गया है :—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचित् आत्मा नमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्
देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधि तिष्ठत्येकः ॥१।३॥

किसी स्थान पर चित्त को एकाग्र करना ही ध्यान है। यह तीन प्रकार का है: स्थूल-ध्यान, ज्योति-ध्यान और सूक्ष्म-ध्यान। किसी बिन्दु आदि पर समस्त वृत्तियों को एकाग्र कर देना, स्थूल-ध्यान है। चन्द्र आदि ज्योतियों पर ध्यान जमाना ज्योति-ध्यान है और सूक्ष्म ब्रह्म में ध्यान को केन्द्रित कर देना सूक्ष्म ध्यान है। सूक्ष्म ध्यान को साधकों ने कठिन बतलाया है।[1] यह दूर से भी दूर, अति दूर है और देवताओं को भी दुर्लभ है।

शारीरिक साधना—इसमें हठ योग की प्रधानता है। हठ शब्द के 'ह' अक्षर का अर्थ है सूर्य और 'ठ' का अर्थ है चन्द्र। इन्हीं को प्राण और अपान भी कहते हैं। अतः हठ-योग प्राण एवं अपान के योग का नाम है। हठ-योग संबंधी शारीरिक क्रियाओं द्वारा सुप्त शक्ति-केन्द्र या कुंडलिनी शक्ति को जगाया जाता है। इसी कारण इसे महा कुंडलिनी योग भी कहते हैं। वैसे हठयोग से शरीर की शुद्धि भी होती है और शरीर की सुप्त शक्तियों का जागरण भी।

शरीर की शुद्धि धौति, वस्ति, नेति, नौलिकी या नौली, त्राटक और कपाल भाँति—इन ६ कर्मों से होती है। शारीरिक शुद्धि का उद्देश्य नाड़ी शुद्धि है। नाड़ी शुद्धि के पश्चात् आसन को दृढ करते हुए प्राणायाम किया जाता है। नाड़ियों में सुषुम्ना नाड़ी महत्वपूर्ण है। हठ योगी इसीसे सिद्धि प्राप्त करता है। इसीके निम्न मुख में कुण्डलिनी सर्पाकार निवास करती है। जैसे ताली से ताला खोलकर भीतर प्रवेश किया जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी-प्रबोध से ब्रह्म-द्वार में प्रवेश करना होता है। तत्व-ज्ञान की उपलब्धि इसीसे होती है।

हठ योग में आसन को बीज, प्राणायाम को मूल, नित्य अभ्यास को [illegible], [illegible] को फूल और एकाग्रता को फल कहते हैं। इसमें मुद्राओं का भी [illegible] और लिखा है:

नास्ति मुद्रासमं काचित् सिद्धिदा क्षिति मण्डले।

[illegible] के समान पृथ्वी मण्डल पर अन्य कोई भी सिद्धि-प्रदायिनी शक्ति [illegible]। [illegible], [illegible], [illegible] आदि मुद्राओं द्वारा मन की गति का

१ [illegible] देवानामपि दुर्लभम्।

अवरोध करके उसे आत्मा में लीन किया जाता है और कंठ-कूप में जिह्वा द्वारा अमृतस्राव का पान होता है जो योगी को अमर बना देता है। हठयोग का नाथ पंथियों ने अधिक प्रचार किया।

अष्टांग योग—महर्षि पतंजलि ने अपने योगदर्शन में इसका विशद वर्णन किया है। योग के विषय में यही सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ है। अष्टांगयोग में अन्य सभी प्रकार के योगों तथा साधनाओं का समावेश है। हठयोग, राजयोग (ध्यानयोग), मन्त्रयोग तथा भक्तियोग—सभी की प्रमुख विशेषताएँ इसमें विद्यमान हैं। यह कोई संकीर्ण योगपद्धति नहीं है। समस्त योग प्रणालियाँ तथा साधन-सम्प्रदाय इसके विशालरूप के अन्तर्गत आ जाते हैं। अष्टांगयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन आठ साधनों की गणना होती है। इनमें प्रथम पाँच बाह्य तथा अन्तिम तीन अन्तरंग साधन कहलाते हैं।

अष्टांग योग का मुख्य लक्ष्य चित्त की वृत्तियों को रोकना है। वृत्तियों के रुक जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है। वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं: प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। अभ्यास ऐसे यत्न का नाम है जो चित्त को परमात्मा में स्थिर करने के लिए किया जाता है। जिस संयम द्वारा तृष्णाओं को छोड़ दिया जाता है, वह वैराग्य है। परमात्मा क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से अपरामृष्ट (न छुआ हुआ) पुरुष विशेष (जीव से पृथक) है। वह गुरुओं का गुरु है। ओ३म् उसका नाम है। ओ३म् का जाप और उसके अर्थ का चिन्तन करना भक्ति है। इस जाप तथा चिन्तन से आत्म ज्ञान होता है और विघ्न दूर हो जाते हैं।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति—तीनों मिल कर कर्मयोग कहलाते हैं। क्लेश पाँच हैं: अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु-भय)। इनमें अविद्या पर ही अन्य क्लेश निर्भर हैं। क्लेशों का कारण द्रष्टा और दृश्य, आत्मा और संसार का संयोग है। इस संयोग का कारण भी अविद्या है। स्थिर विवेक (ज्ञान) क्लेशों से छूटने का उपाय है। योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि नष्ट हो जाती है और ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है।

आठ अंगों में यम सामाजिक तथा नियम व्यक्तिगत उन्नति के कारण हैं। यम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का नाम है। नियम शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को कहते हैं। आसन स्थिर,

सुख-पूर्वक बैठना है। प्राणायाम बाह्य वृत्ति, आभ्यंतर वृत्ति और स्तंभ वृत्ति तीन प्रकार का होता है। अपने विषयों के साथ संबंध न रहने से इन्द्रियों का चित्त-स्वरूप-सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

चित्त का किसी एक देश में बाँधना धारणा है। इस देश (स्थान) में वृत्ति की एकाग्रता, मन का निर्विषय हो जाना, ध्यान है और जब ध्यान में केवल अर्थ (ईश्वर) भासता है, अपना स्वरूप शून्य हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं।

अष्टांग योग का जो ऊपर संक्षेप में विवरण दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों का योग है। बौद्ध युग के आस-पास जो अन्य साधना-मार्ग इन्हीं तीनों के स्वरूप से विकसित हुए, उनके भी सूक्ष्म अंश इसमें विद्यमान हैं। अष्टांग योग ने सभी साधकों को आकर्षित किया है।

भाव प्रधान—यह साधना भक्तिमार्ग के नाम से प्रख्यात है। भक्ति-मार्ग श्रद्धा—विश्वास का मार्ग है। यही वह मार्ग है जो चैतन्य तत्व तक सीधे पहुँचा देता है। मन को चैतन्य तत्व के साथ सम्बद्ध करने के लिए श्रद्धा-भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ साधन नहीं है।[1] लोभ, बल आदि के बन्धन

१—गीताकार ने भी नीचे उद्धृत श्लोकों में कुछ साधनों को अन्य साधनों की अपेक्षा सुगम बताया है:

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागः त्यागात् शान्तिरनंतरम् ॥ १२ ॥

अध्याय १२

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं: प्रभु में मन और बुद्धि को लगादो। यदि यह कठिन प्रतीत हो, तो अभ्यास योग से प्रभु-प्राप्ति की इच्छा करो। अभ्यास

शेष अगामी पृष्ट पर

अत्यन्त निकृष्ट कोटि के हैं और स्थायी भी नहीं हैं। एक प्रेम का बन्धन ही सर्वोपरि है। [२] कृष्ण को यशोदा ने इसी बन्धन में बाँधा था। भक्ति जीवन-पथ का ध्रुवतारा है जो उसे प्रेरणा देता रहता है। आत्म तत्व को अनुभव करने का यही एकमात्र सुन्दर उपाय है। भागवत, ११।२०।८ में लिखा है:

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

जो न वैरागी है, न कामनाओं में अत्यन्त आसक्त, उसके लिए भक्ति योग ही सिद्धि-प्रदायक है। सामान्य जनता इसी प्रकार की होती है। यह कारण है कि मानव हृदय पर इस भक्तियोग ने प्रारम्भ से ही अपना आधिपत्य स्थापित किया है। इसमें प्रपत्ति अथवा शरणागति की प्रधानता है। आत अनन्य भाव से, भक्ति के पथ में, परमात्मा के सामने आत्म-समर्पण कर दे है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की पहली अवस्था जिज्ञासा, दूसरी मम और तीसरी एकता की है। जिज्ञासा में प्रभु कुछ है, कौन है, कैसा है—आ बातें आती हैं। ममत्व में उसके साथ घनिष्ठता (Communion) बढ़ती है वह मेरा है, मैं उसका हूँ—यह भाव भक्त को प्रभु के समीप ले जाता है एकता (Union) में भक्त भगवान में डूब कर एक हो जाता है। संसार इस भाव को प्रकट करने के लिए सबसे सुगम और प्रभावोत्पादक उप पति-पत्नी का है। भक्ति के क्षेत्र में इसी कारण मधुर भाव, शृङ्गार प्राधान्य रहा है।

गत पृष्ठ की शेष पाद-टिप्पणी

करने की भी शक्ति न हो, तो इस बुद्धि से कार्य करो कि तुम जो कुछ करते हो, प्रभु के लिए करते हो। यदि ऐसा भी न कर सको, तो प्रभु की में पहुँच कर और फल की आशा छोड़ कर कर्म करते रहो। अभ्यास से श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी कर्मफल का त्याग श्रे इसीसे शान्ति प्राप्त होती है। यहाँ भी गीताकार ने कर्मफल-त्याग के सा णागति को संयुक्त कर दिया है। भक्ति के विकास में हम यह दिखाने का करेंगे कि गीता दबी ज़बान में भक्ति को अन्य साधनों की अपेक्षा उच्च के लिए उद्योगशील है।

२—भागवत, दशम स्कंध, उत्तरार्द्ध ११–२५ (६०–२५) के सुबोधिनी में आचार्य वल्लभ लिखते हैं: "प्रेमैव बन्धनम् इति भगवत्प्रेम्णै बद्धा तिष्ठति।"

इन्द्रं मित्रम् वरुणमग्नि माहु
रथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वान माहुः ॥ ऋ० १।१६४।४६।

अर्थात् वह उपासनीय, भजनीय, वरणीय प्रभु एक है, पर विद्वान उसे अनेक नामों से पुकारते हैं। अतः इन्द्र, यम, वरुण आदि अनेक देवताओं के नाम नहीं हैं, प्रत्युत एक ही ईश्वर के अनेक गुण और शक्तियों को प्रकट करने वाले अनेक नाम हैं। सन्त परम्परा में यह तथ्य आज तक चला आया है और हिन्दी के कबीर, सूर, तुलसी आदि सभी भक्त कवियों ने इसका अनुभूतिपरक उल्लेख किया है।

यही क्यों, भक्ति सम्बन्धी जो भावोद्‌गार वैदिक ऋषियों के कंठों से फूट कर निकले, वे काल के अजस्र प्रवाह में प्रवाहित होते हुए हमारे मध्ययुगीन भक्त कवियों तक ज्यों के त्यों चले आये और आज भी उनका अवलम्बन लेकर हमारे अशान्त, व्यथित एवं व्याकुल हृदय शान्ति का अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिए हम कुछ वेद मन्त्र नीचे उद्धृत करते हैं। इन मन्त्रों में कहीं आत्म-निवेदन है, कहीं विनय है, कहीं विरह-पीड़ा है, कहीं घर पहुँचने की अभिलाषा है, कहीं अपना दैन्य और साधन-अक्षमता है, कहीं विचारणा, व्याकुलता और पश्चात्ताप की भावनायें हैं, कहीं प्रभु की उदारता, क्षमता, सुन्दरता, शरणागत-भक्तवत्सलता और तज्जन्य आश्वासन है, कहीं अपने पापों का स्मरण, कहीं उद्‌बोधन और कहीं समर्पण है। वैष्णव आचार्यों ने भक्ति का जो गहन विवेचन बाद में किया है, उसकी समग्र पृष्ठभूमि वेद के इन मन्त्रों में उपस्थित है। नीचे लिखे मन्त्र में प्रभु की कृपा, भक्तवत्सलता और सर्व समर्थता का वर्णन है:

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिपक्ति विश्वं यत्तुरम्।
प्रेमन्धः ख्यत् निः श्रोणोऽभूत् ॥ ऋ० ८।१६।२।

अर्थ— प्रभु नंगे, दीन, हीन व्यक्ति को वस्त्रों से आच्छादित कर देते हैं, व्यथित एवं आतुर प्राणी को भेषज देकर रोगमुक्त कर देते हैं। अंधा उन्हीं की कृपा से देखने लगता है और लँगड़ा लूला चलने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

मेरे सोम नग्नजन को तुम अच्छादित कर देते हो।
आतुर व्यथित रुग्ण प्राणी के कष्ट सकल हर लेते हो॥

लेता है और दुस्तर, अनुल्लंघनीय सिंधु गौ के खुर के समान सुगमता से पार होने योग्य बन जाता है।

वेद ने प्रभु को अनेक स्थानों पर वृषभं चर्षणीनाम्, वृषव्रत् तथा वृष कहकर पुकारा है, जिसका अर्थ यह है कि प्रभु अपने भक्त की कामनाओं को सफल करने वाले हैं। सफलता की वर्षा करना, कामनाओं को पूर्ण करना, भक्त को सुख देना, भगवान का व्रत है, नियम है, विरुद है, बाना या स्वभाव है। गीता के शब्दों में कल्याण-पथ पर चलने वाला मानव कभी दुर्गति में नहीं पड़ता। जो अनन्य चित्त से प्रभु की उपासना करते हैं, उनके योग-क्षेम का भार प्रभु पर रहता है।[1]

प्रभु हारिल की लकड़ी हैं, अंधे की लाठी हैं, बूढ़े थके-माँदे प्राणी का अवलम्बन हैं, यह भाव ऋग् वेद के ८-४५-२०वें मन्त्र में इस प्रकार वर्णित है:—

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते !
उश्मसि त्वा सधस्थ आ।

हे बलों के स्वामी, शक्ति के भण्डार, जैसे वृद्ध पुरुष डण्डे के सहारे चलता है, वैसे ही मैंने आपका अवलम्बन ग्रहण कर लिया है और मैं चाहता हूँ कि अब तुम सदैव मेरे सामने ही बने रहो।

भ्रमरगीत के अन्दर सूर ने इसी भाव का अन्य प्रकार से उल्लेख किया है—

हमारे हरि हारिल की लकड़ी।
मन-क्रम वचन नन्द नन्दन उर यह दृढ़ करि पकरी।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि कान्ह कान्ह जकरी।
सुनत योग लागत हमें ऐसो ज्यों करुई ककरी।
सुतौ व्याधि हमकों लै आये देखी सुनी न करी।
यह तो 'सूर' ताहि लै सौंपो जिनके मन चकरी।

द०। पृ० सं० ७०३, सूरसागर वेंकटेश्वर प्रेस सं० १९६१। ना०प्र०स० ४६०६

वेद तथा सूर दोनों के शब्दों में भक्त को केवल प्रभु का अवलम्बन है और चाहे दिन हो या रात्रि, स्वप्न की अवस्था हो या जाग्रत अवस्था, सभी कालों और सभी अवस्थाओं में अपने प्रभु को सामने ही देखना चाहता है।

१—न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥६।४०
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥९-२२॥ गीता

अब भक्ति-क्षेत्र की कुछ अन्य भावनाओं को देखिए—

विचारणा

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुः वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ॥

ऋ० ६।९।६

अर्थ—मेरे कान इधर-उधर भागते हैं। आँखे इधर-उधर देखने लगती हैं। हृदय में स्थापित ज्योति (चेतनता) आँख और कान के बन्द रहने पर भी इधर-उधर घूमती है। मेरा मन दूर-दूर तक चिन्ता के विषयों में विचरण करता है। हे प्रभो! फिर मैं क्या बोलूँ और कैसे विचार करूँ?

पश्चाताप

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वां आगांसि कृणवत् सखाते।
मा न एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥

ऋ० ७।८८।६

अर्थ—हे प्रभु! मैं तेरा सदा का बन्धु और साथी हूँ। पर, हाय! तेरा प्रिय होकर भी मैं कितने अपराध किया करता हूँ? हे पूज्यदेव! मैं पाप करते हुए भोग न भोगूं। मुझ स्तुति कर्ता को अपनी शरण में रखो।

उद्‌बोधन

न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्याः चासुतृप उक्थ शासश्चरन्ति ॥

यजु० १७।३१

अर्थ—हे मनुष्यो! क्या तुम उसे नहीं जानते, जिसने इन सबको उत्पन्न किया है? अरे तुम कुछ और ही हो गये हो। तुम में और प्रभु में बहुत अन्तर पड़ गया है। अज्ञान के कुहरे से ढके हुए, केवल अपनी प्राण-तृप्ति में मग्न और प्रलापी बनकर तुम क्यों व्यर्थ मार्गों में भटक रहे हो?

व्याकुलता

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णा विदज्जरितारम्।
मृडय सुक्षत्र मृडय ॥ ऋ० ७।८९।४

अर्थ—हे शक्तिशाली प्रभु! मैं प्यासा मर रहा हूँ। चारों ओर से मुझे जल की धारायें घेरे हुए हैं, मैं उनके बीच में बैठा हूँ, फिर भी पिपासा से व्याकुल हो रहा हूँ। हे देव! दया करो!! रक्षा करो!!!

सन्त कबीर ने इसी भाव को लेकर यह गीत लिखा है :—

पानी में मीन प्यासी।
मोहि देखत लागे हांसी॥

सुखसागर नित भरो ही रहत है, पल पल रहत निरासी॥
कस्तूरी बन में मृग खोजत, सूंघि फिरत बहु घासी।
आत्मज्ञान विनु नर भटकत है कोई मथुरा कोई कासी॥

इत्यादि

अभिलाषा

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ ऋ० ८।४४।२३

अर्थ—हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! तेरे आशीर्वाद यहाँ सत्य हों। या तो मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जा।

विनय

इमम्मे वरुण श्रुधि हवमद्या च मृडय। त्वा मवस्युराचके॥

ऋ० १।२५।१६

अर्थ—हे सर्वश्रेष्ठ, वरणीय देव! मेरी इस विनय को सुनो और मुझे सुखी कर दो। रक्षा की कामना लिए हुए आज मैं तुमसे यही प्रार्थना कर रहा हूं।

प्रभु की विशाल भुजायें हम सबकी रक्षा करने के लिए फैली हुई हैं। उसकी शरण बृहत् है, महान् है। जिसने उसकी शरण ग्रहण कर ली, वह निहाल हो गया—निर्भय, ज्योतिष्मान् और स्ववंत् (आनन्दी) बन गया। इस प्रकार की भावनायें हिन्दी के मध्यकालीन सन्तों ने जिस प्रकार प्रकट की हैं, उसी प्रकार वे वैदिक साहित्य में भी उपलब्ध होती हैं।[1]

ऊपर उद्धृत भक्तिपरक कुछ वेद-मन्त्र हमने यहाँ उन विद्वानों के विचार के लिए उपस्थित किए हैं जो भक्ति को अत्यन्त परवर्ती काल की वस्तु मानते हैं और उसकी उद्गम-निधि को वैदिक युग तक ले जाने में आनाकानी करते हैं। पर, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वेद में भक्ति ही भक्ति भरी पड़ी है; ज्ञान और

१—उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान् स्वर्वन् ज्योति रभयं स्वस्ति।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता॥

ऋ० ६।४७।८

कर्म नहीं हैं। वस्तुतः वैदिक युग में ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों कांड अपने समुज्ज्वल रूप में विकसित हुए थे। वैदिक ऋषि तीनों में सामञ्जस्यात्मक प्रवृत्ति रखते थे। वेद कालीन भक्ति भी अत्यन्त निर्मल स्वरूप रखती थी। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के समस्त सत अंश विद्यमान थे। पर, काल-चक्र अत्यन्त बलवान है। यह किसी भी वस्तु को एक स्वरूप में नहीं रहने देता। वैदिक भक्ति भी कालान्तर में अपने स्वाभाविक रूप को स्थिर न रख सकी। याज्ञिक पद्धतियों और निवृत्ति-परायण ज्ञान-गाथाओं के मरुस्थल में पहुँच कर उसकी धारा तिरोहित-सी होने लगी।

शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में याज्ञिक अनुष्ठानों की प्रधानता हो गई और कर्मकांड का अनेक रूपों में विश्लेषण हुआ। ज्ञान और भक्ति पीछे पड़ गये। आरण्यक तथा उपनिषद युग में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। कर्मकांड को दबाकर ज्ञानकांड आगे निकल गया। भक्ति यद्यपि उपेक्षित-सी हो गई थी, फिर भी जनता का श्रद्धालु हृदय उसके साथ किसी न किसी रूप में चिपटा ही रहा। वह भक्ति-सुधा-पान के लिये पिपासाकुल हो उन आदित्य ब्रह्मचारियों की कामना करता हुआ पुकार उठा—"त्वम् आदित्यां आवह" (सामवेद १०६६) अर्थात् हे देव! तुम उन आदित्यों, उपासकों को हमारे पास भेजो जो हमारी व्याकुलता मिटा सकें, हमारे अन्दर भक्ति की पुनीत भावना भर सकें। "तान् हि उश्मसि"—आज हम उन्हीं की कामना करते हैं।[1] इतिहास ऐसे अनेक आदित्यों की उत्पत्ति की साक्षी दे रहा है, जिन्होंने समय-समय पर मानव हृदय की सूखी वाटिका को भक्ति के सरस सिंचन द्वारा हरा-भरा बना दिया है।

यही कारण है कि ज्ञान-प्रधान उपनिषदों के ऋषियों के कंठ से भक्ति के भाव-भरित उद्गार बीच-बीच में अनायास फूट पड़ते थे। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्त में लिखा है :—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः ॥२३॥

इस श्लोक में प्रभु-भक्ति के साथ गुरु-भक्ति पर भी बल दिया गया है। वैसे उपनिषदों में ज्ञान-प्राप्ति के लिये गुरु-सेवा का महत्व प्रतिपादित हुआ है, पर यहाँ

१—अथवा—जीवान्नो अभिधेतन आदित्यासः पुराहथात्।
कद्धस्थ हवन श्रुतः ? ऋ० ८-६७-५

हे आर्त की पुकार सुनने वाले आदित्यो! तुम कहाँ हो? हम लोगों के निहत होने से पहले ही, जब तक हम शरीर में जीवन है, तुम दौड़ कर हमारे पास आ जाओ। हमारी रक्षा करो।

स्पष्ट रूप से भक्ति के लिये ही उसका कथन हुआ है। छांदोग्य उपनिषद् में भी प्राणोपासना आदि के रूप में भक्ति के ही बीज निहित हैं। छांदोग्य उपनिषद् के प्रपाठक २ खंड ११ में उपासना के हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन ये पाँच अंग वर्णित हुए हैं, जिनमें नाद, स्तुति, कीर्तन, धारण और विलय (प्रभु में तन्मय हो जाना) की ओर क्रमशः संकेत किया गया है। लगभग यही नाम सामवेद में भी प्रयुक्त हुए हैं, जो उपासना कांड का मुख्य वेद कहलाता है।

मुण्डक उपनिषद् का यह श्लोक भी भक्ति-भावना को प्रकट कर रहा है:

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥

तृतीय मुंडक, द्वितीय खंड, श्लोक ३

अर्थात् प्रभु की प्राप्ति, परोक्ष आत्मतत्व की उपलब्धि, प्रवचन, मेधा तथा बहुत सुनने से नहीं होती। प्रभु जिस पर कृपा करते हैं, उसीको उनकी प्राप्ति होती है। आत्मदेव अपना स्वरूप उसी के समक्ष खोल कर रख देते हैं।

श्रुति भगवती इसी तथ्य का उच्च स्वर से उद्घाटन करती हुई कहती है:

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टम् देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

ऋ० १०।१०५।५

यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि भक्ति का अत्यन्त स्वाभाविक एवं सर्वग्राह्य विकास वैदिक युग में ही हुआ। यह इसका प्रथम उत्थान था। वेद काल की हृदय-पावनी यह भक्ति-धारा, जैसा पूर्व ही लिखा जा चुका है, ब्राह्मण काल के याज्ञिक अनुष्ठानों तथा औपनिषदिक निवृत्ति-परता एवं ज्ञानवाद के दुर्गम मरु में क्षीण-सी हो गई थी। पर, साधारण जनता का हृदय उसके लिये सदैव उत्सुक बना रहा और जैसा हम उपनिषदों के उद्धरण देकर सिद्ध कर चुके हैं, भक्ति ऋषियों के कंठ से बरबस निकल कर प्रकाश पाने के लिए छटपटाती रही। उपनिषद् युग के पश्चात्, इस भक्ति का द्वितीय उत्थान परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता में दिखाई पड़ा।

गीता भीष्मपर्व के पूर्व महाभारत का ही एक भाग है। महाभारत में ब्राह्मण युग का याज्ञिक कर्मकांड और उपनिषदों की निवृत्ति एवं ज्ञान की धारा स्पष्ट रूप से अंकित है। एक का प्रतीक दुर्योधन है और दूसरी का अर्जुन। महाभारत में एक स्थान पर दुर्योधन कहता है कि मैंने शास्त्र विधि के

अनुकूल यज्ञों का अनुष्ठान किया है, ऋत्विज, होता, अध्वर्यु, आदि का वरण करके पुष्कल धन-द्रव्य दान में दिया है, मैंने प्रजा को संतुष्ट करने के लिए वापी, कूप, तड़ागादि का निर्माण कराया है, वेद-विधि से श्राद्ध, तर्पणादि किये हैं, अतः मैं अवश्य ही स्वर्ग जाऊँगा। दुर्योधन वास्तव में कर्मकांड का धनी था। परन्तु ऊपर से किया हुआ कोरा कर्मकांड भी तो अहम्मन्यता उत्पन्न करता है। यह अहम्मन्यता समस्त दोषों का मूल है। फिर एक पाखंडी मनुष्य भी दिखावे के लिए कर्मकांड कर सकता है। कर्मकांड की इस दूषित प्रवृत्ति को गीता-उपदेष्टा ने भलीभाँति हृदयंगम किया था। तभी तो वेद के नाम पर प्रचलित इस कर्मकांड की निन्दा गीता में कई स्थानों पर पाई जाती है। नीचे लिखे श्लोकों पर विचार कीजिये:—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेद वाद रताः. पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपराः जन्म कर्म फल प्रदाम्।
क्रिया विशेष बहुलां भोगेश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगेश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिःसमाधौ न विधीयते॥ २।४२।४४

हे अर्जुन, श्रुति-मधुर, जन्म-कर्म रूप फल देने वाली, भोग और ऐश्वर्य प्राप्ति के साधक कर्मों को बतानेवाली यह वाणी विचारहीन पुरुषों द्वारा बोली जाती है। वेदोक्त काम्य कर्म को ही जो एकमात्र धर्म समझते हैं और कहते हैं: 'इनके सिवा और कुछ है ही नहीं' उनकी कामना नष्ट नहीं हुई है। वे स्वर्ग चाहते हैं, भोग तथा ऐश्वर्य चाहते हैं और इन्हीं में इनका मन लगता है। ऐसे पुरुषों की बुद्धि इतनी निश्चयात्मक नहीं होती कि वे ईश्वर में चित्त की एकाग्रता कर सकें।

इसी प्रकार युद्ध के पूर्व अर्जुन के मुख से निकली हुई ज्ञान और निवृत्ति-पथ की बातों का खंडन गीता में पाया जाता है। युधिष्ठिर भी कुछ-कुछ ऐसे ही निवृत्ति पथ का अनुगामी है। गीता के प्रथम अध्याय के ३२वें श्लोक में अर्जुन कहता है:

न कांक्षे विजयं कृष्ण, न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

हे कृष्ण! मैं जय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता और सुख भी नहीं चाहता। हे गोविन्द, राज्य लेकर हम क्या करेंगे? ऐसे सुख से क्या होगा और इस दशा में जीवित रहना भी किस काम का है?

फिर द्वितीय अध्याय के पाँचवें श्लोक में वह कहता है:

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिर प्रदिग्धान् ।

अर्थात् ऐसे महानुभाव गुरुजनों को मारने की अपेक्षा लोगों के बीच में भिख माँग कर खाना भी अच्छा है । यद्यपि दुर्योधन का अन्न खाने के कारण इनको लड़ने के लिए आना पड़ा है, तो भी ये हमारे गुरु ही हैं । इनको मारने से हमें इसी लोक में इनके रक्त में सने सुख भोगने पड़ेंगे ।

ऐसी निवृत्तिपरक और ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें सुनकर श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को बुरी तरह डाट कर कहा: "अरे अर्जुन ! एक ओर तुम अशोचनीयों के लिए शोक भी प्रकट करते जाते हो और दूसरी ओर ज्ञान के बड़े लम्बे चौड़े भाषण भी देते जाते हो । क्या पंडितों का यही काम है ?" इसके पश्चात् आत्मा का अमरत्व बताकर श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रवृत्त कर दिया ।

गीता ने वैदिक, हिंसापूर्ण, यज्ञपरक काम्य कर्म के स्थान पर अनासक्ति-पूर्ण कर्तव्य कर्म की स्थापना की, तथा निवृत्ति-परायण ज्ञानकांड के स्थान पर प्रवृत्तिपरायण भगवद्भक्ति को स्थान दिया । साथ ही आत्मा के अमरत्व की इसने उच्च स्वर से घोषणा की ।

गीता की प्रवृत्ति-मूला भक्ति को प्रकट करने वाली कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।१८।४६
सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।१८।५६
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ।।११।५५
यत्करोषि, यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।९।२७
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मा मेवैष्यसि असंशयम् ।।८।७

[illegible] श्लोकों में जो भाव और विचार अभिव्यक्त हुये हैं वे भक्ति [illegible] नहीं, [illegible] कर्म-परायणता की ओर निर्देश एवं प्रेरणा देते

हैं । अपना कर्म करो और प्रभु का ध्यान रक्खो, प्रभु के आश्रित रहकर समस्त कर्म करो, जो कुछ करो उसे कर्तव्य समझकर करो और फल प्रभु पर छोड़ दो; प्रभु का स्मरण और अर्चन करो, साथ ही युद्ध भी करो— भक्ति की यह पद्धति साधक को कर्म से विरत नहीं करती, क्योंकि गीताकार का निश्चित मत है कि कोई भी प्राणी किसी भी दशा में समग्र रूप से कर्मों का त्याग कर ही नहीं सकता । जब कर्म का परित्याग हो ही नहीं सकता, तो उसे ऐसे ढंग से करना चाहिये, जिससे कर्म करते हुये भी मानव अपने उद्धार का मार्ग निकाल सके । गीता के ही शब्दों में:

> न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
> यस्तु कर्म फल त्यागी स त्यागीऽन्यभिधीयते ॥१८, १८

अतः कर्म नहीं, कर्मफल पाने की इच्छा छोड़ देनी चाहिये । भक्ति द्वारा यह फलाकांक्षा सुगमता से छूट भी जाती है । इस प्रकार गीता में उपदिष्ट भक्तिमार्ग प्रवृत्तिमार्ग से हटानेवाला नहीं है, वह प्रभु-भक्ति में निरत साधक को फलाकांक्षा से दूर रखकर संसार में जूझना, कर्म करना सिखलाता है । वैसे भी गीताकार निवृत्ति से प्रवृत्ति को श्रेयस्कर मानता है:

> संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ ।
> तयोस्तु कर्म संन्यासात कर्मयोगो विशिष्यते ॥ ५।२

पर कोई मार्ग सर्वथा बन्द नहीं हो जाता । गीता द्वारा अवरोध पाकर कुछ समय के पश्चात्, फलाकांक्षा-समन्वित वैदिक कर्मकांड फिर बल पकड़ने लगा । पशु-हिंसापूर्ण यज्ञों के अनुष्ठान होने लगे, जिनके विरोध में जैन, बौद्धादि सम्प्रदायों ने अपने अहिंसा-प्रधान मत का प्रचार किया । यज्ञ में पशु-हिंसा वेद के नाम पर होती थी, अतः इन सम्प्रदायों ने वेद को अप्रामाणिक घोषित किया । अहिंसा तथा आचार की पवित्रता पर बल दिया गया । जैन सम्प्रदाय ने योग-साधना के महत्व को भी स्वीकार किया है ।

बौद्ध धर्म समस्त दुखों का मूल इच्छा को ही समझता है । इन इच्छाओं को नष्ट करना ही बौद्ध धर्म का मूल मन्त्र है । जैन धर्म आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है, परन्तु बौद्ध धर्म व्यक्तिगत आत्माओं में विश्वास नहीं रखता । इस धर्म के अनुसार जीवात्मा का मानना अहमिति का मूल कारण है और अहमिति कामनाओं को जन्म देती है, जो दुःख का मूल कारण है । अतः जीवात्मा में विश्वास करना ही नहीं चाहिये । बौद्ध धर्म में ज्ञान, आचार की शुद्धता तथा योग तीनों बातें मानी गई हैं और प्रव्रज्या एवं त्याग को अधिक महत्व दिया गया है ।

परन्तु, आत्मा को न मानकर सदाचार की बातें करना दार्शनिक दृष्टि से आधार हीन था। प्रव्रज्या पर अधिक बल देने से वर्ण-सम्बन्धी कर्तव्य कर्मों पर भी पानी फिर गया। एक अद्‌भुत विशृंखलता, विरक्ति एवं उदासीनता इन धर्मों के कारण चारों ओर व्याप्त हो गई जिसका सामाजिक दृष्टि से निराकरण करना परमावश्यक था।

जैन धर्म के अनुयायियों ने ग्रीक प्रभाव में आकर अपने तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित कीं। उपासना का एक मार्ग निकला। बौद्धों ने भी बाद में महात्मा बुद्ध की मूर्ति बनाकर पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। यहीं भक्ति का तृतीय उत्थान दिखाई देता है जिसमें वैदिक धर्मावलम्बियों ने रामायण, महाभारत आदि के नवीन संस्करण तैयार किये। एक ओर जैन-बौद्ध अनुकरण पर चौबीस अवतारों की प्रतिष्ठा की गई, उनकी मूर्तियाँ बनाई गईं, इस प्रकार साधारण जनता के हृदय की उठती हुई हूक को शान्त एवं तृप्त किया गया और दूसरी ओर ग्रन्थों के नवीन संस्करणों में शम्बूक मुनि का वध, तुला-धार वैश्य तथा धर्मव्याध आदि की कथायें जोड़कर वर्णों के कर्तव्य कर्मों पर बल दिया गया।

तृतीय उत्थान वाली भक्ति ने दुधारा खड्ग का काम किया। इसने जैन, बौद्धादि धर्मों की अहिंसा, परोपकार, करुणा, शील आदि लोक-कल्याणकारी भावनाओं को यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण धर्म में नवीन रूप से सम्मिलित कर लिया। महाभारत के पृष्ठ के पृष्ठ इन भावनाओं की प्रतिष्ठा करने वाले उपाख्यानों से भरे पड़े हैं।[1]

बौद्ध धर्म का भी भक्ति के इस तृतीय उत्थान-काल में संस्कार हुआ। अनीश्वरवादी बौद्धों ने भक्ति के इस रूप के साथ समझौता करके महायान सम्प्रदाय की स्थापना की। महायान के संस्थापक सिद्ध योगी नागार्जुन थे जो अश्वघोष के शिष्य थे। महायान, योगाचार, मन्त्रयान आदि कई बौद्ध सम्प्रदायों

१—वायुपुराण, द्वितीय खंड, अध्याय ४२, श्लोक १६ के अनुसार भी आर्य-जाति ने समस्त साम्प्रदायिक सिद्धांतों का समन्वय किया है। शौनकादि ऋषि सूतजी से कहते हैं।

> ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथार्हतम्।
> षट् दर्शनानि चोक्तानि स्वभाव नियतानि च ॥ १६॥
> एतदन्यच्च विविधं पुराणेषु निरूपितम् ॥१७॥

इसमें जैन बौद्धादि सम्प्रदायों की ओर स्पष्ट संकेत है।

ने मिलकर मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय आदि बोधिसत्वों की मूर्तियाँ स्थापित कीं। इस प्रकार बौद्धों में मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ।

भारतीय इतिहास में गुप्त साम्राज्य भागवत धर्म को अपनाने के कारण प्रसिद्ध है। इसकी पताका पर गरुड़ का चिन्ह अंकित था। गरुड़ को पुराणों में विष्णु का वाहन कहा गया है। गुप्तवंशीय सम्राटों ने वेदानुगामी वैष्णव धर्म के प्रचार में बड़ा योग दिया। इस युग में धर्म का पुनरुत्थान हुआ और भागवत सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखनेवाली १०८ पांचरात्र संहिताओं का निर्माण हुआ। श्रीमद्भागवत भी इसी युग की रचना जान पड़ती है। भागवत धर्म का यह प्रधान ग्रन्थ है। इसी के साथ भक्ति का चतुर्थ उत्थान हुआ।

गीता के पश्चात् भागवत धर्म की व्याख्या एवं प्रचार करने वाले तीन ग्रन्थ विशेष रूप से दिखलाई देते हैं: श्रीमद्भागवत, नारदभक्ति-सूत्र और शांडिल्य भक्ति-सूत्र। भागवत संभवतः तीसरी शताब्दि तक बन चुकी थी। भक्ति रस से लबालब भरे हुये इस ग्रंथ में भागवत धर्म की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। पर इसमें उल्लिखित कुछ अंश गीतोक्त भागवत धर्म से भिन्न हैं। गीता ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों का समन्वय करती हुई भगवद् भक्ति का उत्कर्ष स्थापित करती है, परन्तु भागवत शुद्ध रूप से भक्ति मार्ग का ही उपदेश देनेवाली है। गीता प्रवृत्ति मार्ग को प्रधानता देती है, परन्तु भागवत निवृत्ति मार्ग की अनुगामिनी है। श्रीमद्भागवत के माहात्म्य प्रकरण में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की सन्तान कहा गया है।

उपनिषद् काल के ऋषियों ने जिस निवृत्ति-परायण धर्म का उपदेश दिया था, वह विविधि शाखाओं में फैलता, फूटता जैन, बौद्धादि धर्मों के रूप में प्रबल शक्ति के साथ आविर्भूत हुआ। कुमारिल, शंकर आदि आचार्यों के तर्क रूपी कशाघातों से यद्यपि बौद्ध धर्म जर्जर हो गया था, फिर भी लोक-मानस पर उसकी अमिट छाप पड़ी रही। बड़े-बड़े प्रयत्न हुए, पर यह छाप मिटाये न मिटी। समस्त अभिनव पंथ अपनी पृथक् सत्ता रखते हुये भी निवृत्ति के रंग में रँगते चले गये। वर्ण धर्म भी कम-से-कम भक्ति के क्षेत्र में, शिथिल हो गया। बुद्धदेव स्वयं भागवत धर्म के अनुयायियों में ईश्वर के अवतार मान लिए गये और उनके द्वारा प्रचारित निवृत्ति पथ का उपदेश तो श्रीमद्भागवत द्वारा समस्त जाति के साथ ऐसा संयुक्त हुआ कि वह आजतक हमारा पल्ला पकड़े है, हिंदुओं की रग-रग में भिदा पड़ा है।

श्रीमद्भागवत का बाद के साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, चैतन्य, वल्लभ आदि सब आचार्य इससे प्रभावित हुए। इस ग्रंथ

ने भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया जिसमें वर्ण एवं आश्रम धर्म भी बहते हुये दिखाई दिये। इस ग्रन्थ के एकादश स्कन्ध के चतुर्दश अध्याय में लिखा है:

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥२०॥
भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियःसताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥
यथाग्निना हेममलं जहातिध्मातं पुनःस्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्ति योगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥
यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जन संप्रयुक्तम् ॥२६॥

इन श्लोकों में भगवान स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि मैं न योग के द्वारा, न सांख्य (ज्ञान) के द्वारा, न स्वाध्याय एवं तप (वाणप्रस्थ) के द्वारा और न त्याग (संन्यास) के द्वारा ही प्राप्त होता हूँ। मेरी प्राप्ति का सुलभ साधन तो भक्ति है।[1] एकनिष्ठा से की हुई मेरी भक्ति चांडाल तक को पवित्र कर देती है। जो गद्गद् वाणी से द्रवित चित्त हो, कभी रोता हुआ, कभी हँसता हुआ, कभी लज्जा को छोड़ गाता हुआ और नाचता हुआ मेरी भक्ति में निरत होता है, वह इस निखिल विश्व को पवित्र कर देता है। जैसे अग्नि द्वारा स्वर्ण का मल दूर होकर फूँकने पर अपने रूप में मिल जाता है, उसी प्रकार मेरे भक्ति योग से कर्म विपाक को दूर करता हुआ आत्मा मुझे ही प्राप्त कर लेता है। मेरे पवित्र चरित्रों का श्रवण एवं ध्यान करता हुआ आत्मा जैसे-जैसे शुद्ध होता जाता है, वैसे-ही-वैसे अंजनांजित आँखों की तरह वह सूक्ष्म वस्तु के दर्शन करने लगता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वैष्णव धर्म के प्रायः सभी आचार्य इस भक्ति-मंदाकिनी में डुबकी लगाकर केवल स्वयं ही पवित्र नहीं हुए, अपितु उन्होंने

१—स्कन्द ब्रह्म संहिता, चतुर्थ पाद, अध्याय १०, श्लोक ६० में भी यही भाव वर्णित है:

कर्माणि दान यज्ञाश्च स्वाध्यायो योग एव च ।
हरिं विना न सिद्ध्यंति काम्यानपि मुनीश्वराः ।

कोटि-कोटि मनुष्यों को भी कल्याण-पथ पर लगा दिया। सूर, तुलसी प्रभृति सभी भक्त कवियों में भक्ति के इन्हीं सिद्धान्तों को हम प्रस्फुटित होते हुये देखते हैं। इन कवियों के साथ भक्ति का पंचम उत्थान हुआ। भक्ति का चतुर्थ उत्थान निवृत्ति परक था, पर इस पंचम उत्थान ने जनता में पुनः प्रवृत्ति-परायण वातावरण को जन्म दिया। निवृत्ति ने हमको जीवन के आयासमय पक्ष से उदासीन कर दिया था, पर भक्ति के इस नवीन उत्थान में हम फिर लौटकर जीवन की सांस लेने लगे। इस वायु-मण्डल में विरक्ति नहीं थी, निराशा नहीं थी, मन का मारना नहीं था, इनके स्थान पर था भगवान को अपने आँगन में नाचते, कूदते, गाते और आमोद प्रमोदमयी बालक्रीड़ायें करते हुए देखना तथा कंस और रावण जैसे लोकपीड़कों एवं अत्याचारियों को धराधाम से हटाते हुये अनुभव करना। ✓

भागवत धर्म और सगुणोपासना

गत परिच्छेद में हम लिख चुके हैं कि भक्ति अपने प्रथम उत्थान काल में सामंजस्यात्मक है। न वहाँ ज्ञान की हीनता है और न कर्म की। द्वितीय उत्थान में भी वह इस आदर्श को अपनाये हुए है, पर दबी ज़बान में ज्ञान और कर्म के ऊपर अपना महत्व स्थापित करना चाहती है। इस युग में भक्ति के मुख्य उपदेष्टा श्रीकृष्ण हैं।

तृतीय एवं चतुर्थ उत्थान में ज्ञान और कर्म दोनों ही भक्ति की प्राप्ति में सहायता करने वाले बन जाते हैं। भक्ति यहाँ साध्य है, ज्ञान और कर्म साधना।[1] इसके साथ ही वह प्रवृत्ति-परायणता के स्थान पर निवृत्ति-परायणता को जन्म देती है।

गीता में लिखा है कि यह भक्ति-योग सर्व प्रथम भगवान से विवस्वान को प्राप्त हुआ। विवस्वान से मनु और मनु से इक्ष्वाकु को मिला। इक्ष्वाकु के पश्चात् इसका प्रचार मुख्य रूप से राजर्षियों में ही प्रचलित रहा।[2]

महाभारत, शान्ति पर्व के नारायणीय उपाख्यान में इस विषय की एक अन्य गाथा मिलती है वहाँ लिखा है कि एक बार नारद बदरिकाश्रम गये जहाँ नारायण ऋषि पूजा करते थे। नारद ने पूछा, "आप किसकी पूजा करते हैं,?" नारायण ने उत्तर दिया, "अपने मूल रूप की।" नारद इस मूल रूप को देखने के

१—भागवत, स्कंध १०, अध्याय ४७, श्लोक ६७ में भक्ति को पुण्य कर्मों के पालन द्वारा प्राप्त करने का इस प्रकार उल्लेख है:

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥

२—गीता ४।१-२

लिए आकाश में उड़े, फिर मेरु शिखर पर उतरे। वहाँ से उत्तर पश्चिम की ओर क्षीर सागर के उत्तर में उन्होंने श्वेत-द्वीप-निवासी श्वेत मानवों को देखा जो मेघ-गर्जन-तुल्य वाणी में भगवान की स्तुति कर रहे थे। नारद को इस श्वेत द्वीप में भगवान के दर्शन हुए और वासुदेव धर्म का उपदेश प्राप्त हुआ। इसी स्थान पर वसु उपरिचर का आख्यान भी आता है जो सात्वत विधि से भगवान नारायण की पूजा करता था। इस राजा ने यज्ञ में पशु बलि नहीं की। इसके यहाँ पाञ्चरात्र आगम के मुख्य-मुख्य विद्वान सदैव विद्यमान रहते थे।

महाभारत के इस स्थल का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भागवत धर्म नारायण, वासुदेव, सात्वत, ऐकान्तिक आदि कई नामों से प्रसिद्ध रहा है। नारायण को श्वेत-द्वीप का निवासी कहा गया है। यह धर्म प्रारम्भ में प्रवृत्ति-परक था, जैसा नीचे लिखे श्लोक से प्रकट होता है:

नारायण परो धर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः।
प्रवृत्ति लक्षणश्चैव, धर्मो नारायणात्मकः॥

महाभारत, नारायणीय उपाख्यान

इस धर्म में नारायण, वासुदेव, भगवान ही भक्त का सर्वस्व हैं। श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर लिखा है: "अहैतुकी अव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।"— अर्थात भगवान में हेतु-रहित, निष्काम, एकनिष्ठा युक्त अनवरत प्रेम होना ही भक्ति है। शांडिल्य भक्ति सूत्रों में भी यही सिद्धांत प्रतिपादित हुआ है: "सा परानुरक्ति रीश्वरे"—अर्थात् ईश्वर में पराकाष्ठा की अनुरक्ति ही भक्ति है। यह भक्ति परम धर्म है, जैसा भागवत में कहा है:

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययाऽऽत्मा संप्रसीदति॥ १।२।६

भागवत धर्म की यह भक्ति ज्ञान और कर्म दोनों से ऊपर है। कर्म और ज्ञान का सम्पादन इसमें इसलिए आवश्यक माना गया है क्योंकि यह वैराग्य साधन में सहायता करता है। वैराग्य-सिद्धि के पश्चात् ज्ञान एवं कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः कर्म और ज्ञान का वैष्णव भक्ति में अधिक महत्व नहीं है। इस भक्ति का मुख्य लक्ष्य है— इष्ट देवता में तन्मय हो जाना।

प्रारम्भ में भागवत धर्म प्रवृत्ति-मूलक था, परन्तु श्रीमद्भागवत तक पहुँचते-पहुँचते निवृत्ति-मूलक बन गया, जिसमें ज्ञान, कर्म, योग, तप, स्वाध्याय सभी व्यर्थ के बखेड़े थे। स्वयं गीता भक्ति के महत्व को इन शब्दों में प्रकट करती है:

न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रः।
एवं रूपःशक्य अहं नृलोके, द्रष्टुं त्वदन्येन कुरु प्रवीर॥११४८॥

नाहं वेदैर्न तपसा, दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ११।५३
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ११।५४

हे अर्जुन! वेद-पाठ, यज्ञानुष्टान, स्वाध्याय, दान, सकाम कर्म और उग्र तप से भी कोई मेरे इस रूप को नहीं देख सकता। तुमको मेरा जैसा दर्शन हुआ है, वैसा वेद, तप, दान अथवा यज्ञ से भी किसी दूसरे को नहीं हो सकता। हे परन्तप! केवल अनन्य भक्ति द्वारा ही मुझे जाना, देखा, तथा प्राप्त किया जा सकता है।

श्रीमद्भागवत के इस विषय के श्लोक हम विगत परिच्छेद में उद्धृत कर चुके हैं, जिनमें भक्ति को अत्यन्त ऊर्ध्व स्थान दिया गया है। नारद भक्ति सूत्रों में भी "सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्) ॥७॥ तथा "भक्तिःसातु कर्म ज्ञान योगेभ्यः अपि अधिकतरा" ॥२५॥ कहकर भक्ति की महत्ता तथा उसकी निवृत्ति-मूलकता दोनों की ओर स्पष्ट संकेत कर दिया गया है।

इस भक्ति की प्राप्ति, नारद भक्ति सूत्रों के अनुसार, भगवान के अनुग्रह से ही संभव होती है। प्रभु-कृपा का लवलेश भी प्राप्त हो गया तो जीवन धन्य है। अथवा उसके भेजे हुए किसी देवदूत, किसी महान भक्त की अनुकम्पा का आश्रय मिल गया, तो भी बेड़ा-पार हो सकता है।[1] यही भगवत्कृपा महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग का मूल मन्त्र है। नारद ने यह भाव मुण्डक उपनिषद तथा वेदों से ग्रहण किया होगा, क्योंकि इसका बीज इन ग्रंथों में पहले से ही विद्यमान है। विगत परिच्छेद में इन ग्रंथों के उद्धरण इस सम्बन्ध में दिये जा चुके हैं।

यह भक्ति परा और गौणी दो प्रकार की कही गई है। गौणी भक्ति तीन प्रकार की है: (१) सात्विकी, जिसमें कर्तव्य कर्म समझ कर भगवान की भक्ति की जाती है। (२) राजसी, जो किसी कामना से प्रेरित होकर की जाती है। (३) तामसी, जो दूसरों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से की जाती है। [illegible] आधार पर जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त तीन प्रकार के माने गये हैं।

---

१. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव, भगवत्कृपालेशाद्वा ॥३८॥ नारद भक्ति सूत्र।

पराभक्ति गौणी भक्ति से श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें भक्त सर्वात्मना अपने आप को प्रभु में मग्न कर देता है— किसी प्रकार की कामना उसमें नहीं रहती।

श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है:

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ॥७।५।२३

प्रभु के गुणों का श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, अर्चन, वन्दन, प्रणति (दास्य), सखाभाव और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकार की भक्ति है। इसमें दशवीं प्रेम लक्षणा और ग्यारहवी परा भक्ति जोड़ देने से भक्ति ग्यारह प्रकार की हो जाती है। इसे भी हम बाह्य और अंतरंग दो प्रकार के साधनों में विभक्त कर कर सकते हैं। इसका मुख्य लक्ष्य, जैसा कहा जा चुका है, प्रेम-स्रोतस्वरूप प्रभु में तल्लीन हो जाना है।

भागवत (वैष्णव) धर्म अपने प्रारम्भ काल से ही भक्ति-प्रधान रहा है जिसमें वर्ण-विशेषता को कभी विशिष्ट महत्व नहीं मिला। गुरु को प्रभु के समान समझना, प्रभु के सगुण रूप की उपासना करना, भगवान की शाश्वत लीला में भाग लेना, आत्म समर्पण और प्रेम इस धर्म के मुख्य अंग थे।

वैष्णव धर्म की आड्वार शाखा के अन्तर्गत दक्षिण में कई वैष्णव भक्त[1] और आचार्य उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में शूद्र और ब्राह्मण के भेद को मिटा दिया था। इन्ही में शठ कोप नाम के एक श्रेष्ठ वैष्णव संत थे जो नम्बूद्री वंश में उत्पन्न हुये थे। इनके लिखे चार ग्रन्थ तामिल में चार वेद कहलाते हैं, जिनमें सरल एवं भावुक भाषा में विष्णु के अवतारों के गान हैं। आड्वार शाखा[2] में ही गीत गोविन्द के टक्कर की मुकुन्द माला लिखने वाले

१—बृहद् ब्रह्म संहिता, अध्याय ३, श्लोक ४ में द्रविड़ देश को वैष्णव धर्म का महाक्षेत्र कहा गया है।

वैष्णवाख्ये महाक्षेत्रे द्राविडेषु पुराऽभवत्।
विष्णु धर्मेति विख्यातोराजापरपुरंजयः ॥

श्रीमद्भागवत के स्कंध ११, अध्याय ५, श्लोक ३६ में भी द्रविड़ देश को वैष्णव भक्तों से ओत-प्रोत बतलाया है।

२—आड्वार कोई शाखा नहीं है। कुछ आड्वार सन्त (८ या १०) अच्छे वैष्णव कवि हुए हैं। अतः उन्हें एक वैष्णव शाखा के रूप में लिख दिया है। वैष्णव आंड्वारों का काल २०० से ८०० ई० तक माना जाता है।
(प्राचीन भारत—एस० एस० रामस्वामी आयंगर)

मालावार के राजा कुलशेखर, प्रेम और समर्पण भावना को सर्वोपरि स्थान देने वाली भावुक, ब्रह्मचारिणी गोदा, वेद-शास्त्र में पारंगत रघुनाथ मुनि जिन्होंने लोक भाषाओं में लिखित गीतों को श्री रंग मंदिर में महत्वपूर्ण स्थान दिया और तप आदि पाँच संस्कारों का प्रचार करके भक्त को प्रपन्न संज्ञा प्रदान की, यवन अथवा यामुन नाम के आचार्य तथा उनके शिष्य आचार्य रामानुज हुए हैं, जो भोक्ता, भोग्य और प्रेरक तीनों को मानते थे।

भागवत धर्म प्रारम्भ से ही प्रभु को सगुण मानकर चला। ईश्वर वस्तुतः अन्य पदार्थों के गुणों से विहीन होने के कारण निर्गुण और अपने गुणों से युक्त होने के कारण सगुण कहलाता है। उपासना के क्षेत्र में स्तुति का अर्थ ही प्रभु के गुणों का कीर्तन है। वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें प्रभु के गुणों का वर्णन पाया जाता है। नीचे हम यजुर्वेद के ४०वें अध्याय का ८वाँ मंत्र उद्धृत करते हैं, जिसमें परमात्मा को निर्गुण और सगुण दोनों कहा गया है:—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविर ꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यःसमाभ्यः

इस मंत्र में अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम् और अपाप-विद्धम् शब्द प्रभु को निर्गुण बता रहे हैं, परन्तु शुक्रम्, कविः, मनीषी, परिभूः और स्वयम्भूः शब्द उसे सगुण कह रहे हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में अकल, अजर, अमर, अभय, इन्द्रियातीत आदि कहकर उसका निर्गुण रूप प्रकट किया गया है और सत, चित, आनन्दस्वरूप, स्वयं-प्रकाश, जनिता, विधाता आदि शब्दों द्वारा उसके सगुण रूप पर प्रकाश डाला गया है। परन्तु भक्ति के आगामी युगों में निर्गुण और सगुण दोनों शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो गए। निर्गुण से निराकार और सगुण से साकार का अर्थ ग्रहण किया जाने लगा।

भागवत धर्म में प्रभु के निर्गुण और सगुण दोनों रूप मूल एवं परिवर्तित दोनों अर्थों में स्वीकार किये गये हैं। वैष्णव धर्म के आचार्य ईश्वर को जहाँ अन्य के गुणों से हीन और स्वगुणों से सहित होने के कारण निर्गुण और सगुण अर्थात निखिल-हेय-प्रत्यनीक और अखिल सद्गुणाकर कहते थे, वहाँ वे निर्गुण से निराकार और सगुण से साकार ईश्वर का अर्थ भी ग्रहण करते थे। आचार्य रामानुज, इसी आधार पर, ईश्वर के पाँच रूपों का उल्लेख करते हैं: (१) पर—त्रियों से सेवित

वैकुण्ठवासी, शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी नारायण; (२) व्यूह (वासुदेवः परब्रह्म; संकर्षणःप्राणी; प्रद्युम्नःमन और बुद्धि; अनिरुद्धःअहंकार)[1] (३) विभव (दशावतार); (४) अन्तर्यामी (सर्वव्यापक, सब प्राणियों के हृत्पुण्डरीक में रहने वाले और उनके समस्त व्यापारों के विधायक) और (५) अर्चावतार (मूर्तियों में व्यापक, सबको सुलभ) । श्री (लक्ष्मी), भू और लीला—इस ईश्वर की पत्नियाँ हैं। ईश्वर सृष्टि की रचना केवल लीला (खेल) के लिये करता है । वह लीलामय है । यह लीला प्रलय में भी समाप्त नहीं होती । प्रलय इस लीला का ही एक भाग है ।

रामानुजाचार्य के इस लेख में निर्गुण और सगुण के दोनों अर्थों का समावेश है । अन्तर्यामी रूप से प्रभु निराकार है, पर अवतार और मूर्तियों के रूप में वह साकार है और दोनों ही रूपों में वह गुण-रहित और गुण-सहित दोनों ही है । हमारी सम्मति में यह भी कर्मयोगी जैनधर्म का आर्यधर्म पर चुपचाप पड़ा हुआ प्रभाव ।[2] सांख्य का पुरुष-प्रकृतिवाद जैनधर्म का जीव-जड़वाद ही तो है । सांख्य अपने मूल रूप में ईश्वरवादी था, परन्तु बाद में ईश्वर की असिद्धि मानकर निरीश्वरवादी बन गया । जैनधर्म भी आत्मा से व्यतिरिक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मानता । इस मत में जीवात्मा ही विश्व से वीतराग होकर ईश्वर बन जाता है । वैष्णव धर्म के आचार्यों ने सृष्टि के रचयिता ईश्वर को तो माना, पर अवतार मानकर यह भी सिद्ध कर दिया कि वह जीवात्मा से अतिरिक्त अन्य सत्ता नहीं है । गीता में भगवान कहते हैं:—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ४ । ५ ॥

हे अर्जुन ! मेरे भी अनेक जन्म हो चुके हैं और तुम्हारे भी । यह,

---

१—यह चतुर्व्यूह सिद्धान्त वैष्णव (पाँच रात्र) सम्प्रदाय का विशिष्ट सिद्धान्त है ।

२—गीता का नीचे लिखा श्लोक भी जैन-प्रभाव को प्रकट करता है ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

परमात्मा न किसी का कर्तृत्व बनाता है, न कर्म और न कर्मफल देने की व्यवस्था करता है । यह सब स्वभाव से होता है ।

जैनधर्म भी कर्म और उसके फल के सम्बन्ध में स्वभाव को ही प्रधानता देता है । वह ईश्वर को कर्मफल प्रदाता नहीं मानता ।

योगबल से, मुझे तो याद है, पर तुम भूल गये हो। अनेक जन्मों से सिद्ध है कि श्रीकृष्ण भी जीवात्मा थे। जीवात्मा ही अनेक योनियों वाली गमनागमन की चक्रसहति में पड़ता है, परमात्मा नहीं। जीवात्मा अनेक हैं, यह सिद्धान्त भी सांख्यकारिकाकार ने "पुरुष बहुत्वं सिद्ध" (कारिका १८) कहकर स्वीकार किया है। महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २२०, श्लोक ५ में नर और नारायण नाम के दो ऋषियों का वर्णन है जिन्होंने द्वापर के अन्त में अर्जुन और श्रीकृष्ण के रूप में जन्म लिया था। इस कथन से भी अर्जुन और श्रीकृष्ण जीवात्मा ही प्रतीत होते हैं, जिनमें से श्रीकृष्ण ने उन्नत, विकसित एवं निर्लिप्त होकर, जैनियों के तीर्थंकरों की भाँति, ईश्वरत्व प्राप्त किया। अवतारों में कला तथा अंशों की गणना भी जैन प्रभाव को सूचित करती है, जिसके अनुसार एक ही समय में दो अथवा तीन अवतार भी हो सकते हैं। द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण, बलराम और व्यास तीन अवतार एक साथ हुए थे। जिस आत्मा में जितने ही अधिक अंश अथवा कलायें हैं, वह आत्मा उतना ही अधिक ईश्वरत्व अपने में रखता है। परशुराम में पाँच कलायें थीं, राम में बारह थीं; परन्तु श्रीकृष्ण में सोलह कलायें थीं। अतः वे पूर्ण भगवान हैं। द्वैताद्वैत मत के स्थापक आचार्य निम्बार्क ने जिनका दूसरा नाम भास्कराचार्य था, प्रभु को सगुण बतलाते हुए कहा : "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" अर्थात् कृष्ण तो साक्षात भगवान हैं। गीता का नीचे लिखा श्लोक भी इसी तथ्य को प्रकट करता है :—

यद्यद्विभूति मत्सत्वं श्रीमदूर्जित मेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंश संभवम् ॥१०।४१ ॥

जैन प्रभाव को लिये हुए भी वैष्णव आचार्य वेद धर्म के अनुयायी थे। अतः वैदिक धर्म की मूल बात भी उनके साथ चिपटी रही। प्रभु के निर्गुण (निराकार) और सगुण (साकार) दोनों रूप उन्हें मान्य हुए। भागवत धर्म में गीता से लेकर सूर-काव्य तक निर्गुण भक्ति भी मानी जाती रही, पर उसे [illegible] माना गया। गीता में लिखा है :

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भि रवाप्यते ॥ १२।५ ॥

जो अविनाशी, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अचिन्तनीय, कूटस्थ, [illegible] परमात्मा की उपासना करते हैं, अव्यक्त अथवा निराकार [illegible] हुआ है, उनको कष्ट अधिक होता है; क्योंकि शरीर [illegible] प्राप्त करना ऐसा सरल कार्य नहीं है।

महात्मा सूरदास ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभिक पद में ही इस सिद्धांत को इस प्रकार प्रकट किया है:—

> अविगत गति कछु कहत न आवै ।
> ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै ।
> परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै ॥
> मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै ।
> रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन धावै ॥
> सब बिधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन पद गावै ॥
>
> सूर सागर, (ना० प्र० स० २)

अविगत की गति कुछ कहने में नहीं आती। जैसे गूंगा आदमी मीठे फल को खाकर उसके स्वाद को अपने अन्दर अनुभव तो करता है, वह परम स्वाद उसके हृदय में अमित सन्तोष को भी जाग्रत करता है, पर उसका वर्णन करना वाणी की सामर्थ्य से परे है। जो मन और वाणी के लिये अगम्य एवं अगोचर हो, उसे तो वही जान सकता है, जो उसे प्राप्त कर ले। साधारण जनता के लिये रूपरेख से विहीन प्रभु के पीछे मन को दौड़ाना प्रत्येक प्रकार से कठिन है। बिना किसी अवलम्ब को पकड़े सामान्य जन उधर जा ही नहीं सकते। सूरदास कहते हैं, मैं इसी कारण सगुण प्रभु की लीलाओं का गान करता हूं।

वैष्णव धर्म के सभी आचार्य प्रभु के सगुण रूप को लेकर चले। इसी हेतु भक्तों ने सगुण लीला के पद गाकर जनता को उस परात्पर शक्ति की ओर आकृष्ट किया। आचार्य रामानुज के पश्चात् मध्व भट्ट, निम्बार्क, रामानन्द, विष्णु स्वामी, वल्लभ जैसे धुरन्धर आचार्यों तथा साधकों ने सगुणोपासना का प्रभूत प्रचार किया। रामानुज के श्री सम्प्रदाय, मध्व के ब्रह्म सम्प्रदाय, निम्बार्क के सनक सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी के रुद्र सम्प्रदाय और वल्लभ के पुष्टि सम्प्रदाय ने इस दिशा में जो कार्य किया, उसने उन दिनों के हिन्दू हृदय में वैष्णव भक्ति के प्रचार एवं प्रसार के लिये उर्वर क्षेत्र तैयार कर दिया। प्रभु के सगुण रूप को पाकर आर्य जाति अपनी अन्तरात्मा में नवजीवन का अनुभव करने लगी।

उस समय तक के प्रायः सभी आचार्य संस्कृत के हिमालय से उतर कर जनवाणी के समतल प्रदेश में आने की आकांक्षा तक न करते थे, पर इन वैष्णव आचार्यों ने न केवल उस अव्यक्त प्रभु को ही व्यक्त बनाया, प्रत्युत वे गीर्वाण-वाणी को भी जनवाणी के हरेभरे मैदान में उतार लाये। दक्षिण में रघुनाथ मुनि ने लोकभाषा में लिखे हुए प्रबन्धों को वेद के समान मान्य स्थान

दिया था, उत्तर में स्वामी रामानन्द और आचार्य वल्लभ ने वही कार्य संपादित किया। कबीर, सूर, तुलसी आदि सभी सन्तों की कविकंठ-धाराओं द्वारा, गीता और भागवत द्वारा निर्मित यह भक्ति कल्लोलिनी, चतुर्दिक सीमाओं में फैलकर प्रवाहित होने लगी। न केवल हिन्दू, प्रत्युत रहीम ख़ानख़ाना जैसे अनेक ख़ानदानी मुसलमान भी भक्ति की इस प्रबल तरंग में अपनी संस्कृति की श्यामता को धोकर उज्ज्वल हो गये।

द्वितीय अध्याय

सूर साहित्य

दिया था, उत्तर में स्वामी रामानन्द और आचार्य वल्लभ ने वही कार्य संपादित किया। कबीर, सूर, तुलसी आदि सभी सन्तों की कविकंठ-धाराओं द्वारा, गीता और भागवत द्वारा निर्मित वह भक्ति कल्लोलिनी, चतुर्दिक सीमाओं में फैलकर प्रवाहित होने लगी। न केवल हिन्दू, प्रत्युत रहीम ख़ानख़ाना जैसे अनेक ख़ानदानी मुसलमान भी भक्ति की इस प्रवल तरंग में अपनी संस्कृति की श्यामता को धोकर उज्ज्वल हो गये।

द्वितीय अध्याय

सूर साहित्य

सूर साहित्य की पृष्ठ भूमि

कविकुल-तिलक महात्मा सूरदास स्वभावतः निवृत्ति पथ के पथिक थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में वे शैव थे और अनंग के पाश में आबद्ध थे—ऐसा अनेक अन्तः साक्ष्यों से प्रगट होता है।[1] सूरसागर के कई पदों में उन्होंने अपनी दीर्घायु तक की व्याकुलता का वर्णन किया है।

कर्म-विपाक-वश उन्हें जो पारिवारिक परिस्थितियाँ प्राप्त हुईं, वे भी उन्हें निवृत्ति-परायण बनाने में सहायक ही सिद्ध हुईं। प्राक्तन जन्मों के संस्कार भी जो बीज के रूप में अन्तस्तल में निहित थे, उन्हें अध्यात्म पथ की ओर प्रेरित करते गये। विराग-शील सूर के सम्मुख एक दिन वह घड़ी आ ही गई, जब उन्होंने सांसारिक एषणाओं पर लात मार दी और "पुत्रैषणा मया त्यक्ता, वित्तैषणा मया त्यक्ता, लोकैषणा मया त्यक्ता"—कहकर वे संन्यासी बन गये।

संन्यासी अवस्था में वे गौघाट पर आश्रम बनाकर रहने लगे। कुछ शिष्य भी उनके साथ हो गये। इस समय सूर निर्गुणिये सन्तों की शैली में भजन बनाकर गाया करते थे। वैष्णव धर्म भी उन दिनों उत्तराखण्ड में फैल चुका था। मानवों के मानस-मयूर घनश्याम की उन उमड़ती हुई, सान्द्र भावरूपिणी सघन घटाओं को देखकर मत्त हो नवल नृत्य करने लगे थे। सूर जैसे विरागी सन्त का उसकी ओर आकर्षित हो जाना अस्वाभाविक नहीं था। उनका रस-पिपासु, भावुक हृदय भागवत भक्ति की ओर उन्मुख हो गया और नियम पूर्वक महात्मा सूरदास ने प्रसिद्ध, संगीतज्ञ वैष्णव संन्यासी श्री हरिदास स्वामी से वैष्णव धर्म की दीक्षा ले ली।[2] वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर वे प्रभु-प्रेम से परिप्लावित

१—सूर-सारावली, पद-संख्या १००२ तथा सूरसागर १।६३, १०५, १७५।

२—विन्सेण्ट स्मिथ ने 'Akbar the Great Mugal' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ४२२ और ४३५ पर सूरदास को तानसेन का घनिष्ठ मित्र लिखा है। तानसेन के पिता मकरन्द पांडे स्वामी हरिदास के परम भक्त थे। यही स्वामी हरिदास तानसेन के संगीत गुरु थे और महात्मा सूरदास ने भी हमारी सम्मति में उन्हीं से संन्यास दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षा में गुरु संबंधी आयु की छुटाई बड़ाई पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है।

अपनी सरस संगीत-लहरी द्वारा वैष्णव भक्तों को मुग्ध करने लगे। गौघाट का आश्रम[1] दर्शकों की विश्रामस्थली बन गया। सूर रूपी सूर्य को केन्द्र बनाकर अनेक वैष्णव भक्त ग्रह पिंडों के रूप में उसके चारों ओर चक्कर काटने लगे। सूर जैसे संत की ख्याति दिग्दिगन्त में प्रसृत हो गई।

इसी समय महाप्रभु वल्लभाचार्य दक्षिण में दिग्विजय करके उत्तर की ओर आये और गंगा यमुना की घाटियों को अपने शुद्धाद्वैत के प्रचार से गुञ्जायमान करने लगे। पुष्टि सम्प्रदाय के प्रवर्तक इस आचार्य ने अपने इष्टदेव की आराधना के लिए गोवर्धन पर एक छोटे से मंदिर की प्रतिष्ठा भी कर दी थी। यह मंदिर श्रीनाथ मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। संवत् १५७६ में श्रीपूर्णमल खत्री ने इस मंदिर को बनवाकर पूर्ण किया। चौरासी वैष्णवों की वार्ता से प्रकट होता है कि आचार्य वल्लभ इसी संवत् के आसपास सूरदास के निवास स्थान गौघाट पर पहुँचे। वास्तव में सूर की ख्याति ही आचार्य को उनके पास खींच ले गई। उन्होंने श्रीनाथ मंदिर में अन्य सब प्रबन्ध सुचारु रूप से कर दिया था। केवल कीर्तन का प्रबन्ध करना अवशिष्ट था। संभवतः इसी कार्य का प्रबंध करने के लिए वे सूर के पास पहुँचे। पर, दैव का विधान, प्राक्तन जन्मों के संस्कार, अविगत की गति कौन जानता है? सूर की इस समय तक पर्याप्त आयु हो चुकी थी, फिर भी जीवन में शांति नहीं थी, तृप्ति नहीं थी, भक्ति करते हुए भी सुगति-प्राप्ति नहीं थी। सूर की बन्द आँखें खुलकर उस लीलामय के दर्शन करने को लालायित हो रही थीं। आचार्य वल्लभ का, ऐसी अवस्था में, उनके पास पहुँचना प्रभु-प्रदत्त वरदान के समान था।

सूरदास को अपने सेवकों द्वारा समाचार मिला कि दक्षिण में दिग्विजय करने वाले, भक्तिमार्ग के प्रतिष्ठाता, महाप्रभु वल्लभाचार्य गौघाट पर आये हैं। सूरदास ने एक सेवक से कहा कि जब आचार्य जी भोजन करके विराजमान हों, तब खबर करना, हम आचार्य जी का दर्शन करेंगे। जब महाप्रभु भोजनोपरांत गद्दी पर बैठे, सेवक ने सूरदास जी से जाकर निवेदन किया और उन्होंने चलकर आचार्य जी के दर्शन किये। आचार्य जी ने सूरदास को अपने पास बिठाया और उनसे भगवद् यश वर्णन करने के लिए कहा। सूर ने आचार्य जी की आज्ञानुसार—"हौं हरि सब पतितन को नायक" और "प्रभु मैं सब

१—चौरासी वैष्णवों की वार्ता में गौघाट की स्थिति आगरा और मथुरा के बीच मानी गई है। इस समय गौघाट रुनकता के समीप बहती हुई जमुना नदी का एक कच्चा घाट है।

पतितन को टीको"—इन दो टेकों से प्रारम्भ होने वाले पद गाये, जिन्हें सुनकर महाप्रभु बोले: "सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को है। कछु भगवद्लीला वर्णन करि।"[1] सूरदास ने कहा, "महाराज, मैं तो समझता नहीं।" तब आचार्यजी ने कहा, "जाओ, स्नान करके आओ।" सूरदास इसके पश्चात् स्नान करके आचार्य जी की सेवा में दीक्षा प्राप्त करने के लिए उपस्थित हुए। महाप्रभु ने उन्हें नाम सुनाया, समर्पण करवाया और दशम स्कंध की अनुक्रमणिका सुनाई। इससे सूरदास के सब दोष दूर हो गये और उन्हें सम्पूर्ण लीला स्फुरित हो गई। सिद्ध पुरुष वल्लभाचार्य से इस प्रकार नवधा भक्ति की सिद्धि और हरिलीला के दर्शन पाकर सूर ने अपने समस्त शिष्यों को आचार्य जी की सेवा में उपस्थित किया और सबको दीक्षा दिलवाई। गौघाट पर तीन दिन रहकर आचार्य जी सूरदास को साथ लेकर ब्रज की ओर चले गये।

गोवर्धन पहुँचकर आचार्य जी ने विचार किया: "जो श्रीनाथ जी के यहां और तो सब सेवा को मन्डान भयो। और कीर्तन को मंडान नाहीं कियो है, ताते अब सूरदास जी को दीजिये।"[2] ऐसा विचार करके उन्होंने सूरदास जी से श्रीनाथ जी का दर्शन करने के लिये कहा। श्रीनाथ जी का दर्शन करने के उपरांत सूरदास ने प्रथम विज्ञप्त (रचित) पद गाया जिसकी टेक थी: 'अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।' इस पद को सुनकर महाप्रभु जी ने फिर कहा: "सूरदास, तुममें कछू अविद्या रही नाहीं। तुम्हारी अविद्या तौ प्रभून ने दूर कीनी, ताते कछू भगवद्जस वर्णन करौ।"[3]

वार्ता के इस स्थल को पढ़ने से प्रतीत होता है कि आचार्य वल्लभ की यह भेंट सूर के जीवन का सर्वस्व बन गई। इसके पूर्व वे घिघियाते थे, विनय में लीन थे, दास्य भक्ति के पद बनाकर प्रभु को रिझाने का उद्योग करते थे और व्याकुल, अशान्त एवं अतृप्त थे। महाप्रभु से भेंट होने के उपरांत सूर का यह घिघियाना बन्द हो गया, व्याकुलता नष्ट हो गई, अशान्ति जाती रही तथा उल्लास और कर्तृत्व की एक अद्भुत छटा उनके पदों में प्रदर्शित होने लगी। सुबोधिनी के स्फुरित तथा लीला के अभ्यास के होने पर जब सूरदास ने महाप्रभु के आगे नन्द महोत्सव किया और 'ब्रज भयौ महर के पूत, जब यह बात सुनी।'—इस टेक वाला पद गाया तो आचार्य जी ने प्रसन्न

१—सन् १८८३ ई० की मथुरा की छपी चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ २८६।

२—वही चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ २६२।

३—वही चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ २६२।

होकर अपने श्रीमुख से कहा था—'सूरदास तौ मानों निकट ही हुते'। 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' को सुनकर सूरदास को सम्पूर्ण भागवत का ज्ञान हो गया और उन्होंने भागवत के प्रथम स्कंध से द्वादश स्कंध तक की लीला पर सहस्रों पद बनाये।[1] सूरदास के जीवन का यह कायाकल्प था।

आचार्य वल्लभ द्वारा जो 'ब्रह्म-सम्बन्ध' हुआ, उससे सूर के मानस चक्षुओं के सम्मुख हरिलीला का पवित्र चित्र अंकित हो गया। इसके पश्चात् उनकी वाग्धारा अबाध गति से वेगपूर्वक प्रवाहित होने लगी। इस धारा की कलकल में हरिलीला का मधुर स्वर गूंजने लगा। अव्याहत वेग इतना तीव्र हो गया कि एक-एक दिन में अनेक पद अपने आप निकलने लगे। पद-निर्माण की यह विद्युत् शक्ति उस अनन्त शक्ति के स्रोत से उद्भूत हुई थी, जिसके समीप सिद्ध पुरुष आचार्य वल्लभ ने सूरदास को पहुँचा दिया था और जिसका दर्शन पाकर वे भाव-विभोर हो गा उठे थे :

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कर्यौ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

सारावली १००२

इसके पश्चात् सूरदास जी ने हरिलीला के पद बनाये। उन्हीं के शब्दों में—"ता दिन तैं हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्द।"[2] जबसे आचार्य जी ने उन्हें हरिलीला का साक्षात् कराया, वे उसी के गायन में तन्मय हो गये। वैष्णव भक्त-मंडली तथा पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के अनुयायियों के मतानुसार उन्होंने सवा लक्ष पदों का निर्माण किया। चौरासी वार्ताकार के शब्दों में सूरदास जी ने कई सहस्र पदों की रचना की थी।[3] एक लक्ष पद बन्द का अर्थ हमने सूर सौरभ में एक लक्ष पद नहीं, किन्तु पदों के एक लक्ष बन्द लगाया है। एक लक्ष बन्द लगभग दश सहस्र पदों में आ सकते हैं। अभी तक सूर के जितने पद उपलब्ध हो सके हैं, उनकी संख्या सात हजार के ऊपर नहीं है। संभव है, अनुसंधान करने पर कुछ अन्य पद और उपलब्ध हो सकें। 'सूर निर्णय' के विद्वान लेखकों ने कुछ

१—चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ २९०।

२—सूर सारावली, छंद ११०३। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि सूर ने एक लक्ष्य होकर पद्यबद्ध रूप में या पदों में हरिलीला का गायन किया।

३—चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ २९३

सूर काव्य के दो भाग

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, आचार्य वल्लभ का मिलन सूर के काव्य क्षेत्र में एक विभाजक रेखा खींच देता है। उनसे मिलने के पूर्व जो पद बनाये गये थे, उनका प्रधान विषय विनय आदि था। मिलन के पश्चात् जो पद बने, वे प्रमुखतया हरिलीला से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार सूर द्वारा निर्मित पदावली दो भागों में विभाजित की जा सकती है : (१) विनय के पद और (२) हरिलीला के पद। विनय के पदों को हम निम्नांकित भागों में रख सकते हैं :

१—हठ योग और शिव साधना से सम्बन्ध रखने वाले पद।

२—निर्गुण भक्ति से प्रभावित पद।

३—वैष्णव भक्ति के दास्य भाव वाले विनय के पद।

४—सख्य भाव की भक्ति वाले पद।[1]

हठ योग और शिव साधना से सम्बन्ध रखने वाले पदों में आसन, प्राणायाम, बलिदान आदि का उल्लेख हुआ है। ये पद प्रारंभिक अवस्था में लिखे जान पड़ते हैं। निर्गुण भक्ति से प्रभावित पदों में जाति-पाँति, वेद आदि की निन्दा, ज्ञान-वैराग्य की सापेक्षता, सत्य पुरुष को बाहर न देखकर अन्दर देखना, मूर्ति-पूजा-विरोधी सन्तों के नामों का श्रद्धापूर्वक उल्लेख करना आदि कई बातें पाई जाती हैं। वैष्णव भक्ति के दास्य भाव वाले विनय के पदों में सूर के अशान्त किन्तु प्रपन्न हृदय की झलक दिखलाई देती है। सख्य भाव की भक्ति वाले पद भागवत भक्ति का प्रभाव पड़ने के उपरांत ही लिखे गये हैं। सुविधा के लिये हम इन सब का निरूपण तीन शीर्षकों में करेंगे :

१—सूरदास और नाथ पंथ।

२—सूरदास और कबीर पंथ।

३—सूरदास और वैष्णव सम्प्रदाय।

१—सख्य भाव के जो पद हरिलीला-गायन के अन्तर्गत आये हैं, वे अपनी [illegible] पद्धति में इन पदों से भिन्न हैं।

की कुछ लीलायें ऐसी भी हैं जो भागवत में नहीं मिलतीं, जैसे राधा कृष्ण की संयोग लीलायें, पनघट प्रस्ताव, दान लीला, खंडिता के पद, मान लीला, वसन्त, हिन्डोल और फाग आदि। यद्यपि ये लीलायें परम्परागत गीतों का प्रभाव सूचित करती हैं, फिर भी सूर ने उनमें अपनी मौलिकता का परिपूर्ण सन्निवेश कर दिया है। इन लीलाओं को स्वतन्त्र रचना का रूप दिया जा सकता है। कुछ लीलायें सूर ने दो-दो, तीन-तीन बार लिखी हैं। स्कंधों में आई हुई घटनाओं का चुनाव भी कवि ने अपने ढंग पर किया है। नवम स्कंध की राम गाथा के बाल-लीला-सम्बन्धी अंश सूर की रुचि के अनुकूल होने के कारण अत्यन्त रोचक और रमणीय बन पड़े हैं। सीता के वियोग वर्णन में भी कवि का मानस द्रवित हो उठा है। सम्भवतः विप्रलंभ शृंगार का वर्णन प्रेम की परिपक्वावस्था सूचित करने के लिए सूर को अनिवार्य जान पड़ता था और इसमें उसने अपनी विदग्ध एवं भाव-भरित कला का परिचय दिया भी अधिक है।

भगवान कृष्ण की लीलाओं का गायन सूर-काव्य का प्रधान विषय है। दशम स्कंध के पूर्वार्ध में कवि ने श्रीकृष्ण की बाल एवं किशोर अवस्थाओं के ऐसे रूप चित्रित किए हैं जिनमें भगवद्भक्तों के मन रमते रहे हैं। भगवान की ये लीलायें न केवल हमारी बाह्य इन्द्रियों की वृत्तियों को केन्द्रित करने में सफल हुई हैं, प्रत्युत हमारे आन्तरिक करणों की तन्मयता के लिए भी सहज साधन सिद्ध हुई हैं। इस प्रकार सूर सागर को हरिलीला का प्रधान काव्य कहा जा सकता है।

सूर सारावली और साहित्य लहरी भी हरिलीला से ही सम्बन्धित हैं और निश्चित रूप से ये दोनों ग्रन्थ आचार्य वल्लभ से भेंट होने के उपरान्त ही लिखे गये हैं। सूरसारावली श्रीमद्भागवत या सूर सागर का सैद्धांतिक सार होते हुए भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और एक विशिष्ट छंद में, होली के गाने के रूप में, लिखा गया है, जो हरिलीला के ही अन्तर्गत आता है। साहित्य लहरी भी एक स्वतन्त्र ग्रंथ है जो अलंकार और नायिका भेद का निरूपण करता है, पर विषय उसका भी राधा कृष्ण की लीलायें ही है। उसके अपने ही अन्तः साक्ष्य के आधार पर यह ग्रंथ नन्द दास के लिए निर्मित किया गया था।

सूर सारावली और साहित्य लहरी को सूर सौरभ में हमने अष्टछापी सूरदास की ही रचना स्वीकार किया है और अपने मत के समर्थन में सूर के ग्रंथों की एकता के प्रतिपादित करने वाले अनेक अन्तः साक्ष्य उपस्थित किये हैं। फिर भी इस युग के कतिपय विद्वान इन दोनों ग्रंथों को सूर कृत मानने में सन्देह करते हैं। श्री ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने प्रबन्ध सूरदास में सूर सागर और

सारावली की कथा-वस्तु में सत्ताईस अंतर दिखलाये हैं, जो उनकी दृष्टि में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन अंतरों के आधार पर आपका कथन है कि सारावली का कवि सूर सागर के कवि से भिन्न दृष्टिकोण रखता है, अतएव उससे भिन्न है। इस सम्बन्ध में आपकी दूसरी युक्ति यह भी है कि सूर सागर के रचयिता सूरदास अपने विषय में इतने मुखर और आत्म-विज्ञापक कहीं नहीं हुए, जितना सारावली का कवि दिखाई देता है। दोनों ग्रंथों में भाषा शैली की विभिन्नता भी आपको दिखाई देती है। सत्ताईस अंतरों के सम्बन्ध में, जो कथा-वस्तु-विषयक हैं, हम केवल यही कहेंगे कि ऐसे अंतर प्रत्येक कवि की विभिन्न रचनाओं में दिखाये जा सकते हैं। कवि का दृष्टिकोण प्रत्येक रचना के समय एक ही हो, यह आवश्यक नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास, हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त आदि कवियों की रचनाओं से इस विषय के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। रामचरित मानस, गीतावली, कवितावली और जानकी मंगल एक ही कवि की कृतियाँ हैं, परन्तु उनमें कथा-वस्तु-संबंधी अनेक अन्तर हैं, जिनका विवेचन हम 'सूर-सम्बन्धी-साहित्य' शीर्षक परिशिष्ट के एक प्रकरण में करेंगे। गीतावली और कवितावली में शैलीगत अंतर तो अत्यन्त स्पष्ट है। हरिऔध जी के चुभते चौपदे और प्रिय प्रवास की विभिन्न शैलियों को देखकर उनके रचयिता के एक होने में भविष्य का समालोचक संदेह कर सकता है; परन्तु सारावली और सूर सागर की भाषा-शैली में इतनी विभिन्नता तो किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं की जा सकती।

सारावली में कृष्णावतार की जो गाथा वर्णित है, उसका क्रम वैसा ही है, जैसा सूर सागर के अन्तर्गत है। कहीं-कहीं तो शब्द, पद तथा अलंकार दोनों ग्रंथों में ज्यों के त्यों, एक ही रूप तथा एक ही भाव को लिए हुए, रख दिये गए हैं। सारावली के छन्द ६७८ और ६७९ में सूर्य, शिव और दुर्गा की पूजा का वर्णन सूर सागर के दशम स्कंध में वर्णित शिव, सूर्यादि की पूजा के समान ही है। कथा-वस्तु और शैली से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी अनेक समानताएँ दोनों ग्रंथों में दिखलाई जा सकती हैं जो अत्यन्त मार्मिक और तथ्य-पूर्ण हैं। आत्म-विज्ञापन और मुखरता यदि सारावली के कवि के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है, तो वह सूर सागर में भी कम नहीं है। सारावली में कवि अपने संबंध में मुखर है, तो सूर सागर में उसका इष्टदेव। श्री ब्रजेश्वर जी ने अपने प्रबन्ध 'सूरदास' में पृष्ठ ११०, १११, ११२ और ११३ पर इस विषय के अनेक उद्धरण स्वयं प्रस्तुत कर दिये हैं। सारावली कम से कम सूर सागर के वहिरंग का अनुसरण करने की अवश्य चेष्टा करती है—इस तथ्य को वर्मा जी ने स्वयं अपने प्रबन्ध

के पृष्ठ ७६ पर स्वीकार किया है। इसी पृष्ठ पर आप यह भी स्वीकार करते हैं कि सूर सागर की उन लीलाओं के लिए जिन्हें भागवत से नहीं लिया गया है, सारावली के कवि ने सूर सागर का अनुसरण किया है। आपकी यह भी मान्यता है कि सारावली का कवि सारावली के साथ सूर सागर को भी शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने में प्रयत्न शील है। क्या ये बातें दोनों रचनाओं के एक ही रचयिता होने की ओर स्पष्ट रूप से संकेत नहीं करतीं ? सूर निर्णय के विद्वान लेखकों ने इस विषय में, हमारे ही पक्ष का समर्थन किया है।

'सूरदास' प्रबन्ध में साहित्य लहरी को भी सूर सागर के रचयिता की कृति नहीं माना गया है। इस प्रबन्ध के अनुसार साहित्य लहरी यद्यपि सूरसागर के उन पदों के अनुकरण में रची जान पड़ती है, जिनमें कवि की उच्च कवित्व शक्ति और काव्यकला का प्रदर्शन हुआ है, जिनकी भाषा परिमार्जित, प्रौढ़, समस्त-पद-युक्त और तत्सम-प्रधान हैं; परन्तु साहित्य लहरी की शैली शिथिल, असमर्थ, असंस्कृत और किसी अंश में असाहित्यिक है।[1] हमारी सम्मति में शैली-गत यह विभिन्नता ऐसा महत्वपूर्ण कारण नहीं है, जो सूर सागर और साहित्य लहरी को दो भिन्न कवियों की रचनायें मानने के लिए बाध्य करे। हरिऔध जी का रस कलश और चौपदे उनके जीवन के उत्तर अंश में प्रणीत हुए, परन्तु उनकी शैली प्रिय प्रवास की प्रौढ़, परिमार्जित एवं तत्सम-प्रधान शैली का अनुसरण नहीं करती। गोस्वामी तुलसीदास की सतसई में आये हुए दृष्टकूट के दोहे ऐसी शिथिल और असमर्थ शैली में लिखे गए हैं, जो तुलसीदासजी के अन्य ग्रंथों में दिखलाई नहीं देती। अतः शैली-संबंधी विभिन्नता के आधार पर साहित्य लहरी को सूर सागर के रचयिता से भिन्न किसी अन्य कवि की कृति नहीं माना जा सकता। साहित्य लहरी के वंश-परिचायक पद की प्रामाणिकता में श्री ब्रजेश्वर जी वर्मा का यह कथन महत्वपूर्ण है:

"जिस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कवि गण पुस्तकों की रचना तिथि का अंत में ही उल्लेख करते हैं, उसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि वंश आदि के संबंध में स्वकथन भी अंत में ही किया जाता है। और फिर, पदों के क्रम में हेर-फेर होना असंभव बात नहीं है।"[2] वर्मा जी का यह कथन पद की प्रामाणिकता का समर्थन करता है और वे साहित्य लहरी को उस सूरदास की रचना मानते हैं जिसका नाम वंश-परिचायक पद के अनुसार सूरजचंद था।

१— ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास पृष्ठ ६१

२— ब्रजेश्वर वर्मा, सूरदास पृष्ठ ६४

हमारी सम्मति में यह सूरजचंद कोई अपर सूरदास नहीं है। यह वही सूरदास है, जिसका उल्लेख साहित्य लहरी के पद में है और जिसका नाम सूरसागर के अनेक पदों के अंत में आता है। पद में उल्लिखित सूरजचंद का वैरागी अवस्था का ही नाम सूरजदास है। यही सूरज, सूर, सूर श्याम और सूरदास के नाम से प्रख्यात है।

इस प्रकार सारावली और साहित्य लहरी महाकवि सूरदास के ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और दोनों हरिलीला से सम्बन्ध रखते हैं। सारावली, जैसा हम सूरसौरभ में लिख चुके हैं, होली के बृहत् गान के रूप में लिखी गई है। इसमें हरि के जिन अवतारों का वर्णन है, उनमें भी होली खेलने की ही महत्ता प्रदर्शित हुई है। छंद संख्या ३५६ में कवि लिखता है:

यह विधि होरी खेलत खेलत बहुत भांति सुख पायो।
धरि अवतार जगत में नाना भक्तन चरित दिखायो॥

सारावली में व्रज वर्णन, कृष्ण जन्म, पूतना वध, शकट भंजन, तृणावर्त, चन्द्र दर्शन, घुटनों के बल चलना, माटी भक्षण, दामोदर लीला, अघासुर तथा बकासुर का वध, कालियनाग का कनक कमल का उल्लेख, कंस वध, भ्रमर गीत आदि हरिलीला-सम्बन्धी अनेक प्रसंग वर्णित हुए हैं। श्याम और श्यामा का नित्य रास जैसा सूरसागर में है, वैसा ही सारावली में है। आनन्दमयी हरिलीला का रसात्मक स्वरूप जिसमें निकुञ्ज के मंगला शृंगार, नित्यलीला, मान, वसंत, हिंडोल, वन विहार, यमुना स्नान आदि आते हैं, सारावली में सरस रूप से वर्णित हुआ है। यह सत्य है कि सारावली के कवि का ध्यान सिद्धांत पक्ष की स्थापना की ओर विशेष रूप से है और वह सैद्धांतिक दृष्टिकोण को लेकर ही इसकी रचना में प्रवृत्त हुआ है। चौरासी वार्ता के अनुसार महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूरदास को पुरुषोत्तम सहस्रनाम और श्रीमद्भागवत की दशविध लीलाओं का उपदेश दिया था। सारावली का निर्माण इन्हीं लीलाओं का बोध कराने के लिए हुआ है।

साहित्य लहरी की दृष्टकूट शैली सूरसागर के दृष्टकूट पदों का ही अनुसरण करती है। यह काव्यशास्त्र की पद्धति पर नायिका भेद, अलंकार और रसों की जटिल व्याख्या उपस्थित करती है। इसमें भी कृष्ण जन्म, अनुराग लीला, नायक का मान, खंडिता वर्णन, व्रत चर्या आदि उन कई विषयों का वर्णन है, जो पुष्टि सम्प्रदाय के महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। साहित्य लहरी के कतिपय पदों की टेक, शब्दावलि तथा भाव-राशि भी सूर सागर के ही समान है। इसके प्रणयन का मुख्य हेतु नन्ददास को काव्यशास्त्र की शिक्षा के साथ

हरिलीला की ओर उन्मुख करना था। सम्भवतः नंददास पहले राम-भक्त थे। जब वे पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए, तो गोस्वामी विट्ठल नाथ ने उन्हें कृष्ण भक्ति में तन्मय करने के लिए सूरदास की संगति में छः मास तक चंद्र सरोवर पर रखा था।[1]

सूरदास जी के नाम से और भी कई ग्रन्थ प्रख्यात हैं, पर उनमें से अधिकांश जैसे गोवर्धन लीला, दान लीला, दशम स्कंध भाषा, नाग लीला, सूर रामायण और भँवर गीत तो सूर सागर के ही भिन्न-भिन्न भाग हैं। सूर की कुछ स्वतंत्र अन्य रचनायें भी हैं, जिनमें सूर पचीसी और सूर साठी इस समय सूर सागर में ही सम्मिलित दिखलाई देती हैं। सेवा फल भी एक स्वतंत्र रचना है। मानलीला में मान संबंधी स्फुट पद पाये जाते हैं। राधा-रस-केलि-कौतूहल जिसका दूसरा नाम मानसागर भी है, ऐसी रचना है जिसमें मान का वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है। व्याहलो में राधा कृष्ण के विवाह का वर्णन है। इसके कुछ पद सूर सागर में पाये जाते हैं और सूर निर्णय के विद्वान लेखकों के अनुसार वल्लभ सम्प्रदाय की कीर्तन पुस्तकों में भी इसके कुछ पद उपलब्ध हैं। प्राणप्यारी का दूसरा नाम श्यामसगाई है। यह भी हरिलीला से ही सम्बन्ध रखती है और इसका अन्तर्भाव सूर सागर में होना चाहिये। यह रचना सम्प्रदाय के मंदिरों में राधाष्टमी के अनन्तर निश्चित समय में और निश्चित रूप से गाई जाती है।[2] कुछ स्वतन्त्र रचनायें आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व भी सूर ने लिखी होंगी, परन्तु विनय-सम्बन्धी पदों के अतिरिक्त जिनमें वैराग्यादि के पद, दीनता और स्वचरित्र सम्बन्धी कुछ उल्लेख हैं, अन्य रचनाओं के नाम अभी तक प्रकाश में नहीं आये। सम्भव है, एकादशी-माहात्म्य और राम जन्म इसी प्रकार की रचनायें हों। नल दमयन्ती किसी अन्य सूरदास की लिखी हुई है, जो हमारे सूरदास से निश्चित रूप से भिन्न है। सब रचनाओं पर विचार करते हुए हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास की वे रचनायें जो आचार्य वल्लभ से भेंट करने के पूर्व लिखी गई थीं, एक विशेष दृष्टिकोण रखती हैं, जिसका उल्लेख हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में कर चुके हैं। महाप्रभु से भेंट होने के उपरान्त की रचनायें, असंदिग्ध रूप से, हरिलीला-गायन से सम्बन्ध रखती हैं।

अपने गुरु आचार्य वल्लभ के प्रसाद से भगवद्‌लीला के दर्शन कर सूर ने भगवद्भक्ति का श्रीमद्भागवत से भी अधिक सजीव रूप भगवद्भक्तों के समक्ष उपस्थित कर दिया। गोपाल की इतनी अधिक बाल-केलियाँ श्रीमद्भागवत में कहाँ हैं? राधा और भ्रमर गीत वाला प्रसंग जो कहीं रुलाता है, कहीं हँसाता है, कहीं उच्छ्‌वसित करता है और कहीं व्यंग्य की विकट चोट से मन को इधर से उधर कर देता है, इतने अधिक मर्मस्पर्शी रूप में सूर सागर में ही है। श्रीमद्भागवत में तो उसे अतीव संक्षिप्त रूप में प्रकट कर दिया गया है।
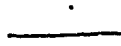
त्मिक तथा मनोवैज्ञानिक है।[1] ये वेद क्या परा विद्या अथवा ब्रह्मविद्या से एकान्ततः शून्य थे, जो उपनिषद् के ऋषि द्वारा अपरा विद्या में सम्मिलित किये गये ?

वेद वस्तुतः ब्रह्म-विद्या-परक हैं। आस्तिक परम्परा उनमें समस्त विद्याओं के बीज मानती रही है, पर ब्रह्मविद्या अत्यन्त पवित्र एवं गोपनीय विद्या है। सामान्य मानव उसको ग्रहण करने में असमर्थ है और यदि ग्रहण कर भी ले, तो अपनी अधोगामी प्रवृत्तियों के कारण उसका दुरुपयोग कर सकता है। इस प्रकार इस विद्या के विकृत हो जाने का भय रहता है। यही कारण है कि वेदकालीन ऋषियों ने उसे दो रूपों में प्रकट किया। एक रूप आन्तरिक था, दूसरा बाह्य। बाह्य रूप में यज्ञादि द्वारा पूजा की विधि रखी गई थी, जो लौकिक एवं सामान्य प्राणियों के लिये उपयोगी होने के साथ ही दीक्षित साधकों के लिए आन्तरिक अनुशासन का काम देती थी। आन्तरिक रूप में वह अध्यात्म पथ के पथिकों को प्रकाशमार्ग दिखलाती थी। इस प्रकार उनका एक स्थूल अर्थ लगता था और दूसरा सूक्ष्म। स्थूल अर्थ तो परम्परा द्वारा प्रचलित रहा, पर सूक्ष्म अर्थ गुह्य होने के कारण कालान्तर में तिरोहित हो गया। उपनिषद युग के ऋषियों ने उसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न तो किया, पर अपने ढंग से। उन्होंने अपने विचारों के प्रतिपादन में अनेक बार "तदेष श्लोकः" (प्रश्नोपनिषद् ४।१०) "इति वेदानुवचनम्" (तैत्तिरीय १।१०) आदि कहकर वेदों की दुहाई दी है, फिर भी वेदों का याज्ञिक कर्म-काण्ड वाला स्थूल रूप ही प्रधान रूप से उनके समक्ष रहा है और इसी हेतु वे वेदों को अपरा विद्या के अन्तर्गत रखते हैं।

वैदिक ऋषियों ने आन्तरिक एवं बाह्य, आत्मिक एवं लौकिक जीवन में जो संतुलन स्थापित किया था, वह उपनिषद युग के आते-आते अस्त-व्यस्त हो चुका था। उपनिषदों को वेदान्त (वेद = ज्ञान, उसका अन्त अर्थात् चरम, अन्तिम सीमा) कहा जाने लगा था। इन प्रवृत्ति ने वैदिक कर्मकाण्ड की ही नहीं, मूल वेद की उपयोगिता को भी अप्रचलित करना चाहा। मूल वेद को कंठस्थ करने वाला कर्मकाण्डियों का वर्ग जो प्रारम्भ में पुरोहित, शिक्षक और अध्यात्म ज्ञान की निधि बना हुआ था, वैदिक ऋषियों की विचारप्रणाली से दूर जा पड़ा था। यद्यपि उनका दिव्य अन्तर्ज्ञान धुंधला हो गया था, तो भी इस वर्ग ने वेदों का साथ नहीं छोड़ा। पुरोहित वेदों का पल्ला पकड़े रहे,

---

१—[illegible] पृष्ठ [illegible], प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण।

अतः वेद पुरोहितों तक ही सीमित रह गये और उपनिषद् अथवा वेदान्त ग्रन्थों की सम्पत्ति कहे जाने लगे। जैन और बौद्ध मतों ने इस पद्धति का और भी अधिक पोषण किया। परिणामतः ब्रह्मविद्या ब्राह्मणों के हाथ से निकल कर साधक सन्तों के हाथ में चली गई। भगवद् गीता ने कई स्थानों पर कर्म काण्ड के नाम से प्रचलित वेद और उनके रक्षक ब्राह्मणों को ब्रह्मविद्या और उसके वेत्ताओं से निम्न स्थान पर रखा है।[1] जब वेद अपरा विद्या के अन्तर्गत मान लिये गये, तो ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु उनका पारायण करने के लिये क्यों लालायित होते ?

एक बात और भी थी। परा विद्या का तात्पर्य पुस्तक-सम्बन्धी ज्ञान नहीं समझा जाता था। परा विद्या का अर्थ साधना से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान था। यह साधनिक ज्ञान सैद्धान्तिक ज्ञान से भिन्न था। यह क्रियात्मक या प्रयोगात्मक ज्ञान था और उस पथ के पारदर्शी गुरुओं से ही सीखा जा सकता था। अतः ऐसे पथ के पथिक के लिये किसी पुस्तक का पढ़ना आवश्यक नहीं था। आवश्यक था गुरु के चरणों में बैठकर साधना सम्बन्धी क्रियाओं का अभ्यास करना। वेद के पठन-पाठन की ओर इस कारण भी प्रवृत्ति कम होती गई।

बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक युग एक भीषण क्रान्ति को लेकर अग्रसर हुए थे, जिसमें पड़कर अनेक प्राचीन परिपाटियाँ ध्वस्त हो गई थीं। अभिनव निर्माण में प्रचलित लोक-भाषा का प्रयोग एक महत्वपूर्ण प्रयोग था। इस प्रयोग का अनुकरण साधना-पथ के प्रायः सभी सन्तों ने किया। लोक-भाषा में ही जब अलौकिक ज्ञान प्राप्त होने लगा, तो वेद के दुर्गम, दुरूह प्रतीकों के आवरण में आच्छादित, संदिग्ध ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न कोई क्यों करता ? पुरोहितों ने याज्ञिक क्रियाओं की वीभत्सता से जनता को वैसे ही विरक्त कर रखा था; अतः सन्तों की चमत्कारपूर्ण साधनिक क्रियायें लोक के लिए रुचिकर एवं आकर्षक सिद्ध होती गईं। ब्राह्मणों के प्रति सम्मान की भावना बनी रही, पर सन्तों के प्रति आदर भाव दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया।[2]

१—श्रीमद्भगवद्गीता २, २८।४२, ४५, ४६, ५३।

२—बांभन गुरू जगत का साधू का गुरु नाहिं। कबीर

पिता तुम्हार राजकर भोगी। पूजै विप्र मरावैं जोगी। जायसी

इन्हीं सन्तों में नाथपंथ के सन्तों की गणना है। नाथपंथ मूलतः एक योग-सम्प्रदाय है, जिस पर बौद्ध एवं शैव दोनों मतों का प्रभाव पड़ा है। बौद्ध धर्म ने नागार्जुन के समय में महायान का रूप धारण किया। कालान्तर में महायान मंत्रयान में और मंत्रयान वज्रयान में परिणत हो गया। यही वज्रयान बौद्ध तन्त्रवाद के नाम से भी प्रख्यात है। सिद्ध मत के ८४ सिद्ध इसी तन्त्रवाद की देन हैं। इनका विचार था कि हठयोग की साधना और कुण्डलिनी के जागरण द्वारा महासुख की प्राप्ति होती है। शैव मत में भी हठयोग का विशेष प्रचार रहा है। नाथपन्थ वाले शिवजी को ही हठयोग का प्रथम प्रचारक और आदिनाथ मानते हैं। नाथपंथ के बहुत पूर्व से ही योगधारा चली आ रही थी। तन्त्रशास्त्र का भी इस योगधारा से सीधा सम्बन्ध था। इस योगधारा के अभिनव रूप के प्रतिष्ठाता गुरु गोरखनाथ शैव थे। वे पहले बौद्ध थे, ऐसा भी कहा जाता है। गुरु गोरखनाथ नाथ परम्परा में तीसरे स्थान पर आते हैं।

नाथपन्थ में श्रुति-स्मृति-विहित आचारों को कोई महत्व नहीं दिया जाता।[1] यौगिक क्रियाओं द्वारा कर्म-सम्पत्ति को भस्म करते हुए अनिर्वाच्य पद (स्वात्मप्रकाश) की प्राप्ति करना इसका ध्येय रहता है, जो सभी साधना पथों में एक जैसा है।[2]

सूर ने योगादि क्रियाओं का वर्णन किया है। वे वैष्णव धर्म में दीक्षित होने से पूर्व अपनी प्रारम्भिक आयु में शैव थे। शैवों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हठयोग के नाथ है। अतः हठयोग की कतिपय बातें उनके ऐसे पदों में आ गई हैं, जो आचार्य वल्लभ से मिलने के पूर्व लिखे गये थे। उदाहरण के लिये नीचे लिखे पद पर विचार कीजिये :

भक्ति पन्थ को जो अनुसरै। सो अष्टांग योग को करै॥
यम, नियमासन, प्राणायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम॥
प्रत्याहार, धारना, ध्यान। करै जु छांड़ि वासना आन॥
क्रम क्रम करिकै करै समाधि। सूरश्याम भजि मिटै उपाधि॥
(सूरसागर, ना० प्र० स० ३६४)

१—इस पन्थ के अनुयायी श्रुति को अध्यात्म मार्ग में साधिका भी नहीं मानते।

२—सूर ने भी श्रुति को कहीं महत्व नहीं दिया है और वर्णाश्रम के आचार व्यवहार को भी गौण ही समझा है। इस विषय पर हम आगे विस्तारपूर्वक लिखेंगे।

इस पद में अष्टांग योग का वर्णन है। भगवद्भक्ति—परक श्रीमद्भागवत और गीता आदि में भी अष्टांग योग की महत्ता प्रदर्शित की गई है। सूर ने भी इसका उल्लेख कर दिया है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे यौगिक क्रियाओं को विशेष महत्व नहीं देते थे। वे इन क्रियाओं को भक्ति-पथ के अवलम्बन करने वाले सन्तों के लिये ही कल्याणकारी समझते थे। ऊपर उद्धृत पद की ये पंक्तियाँ स्पष्टता पूर्वक इस तथ्य की घोषणा करती हैं:—

१—भक्ति पन्थ को जो अनुसरे ॥

२—सूरश्याम भजि मिटै उपाधि ॥

दूसरी पंक्ति से शिवभक्ति नहीं, कृष्णभक्ति ही प्रकट हो रही है। पर, सूर शैव सम्प्रदाय में रहे थे और उसके विधानों के अनुकूल उन्होंने तपश्चर्या भी की थी, इसका उल्लेख सूरसारावली की नीचे लिखी पंक्तियों में हुआ है:

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ वर्ष प्रवीन।
शिव विधान तप कर्‌यो वहुत दिन तऊ पार नहिं लीन ॥

सूरसागर दशम स्कन्ध के ८०५ से लेकर ८०८ संख्या तक के पदों में सूर ने कुछ देवताओं की स्तुतियाँ लिखी हैं, जिनमें शिव की पूजा का विधान भी वर्णित है। ८०५ और ८०६ पदों की टेकें क्रमशः इस प्रकार हैं:

गौरीपति[1] पूजति ब्रजनारि।

(सूरसागर, ना० प्र० स० १३८४)

शिवसों विनय करति कुमारि ॥

(सूरसागर, ना० प्र० स० १३८५)

पर शिव पूजा का यह विधान भी कृष्ण-प्राप्ति के लिए किया गया है। विशुद्ध रूप से शिव पूजन का वर्णन भी सूरसागर में मिलता है, जैसे—

नंद सब गोपी ग्वाल समेत।
गये सरस्वती के तट एक दिन
शिव अम्बिका पूजा हेत ॥ पद ९२

(विद्याधर शापमोचन, वृन्दावन विहार, शंख चूड़ दानव वध वर्णन—दशम स्कंध पृष्ठ ५२९ वे० प्रेस-सूरसागर द्वितीय संस्करण स० १९९१)।

१—भागवत की गोपियाँ शिव की नहीं, कात्यायनी देवी की पूजा करती हैं।

शैव, शाक्त एवं कापालिक तीनों सम्प्रदाय एक ही मत की भिन्न-भिन्न शाखायें थीं। ये कापालिक और शाक्त घोर हिंसापरक थे और शिव तथा शक्ति की पूजा करते थे। सूर ने नीचे उद्धृत पद में इनकी हिंसापरक प्रवृत्ति का इस प्रकार वर्णन किया है :

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जौ दिखावहु नाहिं नें रुचि आन॥
जरत ज्वाला, गिरत गिरि तें, सुकर काटत सीस।
देखि साहस, सकुच मानत राखि सकत न ईस॥
कामना करि कोपि कबहूँ करत कर पसु घात।
सिंह सावक जात गृह तजि, इन्द्र अधिक डरात॥
जा दिना तें जन्म पायौ यहै मेरी रीति ॥१।४७

(सूरसागर, ना० प्र० स० १०६)

सूर कहते हैं : भगवान अब आपकी भक्ति के अतिरिक्त मुझे अन्य किसी भी वस्तु में रुचि नहीं रही है। असंख्य ऐश्वर्यों का लालच आप दिखावें, तो उन्हें तो मैं खूब देख चुका हूँ; यहाँ तक कि छक चुका हूँ। इनकी ज्वाला ही तो आज मुझे जला रही है। शिवाराधन में बड़े-बड़े साहस के कार्य कर चुका हूँ। जब से जन्म लिया, तब से ऐसे ही तो कुछ ऊटपटांग कार्य करता रहा—पशुओं को काटना, यज्ञ करना, बलिदान चढ़ाना, पंचाग्नि तपना, अपने हाथ से शिर काटकर महादेव के चरणों में समर्पित करना, पर्वत से गिरना और इन कार्यों से इन्द्र को शंकित करना—पर अब नहीं, अब इनमें से कुछ भी नहीं चाहिए।

इन शब्दों द्वारा सूर ने अपनी पूर्वकालीन शैव-सम्प्रदायगत भावना का स्पष्टतापूर्वक वर्णन कर दिया है। पर वे शैव मत के विधानों से असंतुष्ट होकर [illegible] गए और पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् वे शैवों और नाथपंथियों के घोर विरोधी बन गये।

गोरखनाथ के मत में योगी के चिन्ह मुद्रा, नाद, विभूति और आदेश माने गये हैं। मुद्रा कुण्डल हैं जो कान फाड़कर पहनाये जाते हैं। नाद को अनाहद और शृंगी नाम से पुकारा जाता है। विभूति भस्म रमाना और [illegible] धारण करना है। आदेश मूल मंत्र या मुख्य उद्देश्य है। सूर ने भ्रमर-गीत के [illegible] पदों में इनकी खूब खिल्ली उड़ाई है और योग को निरर्थक [illegible] दो पदों से सूर की यह भावना स्पष्ट हो जाती है:—

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ।
मन वच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम योग तप साध्यौ॥
मात पिता हित, प्रीति निगम पथ, तजि दुख सुख भ्रम नांख्यौ।
मान अपमान परम परितोषी, अस्थिर थित मन राख्यौ॥
सकुचासन कुल सील करषि करि जगतवंद्य करि वंदन।
मान अपवाद पवन अवरोधन, हितक्रम काम निकन्दन॥
गुरुजन कानि अगिनि चहुँ दिसि, नभ तरनि ताप बिनु देखे।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ, अपजस स्रवन अलेखे॥
सहज समाधि बिसारि वपु करी, निरखि निमेस न लागत।
परम ज्योति प्रति अंग माधुरी, धरत यहै निसि जागत॥
त्रिकुटी संग भ्रूभंग तराटक नैन नैन लगि लागे।
हंसन प्रकास सुमुख कुण्डल मिलि चन्द्र सूर अनुरागे॥
मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि अनहद शब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि बचन-संग सुख पद आनन्द समाने॥
मंत्र दियौ मन जात भजन लगि ज्ञान ध्यान हरि ही कौ।
सूर कहौ गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फीकौ॥

सूरसागर, पृष्ठ ५१४, पद १४। (ना० प्र० स० ४१४८)

गोपियाँ कहती हैं: उद्धव हमने अपने मन-वचन-कर्म से हरि को स्वामी समझकर प्रेम के योग और तप की साधना की है। तुम्हारे योग से हमारा प्रेमयोग किसी भी प्रकार कम नहीं है। हमने माता-पिता का प्रेम छोड़ा है, वेद-पथ का परित्याग किया है और दुख-सुख, मान-अपमान आदि समस्त द्वन्द्वों को सहन किया है। मन की अचल स्थिति कृष्ण में की है और उन्हें जगद्वंद्य समझकर वन्दना की है। संकोच या लज्जा ही हमारा आसन और कुल-शील ही कंडों की अग्नि है।[1] मानापवाद का सहन करना ही प्राणायाम और हमारे प्रेम का क्रम ही काम-संयम है। हमने गुरुजनों की लज्जा रूपी अग्नि को तापा है और उपहास रूपी धूम्र का पान किया है। शरीर की सुधि-बुध भुलाकर हमने समाधि की एकतानता सिद्ध की है और हमारी अपलक दृष्टि कृष्ण में निहित है ही। परम ज्योति का प्रकाश कृष्ण के अंग-माधुर्य में दिखलाई देता है और मुरली-ध्वनि का श्रवण ही अनाहत नाद का श्रवण है। हमारे नेत्र कृष्ण के नेत्रों की ओर लगे हैं, यही त्रिकुटी और

१—करषि=कस्सी या कंडा। परसि पाठ होने पर परसना या भेंट चढ़ाना अर्थ होगा।

सूरदास और कबीर पंथ

भक्ति के तृतीय उत्थान काल में हमने बौद्ध और भागवत धर्म का एक दूसरे पर पड़ा हुआ प्रभाव दिखलाया है। बौद्ध धर्म में इस प्रभाव के कारण मूर्ति पूजा का प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म ने भी वर्णाश्रम-प्रधान हिन्दू धर्म को बड़ा धक्का पहुँचाया, जिसके परिणाम स्वरूप जातिगत बन्धन ढीले हो गये। श्रीमद्भागवत और गीता के उद्धरण देकर हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि वर्णाश्रम-मर्यादा तथा शास्त्रीय विधि-विधानों का मानना भागवत धर्म में भी परम आवश्यक नहीं रहा था। साधारण जनता बौद्ध तथा भागवत दोनों धर्मों के सम्मिलित रूप से अधिक प्रभावित हो चुकी थी। बाह्य आचार के स्थान पर आन्तरिक साधना का महत्व स्थापित हो गया था।

सूर के काव्य काल से पूर्व की चार-पाँच शताब्दियाँ इसी आन्तरिक साधना के विकास में लीन थीं। वज्रयान के चौरासी सिद्ध बंगाल के सहजिया और बाउल सम्प्रदायों के रूप में अपना प्रभाव छोड़ गये थे। गोरखनाथ द्वारा बढ़ावा पाकर नाथ सम्प्रदाय भी जनता को आकर्षित करने लगा था—इसका कुछ वर्णन हम विगत परिच्छेद में कर चुके हैं। इसी के साथ निरंजनी पंथ का भी प्रचार हुआ। इन पंथों के अनुसार आत्मा की खोज में कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं थी। वह अपने ही अन्दर व्यापक है। हठयोग की कतिपय क्रियायें भी इनमें प्रचलित थीं। इनके अनुयायी बहु-देव-पूजा के विरोधी तथा बाह्य-विधि-निषेध-परक वर्ण-धर्म-सम्बन्धी संकीर्णताओं के शत्रु थे। वेद में भी इनका विश्वास नहीं था; पर सदाचार, आत्मसंयम, युक्ताहार-विहार आदि में इनकी वैसी ही श्रद्धा थी, जैसी जैन-बौद्धादि निवृत्ति-परायण सम्प्रदायों में प्रचलित रही थी।

कबीर ने इनकी आन्तरिक अनुभूति, रूढ़ि-विरोध, स्पष्टवादिता, अलख-निरंजन-सत्ता आदि बातों को ज्यों का त्यों अपना लिया। इस प्रकार कई शताब्दियों तक एक आन्तरिक साधना तथा विचार-धारा का जो क्रमशः विकास होता रहा था, संत कबीर में वह अपनी चरम अवस्था को प्राप्त हुआ। मुसलमानों

के सूफी सम्प्रदाय पर भी इस साधना और विचार-धारा का प्रभाव पड़ा था। जायसी ने गोरख का कई स्थानों पर नाम लिया है और त्याग, सत्य, समर्पण आदि तत्वों में अपनी आस्था प्रकट की है।

इन तत्वों के साथ-साथ कबीरपंथ में भागवत भक्ति से ग्रहण किए हुये प्रेम और भक्ति के तत्वों की भी प्रधानता थी। कबीर ने लिखा है:—

नैना अन्तरि आव तू, ज्यूं हौं नैन झंपेउ।
ना हौं देखौं और कौं, ना तुझ देखन देंउ॥
मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग॥

अन्य सन्तों ने भी इसी प्रकार की उक्तियाँ लिखी हैं, जैसेः—

प्रेम पंथ सिर देइ तौ छाजा॥
तथा
जिहि तन पेम कहां तेहि माया॥ 'जायसी'
अन्तर चोट बिरह की लागी, नख सिख चोट समाणी॥ 'हरिदास'
सुरति सुहागिणि सुन्दरी, वरयौ ब्रह्म भरतार।
आन दिसा चितवै नहीं, सोधि लियो करतार॥ 'सेवादास'
ज्यूं चात्रिग घन कूं रटै, पीव पीव करै पुकार।
यूं राम मिलन कूं विरहनी, तरफै वारम्वार॥
प्रेम भक्ति विन जप तप ध्यान, रूखे लागैं सहज विग्यान।
तुरसी प्रेम भक्ति उर होइ, तव सवही मत सांचे जोय॥ 'तुरसीदास'

नाथपंथ शिव को आदि गुरु मानकर चला था, पर कबीरपंथ में शिव को कोई महत्व प्राप्त न हो सका। हाँ, मुण्डक उपनिषद् के ऋषि ने जो अपरा और परा विद्या की बात लिखी थी, वह नाथपंथ क्या, आन्तरिक साधना के इन सभी पंथों में स्वीकृत हो चुकी थी। नाथपंथ के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं: स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञादि का विधान करते हैं। योगियों को इनसे कोई वास्ता नहीं। उनका सम्बन्ध सूक्ष्म वेद से है— वेदों के मूलभूत ओंकार मात्र से है,[1] क्योंकि ओंकार ही वेद का सार है। कबीरपंथ में भी स्थूल और सूक्ष्म वेद की कल्पना की गई है। "कबीर मत में कबीर की

१— अवधू सबदसो ऊं जोति सो आप। सुंनि सोई माई चेतनि बाप॥

पृष्ठ १६८, गोरख बानी

कूट वाणी सूक्ष्म ऋग्वेद है, टकसार वाणी सूक्ष्म यजुर्वेद है, मूल ज्ञान वाणी सूक्ष्म सामवेद है और बीजक वाणी सूक्ष्म अथर्व वेद है।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि संतों ने सूक्ष्म वेद से स्वसंवेद्य परा विद्या का अर्थ लिया है और स्थूल वेद से उन्होंने उपनिषद् में कथित अपरा विद्या वाले वेद ग्रहण किये हैं।

विगत परिच्छेद में हम इस बात की ओर भी संकेत कर चुके हैं कि परा विद्या, अध्यात्म विद्या या आन्तरिक साधना से सम्बन्ध रखने वाले पंथों में पुस्तकी विद्या का कोई महत्त्व नहीं था। यही क्यों, इनमें पाण्डित्य-प्रियता को, पढ़ने-लिखने तक को हेय समझा जाता था। गोरक्षसिद्धान्त संग्रहकार ने लिखा है :

गृहे-गृहे पुस्तक भार-भाराः पुरे पुरे पंडित यूथयूथाः।
वने-वने तापस वृन्द वृन्दाः न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्ता ॥
अनेक शत संख्याभिः तर्क व्याकरणादिभिः।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाश रूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥

गरुड़ पुराण, उत्तर खंड, द्वितीयांश धर्म काण्ड, अध्याय ४६ में भी इसी भाव का अभिव्यंजन करने वाली पंक्तियाँ मिलती हैं, यथा:—

वेदागम पुराणज्ञः परमार्थम् न वेत्ति यः।
विडम्बकस्य तस्यैव तत्सर्वम् काक भाषितम् ॥७३॥
शिरो वहति पुष्पाणि गंधं जानाति नासिका।
पठन्ति वेद शास्त्राणि दुर्लभो भाव बोधकः ॥७९॥
गोपः कक्षा गते छागे कूपं पश्यति दुर्मतिः।
तत्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति ॥८०॥

जिसने वेद, शास्त्र और पुराणों को पढ़ लिया है, परन्तु परमार्थ तत्त्व को नहीं जाना, विडम्बना से भरे हुए उस व्यक्ति का समस्त कथन काक-भाषित से अधिक अर्थ नहीं रखता। शिर पर फूल रहते हैं, परन्तु उनकी गन्ध का ज्ञान नासिका को ही होता है। इसी प्रकार वेद-शास्त्र के पढ़ने वालों से उनके भाव का ज्ञाता पृथक और दुर्लभ है। बकरा ग्वाले की बगल में दबा है, परन्तु वह दुर्मति उसे कुएँ में देखता फिरता है। इसी प्रकार परमार्थ तत्व

१—हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर पृष्ठ ५६ द्वितीय संस्करण।

अपने ही अन्दर विद्यमान है, परन्तु उसे न जानकर मूढ़ पुरुष व्यर्थ ही शास्त्रों से मोह करता है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में इसी भाव को अभिव्यंजित करने के लिए कहा गया था। "घर घर में पुस्तकों का ढेर लगा है, नगर-नगर में पंडितों की मंडली विद्यमान है। वन-वन में तपस्वियों के झुंड के झुंड हैं, परन्तु सच्चा कर्मकर्ता या ब्रह्मवेत्ता कहीं भी दिखलाई नहीं देता। जो व्यक्ति असंख्य तर्क, व्याकरणादि शास्त्रों के जाल में फँसे हुए हैं, वे बुद्धिवाद से विमोहित हो रहे हैं। जिस अनिर्वचनीय पद की व्याख्या करने में देवता भी असमर्थ हैं, वह आत्म-प्रकाश-तत्व शास्त्र के द्वारा किस प्रकार प्रकाशित हो सकता है?"

कबीर भी इन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं:—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ॥
कबीर पढिबा दूरि करि, पुस्तक देह बहाइ।
बामन आखिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ॥

तथा

तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चन्दन जैसैं भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं अंति पड़ै मुखि छारा॥

पुस्तकें पढ़ने से भी क्या कभी कोई पंडित हुआ है? पंडित वह है जिसने प्रभु-प्रेम का एक अक्षर पढ़ लिया है। वेद और पुराणों के पढ़ने का भार मनुष्य के ऊपर वैसा ही है, जैसा गधे के ऊपर चंदन का बोझ। जिसने राम-नाम के तत्व को नहीं समझा, उसके मुख पर अन्त में धूल ही पड़ती है।

सूरदास ने भी कई स्थानों पर वेद को भगवद्भक्ति से, प्रभु कृपा से, नीचा स्थान दिया है। नीचे लिखे पदों की पंक्तियाँ इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं:—

निगम ते अगम हरि कृपा न्यारी।
प्रीति वश श्याम की, राइ कै रंक कोउ,
पुरुष कै नारि नहिं भेद कारी ॥७५०॥ पृष्ठ १९१

सूरसागर (ना० प्र० स० २६३५)

धनि शुक मुनि भागवत बखान्यों।
जो रस राग रंग हरि कीन्हे, वेद नहीं ठहरान्यों ॥५७॥ पृष्ठ ३६०

सूरसागर (ना० प्र० स० ७१६१)

कूट वाणी सूक्ष्म ऋग्वेद है, टकसार वाणी सूक्ष्म यजुर्वेद है, मूल ज्ञान वाणी सूक्ष्म सामवेद है और बीजक वाणी सूक्ष्म अथर्व वेद है।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि संतों ने सूक्ष्म वेद से स्वसंवेद्य परा विद्या का अर्थ लिया है और स्थूल वेद से उन्होंने उपनिषद् में कथित अपरा विद्या वाले वेद ग्रहण किये हैं।

विगत परिच्छेद में हम इस बात की ओर भी संकेत कर चुके हैं कि परा विद्या, अध्यात्म विद्या या आन्तरिक साधना से सम्बन्ध रखने वाले पंथों में पुस्तकी विद्या का कोई महत्व नहीं था। यही क्यों, इनमें पाण्डित्य-प्रियता को, पढ़ने-लिखने तक को हेय समझा जाता था। गोरक्षसिद्धान्त संग्रहकार ने लिखा है :

गृहे-गृहे पुस्तक भार-भाराः पुरे पुरे पंडित यूथयूथाः।
वने-वने तापस वृन्द वृन्दाः न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्ता ॥
अनेक शत संख्याभिः तर्क व्याकरणादिभिः।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाश रूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥

गरुड़ पुराण, उत्तर खंड, द्वितीयांश धर्म काण्ड, अध्याय ४९ में भी इसी भाव का अभिव्यंजन करने वाली पंक्तियाँ मिलती हैं, यथाः—

वेदागम पुराणज्ञः परमार्थम् न वेत्ति यः।
विडम्बकस्य तस्यैव तत्सर्वम् काक भाषितम् ॥७३॥
शिरो वहति पुष्पाणि गंधं जानाति नासिका।
पठन्ति वेद शास्त्राणि दुर्लभो भाव बोधकः ॥७९॥
गोपः कक्षा गते छागे कूपं पश्यति दुर्मतिः।
तत्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढ़: शास्त्रेषु मुह्यति ॥८०॥

जिसने वेद, शास्त्र और पुराणों को पढ़ लिया है, परन्तु परमार्थ तत्व को नहीं जाना, विडम्बना से भरे हुए उस व्यक्ति का समस्त कथन काक-भाषित से अधिक अर्थ नहीं रखता। शिर पर फूल रहते हैं, परन्तु उनकी गन्ध का ज्ञान नासिका को ही होता है। इसी प्रकार वेद-शास्त्र के पढ़ने वालों से उनके भाव का ज्ञाता पृथक और दुर्लभ है। बकरा ग्वाले की बगल में दबा है, परन्तु वह दुर्मति उसे कुएँ में देखता फिरता है। इसी प्रकार परमार्थ तत्व

१—हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर पृष्ठ ५६ द्वितीय संस्करण।

अपने ही अन्दर विद्यमान है, परन्तु उसे न जानकर मूढ़ पुरुष व्यर्थ ही शास्त्रों से मोह करता है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में इसी भाव को अभिव्यंजित करने के लिए कहा गया था। "घर घर में पुस्तकों का ढेर लगा है, नगर-नगर में पंडितों की मंडली विद्यमान है। वन-वन में तपस्वियों के झुंड के झुंड हैं, परन्तु सच्चा कर्मकर्ता या ब्रह्मवेत्ता कहीं भी दिखलाई नहीं देता। जो व्यक्ति असंख्य तर्क, व्याकरणादि शास्त्रों के जाल में फँसे हुए हैं, वे बुद्धिवाद से विमोहित हो रहे हैं। जिस अनिर्वचनीय पद की व्याख्या करने में देवता भी असमर्थ हैं, वह आत्म-प्रकाश-तत्व शास्त्र के द्वारा किस प्रकार प्रकाशित हो सकता है?"

कबीर भी इन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं:—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का, पढ़े सु पंडित होइ॥
कबीर पढिवा दूरि करि, पुस्तक देह बहाइ।
बामन आखिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ॥

तथा

तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चन्दन जैसें भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं अंति पड़ै मुखि छारा॥

पुस्तकें पढ़ने से भी क्या कभी कोई पंडित हुआ है? पंडित वह है जिसने प्रभु-प्रेम का एक अक्षर पढ़ लिया है। वेद और पुराणों के पढ़ने का भार मनुष्य के ऊपर वैसा ही है, जैसा गधे के ऊपर चंदन का बोझ। जिसने राम-नाम के तत्व को नहीं समझा, उसके मुख पर अन्त में धूल ही पड़ती है।

सूरदास ने भी कई स्थानों पर वेद को भगवद्भक्ति से, प्रभु कृपा से, नीचा स्थान दिया है। नीचे लिखे पदों की पंक्तियाँ इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं:—

निगम ते अगम हरि कृपा न्यारी।
प्रीति वश श्याम की, राइ कै रंक कोउ,
पुरुष कै नारि नहिं भेद कारी॥७५०॥ पृष्ठ १६१
सूरसागर (ना० प्र० स० २६३५)

धनि शुक मुनि भागवत बखान्यों।
जो रस राग रंग हरि कीन्हे, वेद नहीं ठहरान्यों॥५७॥ पृष्ठ ३६०
सूरसागर (ना० प्र० स० ७१६१)

कूट वाणी सूक्ष्म ऋग्वेद है, टकसार वाणी सूक्ष्म यजुर्वेद है, मूल ज्ञान वाणी सूक्ष्म सामवेद है और बीजक वाणी सूक्ष्म अथर्व वेद है।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि संतों ने सूक्ष्म वेद से स्वसंवेद्य परा विद्या का अर्थ लिया है और स्थूल वेद से उन्होंने उपनिषद् में कथित अपरा विद्या वाले वेद ग्रहण किये हैं।

विगत परिच्छेद में हम इस बात की ओर भी संकेत कर चुके हैं कि परा विद्या, अध्यात्म विद्या या आन्तरिक साधना से सम्बन्ध रखने वाले पंथों में पुस्तकी विद्या का कोई महत्त्व नहीं था। यही क्यों, इनमें पाण्डित्य-प्रियता को, पढ़ने-लिखने तक को हेय समझा जाता था। गोरक्षसिद्धान्त संग्रहकार ने लिखा है :

गृहे-गृहे पुस्तक भार-भाराः पुरे पुरे पंडित यूथयूथाः।
वने-वने तापस वृन्द वृन्दाः न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्ता ॥
अनेक शत संख्याभिः तर्क व्याकरणादिभिः।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाश रूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥

गरुड़ पुराण, उत्तर खंड, द्वितीयांश धर्म काण्ड, अध्याय ४९ में भी इसी भाव का अभिव्यंजन करने वाली पंक्तियाँ मिलती हैं, यथाः—

वेदागम पुराणज्ञः परमार्थम् न वेत्ति यः।
विडम्बकस्य तस्यैव तत्सर्वम् काक भाषितम् ॥७३॥
शिरो वहति पुष्पाणि गंधं जानाति नासिका।
पठन्ति वेद शास्त्राणि दुर्लभो भाव बोधकः ॥७९॥
गोपः कक्षा गते छागे कूपं पश्यति दुर्मतिः।
तत्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढ़ः शास्त्रेषु मुह्यति ॥८०॥

जिसने वेद, शास्त्र और पुराणों को पढ़ लिया है, परन्तु परमार्थ तत्व को नहीं जाना, विडम्बना में पड़े हुए उस व्यक्ति का समस्त कथन काक-भाषित से अधिक अर्थ नहीं रखता। सिर पर फूल रहते हैं, परन्तु उनकी गन्ध का ज्ञान नासिका को ही होता है। इसी प्रकार वेद-शास्त्र के पढ़ने वालों से उनके भाव का ज्ञाता पृथक और दुर्लभ है। बकरा ग्वाले की बगल में दबा है, परन्तु वह दुर्मति उसे कुएं में देखता फिरता है। इसी प्रकार परमार्थ तत्व

१—हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर पृष्ठ [illegible] द्वितीय संस्करण।

अपने ही अन्दर विद्यमान है, परन्तु उसे न जानकर मूढ़ पुरुष व्यर्थ ही शास्त्रों से मोह करता है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में इसी भाव को अभिव्यंजित करने के लिए कहा गया था। "घर घर में पुस्तकों का ढेर लगा है, नगर-नगर में पंडितों की मंडली विद्यमान है। वन-वन में तपस्वियों के झुंड के झुंड हैं, परन्तु सच्चा कर्मकर्ता या ब्रह्मवेत्ता कहीं भी दिखलाई नहीं देता। जो व्यक्ति असंख्य तर्क, व्याकरणादि शास्त्रों के जाल में फँसे हुए हैं, वे बुद्धिवाद से विमोहित हो रहे हैं। जिस अनिर्वचनीय पद की व्याख्या करने में देवता भी असमर्थ हैं, वह आत्म-प्रकाश-तत्व शास्त्र के द्वारा किस प्रकार प्रकाशित हो सकता है?"

कबीर भी इन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं:—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
एकै आखिर पीव का, पढ़े सु पंडित होइ॥
कबीर पढिवा दूरि करि, पुस्तक देह बहाइ।
बावन आखिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ॥

तथा

तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खर चन्दन जैसें भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं अंति पड़ै मुखि छारा॥

पुस्तकें पढ़ने से भी क्या कभी कोई पंडित हुआ है? पंडित वह है जिसने प्रभु-प्रेम का एक अक्षर पढ़ लिया है। वेद और पुराणों के पढ़ने का भार मनुष्य के ऊपर वैसा ही है, जैसा गधे के ऊपर चंदन का बोझ। जिसने राम-नाम के तत्व को नहीं समझा, उसके मुख पर अन्त में धूल ही पड़ती है।

सूरदास ने भी कई स्थानों पर वेद को भगवद्भक्ति से, प्रभु कृपा से, नीचा स्थान दिया है। नीचे लिखे पदों की पंक्तियाँ इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं:—

निगम ते अगम हरि कृपा न्यारी।
प्रीति वश श्याम की, राइ कै रंक कोउ,
पुरुष कै नारि नहिं भेद कारी ॥७५०॥ पृष्ठ. १६१

सूरसागर (ना० प्र० स० २६३५)

धनि शुक मुनि भागवत बखान्यों।
जो रस राग रंग हरि कीन्हे, वेद नहीं ठहरान्यों ॥५७॥ पृष्ठ ३६०

सूरसागर (ना० प्र० स० ७१६१)

भक्त वत्सलता प्रगट करी।
सत संकल्प वेद की आज्ञा जन के काज प्रभु दूरि धरी॥
सूरसागर १-१४८ (ना० प्र० स० २६८)

यहाँ कहा गया है कि श्रीकृष्ण के रास रंग के सामने वेद भी नहीं ठहरता। प्रभु की कृपा वेद के लिए भी अगम्य है। भगवान भक्त के लिए वेदाज्ञा को भी दूर रख देते हैं।

रास रस रीति नहिं वरनि आवै।
जो कहौं कौन मानै, निगम अगम,
हरि कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै॥ सूरसागर (ना० प्र० स० १६२४)

अर्थात् रास-रस को समझना वेद की पहुँच से भी परे है। नीचे लिखे पद में सूरदास वेद वचनों को प्रामाणिक मानने में हिचकिचाते हुए कहते हैं:—

ऊधो वेद वचन प्रमान।[1]
कमल मुख पर नैन खंजन, निरखि है को आन?
सूरसागर (ना० प्र० स० ४६५३)
निगम वाणी मेंटि कहि क्यों सकै सूरजदास ॥६६॥ पृष्ठ ५४६
सूरसागर (ना० प्र० स० ४६५३)

नीचे लिखी पंक्तियों में सूर पढ़ने को भी निरर्थक बताते हैं:—

मानो धर्म साधि सब बैठ्यो, पढ़िवे में धौं कहा रह्यौ।
प्रगट प्रताप ज्ञान गुरु गम तें दधि मथि घृत लै तज्यौ मह्यौ॥
सार कौ सार सकल सुख कौ सुख हनूमान शिव जानि कह्यौ।
सूरसागर (ना० प्र० स० ३५१)

जब दही को मथकर घी निकाल लिया, तो मट्ठे को कौन पूछता है? इसी प्रकार जब तत्वों का तत्व परब्रह्म जान लिया, तो पढ़ने में क्या रखा है?

१—श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति-पथ के पथिक गोस्वामी तुलसीदास जी की ये पंक्तियाँ भी कुछ-कुछ ऐसा ही स्वर अलाप रही हैं:—

करम, उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहि तौ सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥ विनयपत्रिका २२६

जप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पाएहि पै जानिबो करम-फल, भरि भरि बेद परोसो॥ विनयपत्रिका १७६

विनयपत्रिका के १०१ वें पद में भी ऐसा ही वर्णन है।

कबीरपंथ में जहाँ योगमार्ग की कुंडलिनी, शून्य गगन, अमृतस्राव, अनहद नाद, ज्योति आदि का महत्वपूर्ण स्थान है, वहाँ प्रेम और भक्ति को यज्ञ, तप आदि से उच्च पद दिया गया है। वर्ण-भेद, उच्च-नीच की विषमता, कृत्रिम एवं यंत्रवत बाह्य आडम्बर आदि वहाँ मान्य नहीं हैं। हम पीछे लिख चुके हैं कि भागवत भक्ति में भी प्रेम के साथ लगभग ये सब बातें स्वीकृत हो चुकी थीं। इस भक्ति में प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना जाता था, जिसके आगे कुलीनता भी कोई चीज़ नहीं थी। भगवद्भक्ति के बिना शास्त्र-ज्ञान, पांडित्य आदि सब व्यर्थ थे।[1] इस प्रकार वेद-शास्त्र-मर्यादा से बाहर रहकर भी जिस साधना ने लोक-हृदय पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, वैष्णव आचार्यों ने उस साधना के साथ सहयोग किया और अपने प्रभाव से देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक उसका प्रचार कर दिया। जब हम सूर की रचना पर विचार करते हैं, तो उसमें हमें इस साधना की प्रायः सभी बातें मिल जाती हैं।

सूर की प्रेमाभक्ति— यों तो समस्त सूरसागर प्रेम की लम्बी-चौड़ी दिनचर्या का अथाह सागर है; प्रेम के विविध रूप दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति उसमें जगमगा रहे हैं और कृष्ण के साक्षात् भगवान होने के कारण अन्ततः सब भगवद्भक्ति में ही पर्यवसित हो जाते हैं, फिर भी यदि शुद्ध रूप से भक्ति-सम्बन्धी प्रेम को ही लिया जाय तो उसका भी अनन्य साधारण रूप सूरसागर में दिखलाई देता है।

भगवान प्रेममय हैं। प्रेम के ही कारण उन्होंने अवतार लिया है, इस बात को नीचे लिखे पदों में कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है:—

प्रीति के वश्य ऐहैं मुरारी।
प्रीति के वश्य नटवर भेष धार्‌यौ, प्रीतिवश गिरिराज धारी॥

सूरसागर (ना० प्र० स० २६३६)

प्रीति वश देवकी गर्भ लीन्हों वास, प्रीति के हेतु व्रज भेष कीन्हों।
प्रीति के हेतु कियो यशुमति पयपान, प्रीति के हेतु अवतार लीन्हों

सूरसागर (ना० प्र० स० २६३५)

सूर ने प्रेम की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है:—

प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहि पैये।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये॥

१—गरुड़ पुराण, तृतीयांश ब्रह्मकांड, अध्याय ७ में लिखा है:—

यज्जिह्वाग्रे हरि नामैव नास्ति स ब्राह्मणो नैव, स एव गोखरः।३४

भक्त वत्सलता प्रगट करी।
सत संकल्प वेद की आज्ञा जन के काज प्रभु दूरि धरी ॥
सूरसागर १-१४८ (ना० प्र० स० २६८)

यहाँ कहा गया है कि श्रीकृष्ण के रास रंग के सामने वेद भी नहीं ठहरता। प्रभु की कृपा वेद के लिए भी अगम्य है। भगवान भक्त के लिए वेदाज्ञा को भी दूर रख देते हैं।

रास रस रीति नहिं वरनि आवै।
जो कहौं कौन मानै, निगम अगम,
हरि कृपा विनु नहीं या रसहिं पावै ॥ सूरसागर (ना० प्र० स० १६२४)

अर्थात् रास-रस को समझना वेद की पहुँच से भी परे है। नीचे लिखे पद में सूरदास वेद वचनों को प्रामाणिक मानने में हिचकिचाते हुए कहते हैं:—

ऊधो वेद वचन प्रमान।[1]
कमल मुख पर नैन खंजन, निरखि है को आन?
सूरसागर (ना० प्र० स० ४६५३)
निगम वाणी मैंटि कहि क्यों सकै सूरजदास ॥६६॥ पृष्ठ ५४६
सूरसागर (ना० प्र० स० ४६५३)

नीचे लिखी पंक्तियों में सूर पढ़ने को भी निरर्थक बताते हैं:—

मानो धर्म साधि सब वैठ्यो, पढ़िवे में धौं कहा रह्यौ।
प्रगट प्रताप ज्ञान गुरु गम तें दधि मथि घृत लै तज्यौ मह्यौ ॥
सार कौ सार सकल सुख को सुख हनूमान शिव जानि कह्यौ।
सूरसागर (ना० प्र० स० ३५१)

जब दही को मथकर घी निकाल लिया, तो मट्ठे को कौन पूछता है? इसी प्रकार जब तत्वों का तत्व परब्रह्म जान लिया, तो पढ़ने में क्या रखा है?

१—श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति-पथ के पथिक गोस्वामी तुलसीदास जी की ये पंक्तियाँ भी कुछ-कुछ ऐसा ही स्वर अलाप रही हैं:—
कर्म, उपासन, ज्ञान वेदमत, सो सब भाँति खरो।
मोहिं तौ सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो ॥ विनयपत्रिका २२६
तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो।
पायेहि पै जानिबो कर्मफल, भरि भरि वेद परोसो ॥ विनयपत्रिका १७६
विनयपत्रिका के २०१ वें पद में भी ऐसा ही वर्णन है।

कबीरपंथ में जहाँ योगमार्ग की कुंडलिनी, शून्य गगन, अमृतस्राव, अनहद नाद, ज्योति आदि का महत्वपूर्ण स्थान है, वहाँ प्रेम और भक्ति को यज्ञ, तप आदि से उच्च पद दिया गया है। वर्ण-भेद, उच्च-नीच की विषमता, कृत्रिम एवं यंत्रवत बाह्य आडम्बर आदि वहाँ मान्य नहीं हैं। हम पीछे लिख चुके हैं कि भागवत भक्ति में भी प्रेम के साथ लगभग ये सब बातें स्वीकृत हो चुकी थीं। इस भक्ति में प्रेम को ही परम पुरुषार्थ माना जाता था, जिसके आगे कुलीनता भी कोई चीज़ नहीं थी। भगवद्भक्ति के बिना शास्त्र-ज्ञान, पांडित्य आदि सब व्यर्थ थे।[१] इस प्रकार वेद-शास्त्र-मर्यादा से बाहर रहकर भी जिस साधना ने लोक-हृदय पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, वैष्णव आचार्यों ने उस साधना के साथ सहयोग किया और अपने प्रभाव से देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक उसका प्रचार कर दिया। जब हम सूर की रचना पर विचार करते हैं, तो उसमें हमें इस साधना की प्रायः सभी बातें मिल जाती हैं।

सूर की प्रेमाभक्ति— यों तो समस्त सूरसागर प्रेम की लम्बी-चौड़ी दिनचर्या का अथाह सागर है; प्रेम के विविध रूप दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति उसमें जगमगा रहे हैं और कृष्ण के साक्षात् भगवान होने के कारण अन्ततः सब भगवद्भक्ति में ही पर्यवसित हो जाते हैं, फिर भी यदि शुद्ध रूप से भक्ति-सम्बन्धी प्रेम को ही लिया जाय तो उसका भी अनन्य साधारण रूप सूरसागर में दिखलाई देता है।

भगवान प्रेममय हैं। प्रेम के ही कारण उन्होंने अवतार लिया है, इस बात को नीचे लिखे पदों में कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया गया है:—

प्रीति के वश्य ऐहैं मुरारी।
प्रीति के वश्य नटवर भेष धार्यो, प्रीतिवश गिरिराज धारी॥

सूरसागर (ना० प्र० सं० २६३६)

प्रीति वश देवकी गर्भ लीन्हों वास, प्रीति के हेतु व्रज भेष कीन्हों।
प्रीति के हेतु कियो यशुमति पयपान, प्रीति के हेतु अवतार लीन्हों

सूरसागर (ना० प्र० स० २६३५)

सूर ने प्रेम की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में की है:—

प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहि पैये।
प्रेम बँध्यौ संसार प्रेम परमारथ लहिये॥

१—गरुड़ पुराण, तृतीयांश ब्रह्मकांड, अध्याय ७ में लिखा है:—

यज्जिह्वाग्रे हरि नामैव नास्ति स ब्राह्मणो नैव, स एव गोखरः।३४

समाज की जिस परिस्थिति में कबीर की उक्तियों की यह सतेज तीव्रता संचरित हुई, वह उसे ग्रहण करने के लिये पहले से ही समुन्नत थी। समाज का निम्न वर्ग जो अपनी हीनता का अनुभव करके क्रान्ति के चौराहे पर खड़ा था, इन उक्तियों को सुनते ही समाश्वस्त हो गया। भगवद्भक्ति रूपी मणि को हाथ में लेकर उसने अपना मस्तिष्क उन्नत ही नहीं, आलोकित भी किया।

कबीर जिस वर्ग में उत्पन्न हुए थे, उस वर्ग को प्रतिष्ठित बनाने के लिए वे सयत्न हों, यह नितान्त स्वाभाविक था। फिर वे प्रतिभा-सम्पन्न थे, स्वामी रामानन्द से वैष्णव भक्ति में दीक्षित होकर प्रभु-प्रेम के पात्र बन गये थे और अपनी व्यक्तिगत साधना द्वारा सिद्धियाँ भी प्राप्त कर चुके थे। अतः उनके वर्ग के समकक्ष वर्गों पर उनका प्रभूत प्रभाव पड़ा। इन वर्गों की सीमा के बाहर भी यह प्रभाव पहुँचा और सामान्यतः लोक-हृदय उनकी शिक्षाओं की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सका।

महात्मा सूरदास का लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, श्रवण-मनन जिस सांस्कृतिक वातावरण में हुआ, वह कबीर के वातावरण से भिन्न था। यह वह वातावरण था, जिसने सामंजस्य को प्रधानता दी। हमारी संस्कृति कर्म-प्रधान रही है। वह इस युग के दैन्य एवं समृद्धि को इस युग से ही नहीं, विगत युग से भी संबद्ध करती है और भावी युग में अपने कर्म के बल पर उसमें परिवर्तन होना भी मानती है। अतः उसकी दृष्टि में चाहे निर्धन हों और चाहे धनवान, सभी कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, सभी अपने को उन्नत करने के अधिकारी हैं। जैसे एक रंक अपने को भगवद्भक्ति का धनी बना सकता है, वैसे ही एक राजा भी। सम्भव है, अपनी समृद्धि की चकाचौंध में वह कुछ काल के लिए अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति से वंचित और पराङ्मुख रहे, पर इसे अर्थवाद ही कहा जायगा, शाश्वत नियम नहीं। अर्थवाद के अनुसार तो एक रंक भी परिस्थिति-जन्य मानसिक दशा को लेकर आध्यात्मिकता से पराङ्मुख हो सकता है। अतः शाश्वत नियम यही रहेगा कि मानव चाहे जिस अवस्था में हो—निर्धन या समृद्ध, ब्राह्मण या शूद्र—वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस युग के पारिभाषिक शब्दों में कहना चाहें, तो कबीर का स्वर सामंतवादिता (Fascism) के लिए विसंवादी एवं विरोधी स्वर था और सूरदास की वाणी आर्य संस्कृति की संवादिनी एवं पोषिका।

वेद के इस वाक्य—"न की रेवन्तं सख्याय विन्दसे"। ऋ० ८।२१।१४ अर्थात् प्रभु धनवान का सखा नहीं बनता और बाइबिल के इस कथन को कि "धनी स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता"—अर्थवाद के अन्तर्गत ही

रखना चाहिये, जिनमें सत्य का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है, आंशिक है। आर्य संस्कृति ने ऐसे राजाओं को जन्म दिया है, जो आपादमस्तक वैभव में डूबे होने पर भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" बने रहे, अपार धनराशि के स्वामी होकर भी अध्यात्मधन के धनी बने। दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिनकी हीन कुल में उत्पत्ति उन्हें प्रभु की ओर जाने से न रोक सकी। तभी तो सूरदास लिखते हैं:—

राम भक्तवत्सल निज बानों।
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं, रंक होइ कै रानों॥
ब्रह्मादिक शिव कौन जाति प्रभु, हौं अजान नहिं जानों।
महता जहाँ, तहाँ प्रभु नाहीं, सो द्वैता क्यों मानों॥
प्रकट खंभ तें दये दिखाई, यद्यपि कुल कौ दानों।
रघुकुल राघो कृष्ण सदा ही गोकुल कीनों थानों॥
बरनि न जाइ भजन की महिमा बारम्बार बखानों।
ध्रुव रजपूत, विदुर दासी-सुत, कौन कौन अरगानो॥
युग युग विरद यहै चलि आयौ, भक्तन हाथ विकानौं।
राजसूय में चरन पखारे, श्याम लये कर पानों।
रसना एक, अनेक स्याम गुन कहँ लों करों बखानों।
सूरदास प्रभु की महिमा है, साखी वेद पुरानों॥

सूरसागर (ना० प्र० स० ११)

भगवान भक्त-वत्सल हैं, यही उनका विरुद है, बाना है, स्वभाव है। भक्त चाहे जिस जाति, गोत्र, कुल और नाम का हो, चाहे रंक हो और चाहे धनी, जो उसकी शरण में पहुँच गया, वही उसका हो गया। ध्रुव राजपूत-वंश का था, विदुर दासी-पुत्र था, प्रह्लाद दानव-कुल में उत्पन्न हुआ था और जनक राजर्षि थे। मुख्यता रंकता या धनवत्ता की नहीं, जाति और कुल की नहीं, अहंकार के त्याग की है, महत्ता के दृष्टिकोण में परिवर्तन की है।

भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति की अभेदता मान्य हो चुकी थी और लोक-मानस पर उसका प्रभाव पड़ रहा था। इस प्रभाव की पुष्टि सूरदास के नीचे लिखे पदों से भी होती है:—

श्री भागवत सुनै जो कोई। ताकों हरि पद प्रापति होई॥
ऊँच नीच ब्यौरो न बड़ाई। ताकी साखी मैं सुनि पाई।
जैसे लोहा कंचन होई। ब्यास भई मेरी गति सोई॥
दासी सुत ते नारद भयो। दुःख दासपन कौ मिटि गयौ॥१२८॥

सूरसागर (ना० प्र० स० २३०)

कह्यौ शुक श्री भागवत विचार।
जाति पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार ॥११९॥
सूरसागर (ना० प्र० स० २३१)

सोइ भलौ जो रामहिं गावै।
श्वपच प्रसन्न होहि बड़ सेवक, बिनु गुपाल द्विज जन्म न भावै।
वाद विवाद यज्ञ व्रत साधे,[1] कतहूं जाइ जनम डहकावै ॥१-१२१
सूरसागर (ना० प्र० स० २३३)

१— गरुड़ पुराण, उत्तर खंड, द्वितीयांश धर्मकांड, अध्याय ४९ में लिखा है:—
नाम मात्रेण संतुष्टाः कर्मकांडरताःनराः।
मंत्रोच्चारण होमाद्यैःभ्रामिताःक्रतु विस्तरैः ॥६०॥
यहाँ वेद-पाठ, यज्ञों के विविध विस्तार आदि में निरत कर्मकांडियों की निन्दा की गई है, जो नाम मात्र के लिए, आडम्बर के लिए, इनमें फँसे हुए हैं। आगे ६१वें श्लोक में व्रत, उपवास आदि द्वारा कायशोषण को भी माया-विमोहित मूढ़ों का कार्य कहा गया है और लिखा है:—
देहदंडन मात्रेण का मुक्तिरविवेकिनाम्।
वल्मीक ताडना देव मृतः किन्तु महोरगः ॥६२॥
बाह्याडम्बर-परायणता का खंडन नीचे लिखे श्लोकों में भी तीव्रता के साथ किया गया है:—
जटाभाराजिनैर्युक्ताः दाम्भिका वेष धारिणः।
भ्रमन्ति ज्ञानि वल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि ॥६३॥
संसारजसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
कर्म ब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥६४॥
तृणपर्णोदकाहाराः सततं वनवासिनः।
जम्बुकाखुमृगाद्याश्च तापसास्ते भवन्ति किम् ॥६७॥
आजन्म मरणान्तंच गंगादितटिनी स्थितः।
मंडूकमत्स्य प्रमुखा योगिनस्ते भवन्ति किम् ॥६८॥
पारावताःशिलाहाराः कदाचिदपि चातकाः।
न पिबन्ति महीतोयं व्रतिनस्ते भवन्तिःकिम् ॥६९॥
इसी शैली में कबीर ने बाह्याचारों का खंडन किया था और इसी शैली का अवलम्बन इस युग में आर्य समाजियों ने किया। इससे इस शैली की तीव्रता एवं उपयोगिता का पता चलता है। सम्भव है, गरुड़ पुराण के ये श्लोक मध्यकाल में ही लिखे गए हों। पुराणों में क्षेपकों का समावेश बहुत काल तक होता रहा है।

काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहि न परति है, व्याध अजामिल तारत ॥
ऐसे जन्म करम के ओछे, ओछे ही अनुसारत।
यहै सुभाव सूर के प्रभु कौ, भक्त वछल प्रण पारत ॥१२॥ पृष्ठ ३
सूरसागर (ना० प्र०स ० १२)

हरि की भक्ति करै जो कोई। सूर नीच सौं ऊँच सु होई ॥८॥
पृष्ठ ६१, सूरसागर (ना० प्र० स० ४२७)

कियो सुरकाज, गृह चले ताके।
पुरुष और नारि को भेद भेदा नहीं, कुलीन, अकुलीन आवत हो काके॥
दास दासी स्याम भजन ते हूजिये रमासम भई सो कृष्ण दासी ॥
मिली वह सूर प्रभु प्रेम चंदन चरचि कें, मना कियो तप कोटि कासी॥
सूरसागर (ना० प्र० स० ३७१९)

पूर्व उद्धृत पदसंख्या ११८ में सूर ने लोहे और कंचन का सार्थक एवं सुसंगत उदाहरण दिया है; बीरबल की भाँति गधे और घोड़े का नहीं जो प्रसंगबाह्य, निरर्थक और आर्य जाति के लिये घोर अभिशाप सिद्ध हुआ। इस भक्तिरूपी पारस ने निम्न वर्ग में उत्पन्न लोहे रूप व्यक्तियों को स्वर्ण में परिणत कर कितना आश्वासन दिया, उन्हें कितना उठाया— इसके लिखने की आवश्यकता नहीं है।

पद१२१ में सूर लिखते हैं कि जो राम के भजन में लीन है, वही अच्छा है। चांडाल भी यदि प्रभु का भक्त है, तो वह उस ब्राह्मण से श्रेष्ठतर है, जो वाद-विवाद में, थोथे यज्ञ और व्रत करने में तो अपना समय व्यतीत करता है, पर ईश्वर-भक्ति से शून्य है। भक्ति ही मनुष्य का उत्थान करने वाली है।

इस प्रकार की पंक्तियाँ पूर्व प्रचलित साधना के प्रभाव का ही परिणाम हैं, और जैसा लिखा जा चुका है— भागवत धर्म या वैष्णव संप्रदाय इस प्रभाव को आत्मसात कर चुका था। श्रीमद्भागवत के माहात्म्य प्रकरण में लिखा है:—

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिका ॥२।१८॥

वेदों का पढ़ना, ज्ञान(वाद-विवाद), तप (व्रत आदि), कर्म (यज्ञादि) प्रभु को प्राप्त नहीं करा सकते। प्रभु तो भक्ति से ही सुलभ होते हैं।

इस प्रकरण में यहाँ तक जो कुछ लिखा गया है, वह आन्तरिक-साधना-परक ग्रंथों और भागवत धर्म के अन्योन्य प्रभाव का सूचक है। कबीर और सूर दोनों में ये बातें सामान्यतः पाई जाती हैं। हाँ, एक बात में ये दोनों अवश्य भिन्न हैं। कबीर की भक्ति निर्गुण कहलाती है और सूर की सगुण। पर सूर निर्गुण भक्ति का निषेध नहीं करते, उसे अगम्य और गीता के शब्दों में क्लेश-कर बतलाते हैं। सूर सागर का द्वितीय पद इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है, जिसमें सूर कहते हैं कि अविगत की गति अवर्णनीय है। जैसे गूंगा मीठे फल को खाकर उसके आस्वाद को अन्दर ही अन्दर अनुभव करता है, उस आस्वाद का वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार निराकार प्रभु का ध्यान और तज्जन्य आनन्द वर्णन करने में नहीं आते। यद्यपि यह आस्वादन, यह रस, सबसे उच्चकोटि का है, इससे अमित सन्तोष उत्पन्न होता है, फिर भी यह मन और वाणी का विषय नहीं है। आलम्बन से विहीन होकर मन भला कहाँ दौड़ लगा सकता है? सूर ने इसीलिए सगुण लीला का गान किया है।

इससे स्पष्ट है कि सूर को निर्गुण भक्ति भी अमान्य नहीं थी। सूर वैष्णव धर्म में दीक्षित होने से पूर्व निर्गुणपंथ के साधकों के सम्पर्क में आये अवश्य थे। उनकी उस समय की रचनायें, जो सूरसागर के प्रारम्भिक स्कंधों में सुरक्षित हैं, इस तथ्य की पुष्टि करती हैं।

कबीर से पूर्व कुछ सिद्धाचार्य हुए, जिन्हें सहजावस्था प्राप्त थी। कबीर ने भी इस सहजावस्था का उल्लेख किया है, जैसे:

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥१॥
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलैं, सहज कहीजै सोइ ॥४॥

—सहज को अङ्ग

सिद्धाचार्य कान्ह लिखते हैं:

कान्ह विलसया आसव माता। सहज नलिनिवन पइसि निवाता ॥

अर्थात् सहज रूपी पद्मवन में प्रवेश करो और मत्त होकर मधुपान करो। इसी प्रकार आचार्य भूसुक कहते हैं कि सहजानन्द लीला में ही महासुख है। एक स्थान पर आचार्य सरहपाद चित्त को संबोधन करते हुए लिखते हैं:

जहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नांह पवेश।
तहि वट चित्त विशाम करु, सरहें कहिय उवेश ॥

आइ न अन्त न मज्झ णउ, णउ भव णउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण॥

अर्थात् हे चित्त! वहाँ चलकर विश्राम करो जहाँ मन और पवन भी संचरित नहीं होते; जहाँ सूर्य और चन्द्र का प्रवेश नहीं है; जहाँ आदि भी नहीं, अन्त भी नहीं, जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं, अपना भी नहीं, पराया भी नहीं—जहाँ महासुख है। कबीर के शब्दों में—"उदै न अस्त सूर नहीं ससिहर ताकौ भाव भजन करि लीजै॥"[1]

तथा

"मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहि रे।
चरन कंवल मन मानियां और न भावै मोहि रे॥
त्रिवेणी मनहि न्हवाइये, सुरति मिलै जौ हाथि रे।
तहां न फिरि मघ जोइये, सनकादिक मिलि हैं साथि रे॥
गगन गरजि मघ जोइये, तहां दीसै तार अनन्त रे॥
बिजुरी चमकि घन वरसिहै, तहां भीजत हैं सब सन्त रे।
षोडस कंवल जब चेतिया, तब मिलि गये श्री बनवारि रे॥
जरामरण भ्रम भाजिया, पुनरपि जनम निवारि रे॥
गुरू गमि तैं पाईये, झंखि मरै जिन कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे॥"[2]

जिस सहजावस्था की बात सिद्धाचार्य लिखते हैं, उसी को कबीर सहज समाधि कहते हैं। सिद्धाचार्यों के शब्द हैं: "जहाँ आदि नहीं, अन्त नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, सूर्य नहीं, चन्द्र नहीं—वहां विश्राम करो।" कबीर के शब्द हैं: "मैं वहाँ रम रहा हूँ जहाँ उदय नहीं, अस्त नहीं, सूर्य नहीं, चन्द्र नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, पुनर्जन्म नहीं; जहाँ षोडश दल कमल का विकास है, विद्युत जैसा प्रकाश है, बादल जैसी अमृत वर्षा है और जहाँ सनकादिक मुक्तात्माओं का साथ है।" ऊपर उद्धृत दोनों के शब्दों में पर्याप्त समता है। अब इन शब्दों में अंकित विचारों को सूरदास के नीचे लिखे पदों में अभिव्यंजित विचारों से मिलाइये। कितना अपूर्व शब्द, विचार एवं शैली का साम्य दृष्टिगोचर होता है :—

१—कबीर ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३६, पद १५७।
२—कबीर ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८८, पद ४।

चकई री चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होति नहिं कबहूँ, सो सायर सुख जोग॥
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनिजन नख रविप्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिप नहिं शशि डर, गुञ्जत निगम सुवास॥
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै॥
लक्ष्मी सहित होत नित क्रीड़ा, शोभित सूरजदास।
अब न सुहात विपय रस छीलर वा समुद्र की आस॥१८४॥

पृष्ठ २६, सूरसागर (ना०प्र०स० ३३७)

चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना विकसाहिं॥
हंस उज्ज्वल, पंख निर्मल, अंक मलि मलि न्हाहिं।
मुक्ति मुक्ता अम्बु के फल तिन्हें चुनि चुनि खाहिं॥१८५॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३२८)

सुआ चलि ता वन कौ रस पीजै।
जा वन राम नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि लीजै॥
बड़ी वाराणसि मुक्ति क्षेत्र है चलि तोकों दिखराऊँ।
सूरदास साधुन की संगति बड़ो भाग्य जो पाऊँ॥१८७॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३४०)

इन पदों में सूरदास ने चकवी, सखी तथा सुआ का नाम लेकर, आचार्य सरहपाद की भाँति, अपने मन को ही सम्बोधित किया है। आचार्य कान्ह ने पद्मवन में और सूरदास ने वन में चलने की बात लिखी है। सूरदास का यह कथन कि वहाँ कभी रात्रि नहीं होती, सनकादिक मुनियों का साथ होता है, कमल विकसित रहता है, चन्द्रादि का प्रवेश नहीं है, अमृत रस का पान करने को मिलता है, एकान्ततः वैसा ही है जैसा हम कबीर में दिखला चुके हैं। कबीर ने त्रिवेणी का नाम लिया है, तो सूर ने वाराणसी का। चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार ये तथा ऐसे ही अन्य अनेक भक्ति-सम्बन्धी पद (जिनका उल्लेख हम इस परिच्छेद में कर रहे हैं और आगामी परिच्छेद में भी करेंगे) आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व ही लिखे जा चुके थे। इन पदों पर निस्सन्देह निर्गुण, निरंजन आदि पंथों का प्रभाव पड़ा है।

नीचे लिखे पद में सूरदास ने योग, यज्ञ, व्रत, तीर्थ-स्नान, भस्म रमाना [illegible], अठारह पुराणों का पढ़ना, प्राणायाम करना आदि की निर-

र्थकता, ज्ञान की सार्थकता एवं अनिवार्यता और कथनी तथा करनी की एकता पर बल दिया है, जो कबीर के ही अनुसार है :—

जौं लौं मन कामना न छूटै।
तौ कहा योग, यज्ञ, व्रत कीन्हे, बिनु कन तुसकों कूटै॥
कहा सनान किये तीरथ के, अंग भस्म जटजूटै।
कहा पुराणन पढ़ि जु अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूटै॥
करनी और कहैं कछु औरे, मन दसहूं दिसि लूटै।
सूरदास तबहीं तम नासै, ज्ञान अगिनि झर फूटै॥२।१९॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६२)

कबीर के निर्गुणपंथ की लोक-साधना का स्पष्ट रूप में प्रभाव देखने के लिए सूरसागर की नीचे लिखी पंक्तियाँ विचारणीय हैं :—

जहाँ अभिमान तहाँ मैं नाहीं, यह भोजन विष लागे।
सत्य पुरुष घट में ही बैठे, अभिमानी कों त्यागे॥१३२॥पृष्ठ२०
सूरसागर (ना०प्र०स २४४)

जौ लौं सत स्वरूप नहिं सूझत।
तौ लौं मृग मद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत॥२५॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६८) द्वितीय स्कन्ध

अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
शब्दहिं शब्द भयौ उजियारौ सतगुरु भेद बतायौ॥
सपने मांहिं नारि कौ भ्रम भयौ बालक कहूं हिरायौ।
जागि लख्यौ ज्यों कौ त्यों ही है, ना कहुँ गयौ न आयौ।
सूरदास समुझे की यह गति मन ही मन मुसकायौ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा ज्यों गूंगे गुर खायौ॥१२॥ पृष्ठ ५१
सूरसागर (ना०प्र०स० ४०७)

अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।
जैसे श्वान कांच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भूसि मर्यौ॥
हरि सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम तृण सूंघि मर्यौ।
ज्यों सपने में रंक भूप भयौ, तस्कर अरि पकर्यौ॥
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखिकें आपुन कूप पर्यौ।
ऐसे गज लखि फटिक सिला में दसननि जाइ अर्यौ॥

मर्कट मूठि छांड़ि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिर्‌यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुअटा कहि कौने जकर्‌यौ ॥२६॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३६६) द्वितीय स्कन्ध

ऊपर उद्धृत पदों में सूरदास आत्मतत्व को नाभि में स्थित मृगमद की भाँति अन्दर और अप्रकट रूप में ही स्वीकार करते हैं। जैसे कस्तूरी-प्राप्ति के लिये मृग का तृण-द्रुमादि की ओर बाहर भागना व्यर्थ है, वैसे ही आत्म-तत्व के साक्षात्कार के लिए बाहर प्रयास करना निरर्थक है। कबीर आदि निर्गुण सम्प्रदाय के संत प्रभु को बाहर ढूँढना व्यर्थ समझते थे। उनके मत में बाहर के पट बन्द करके अन्दर के पट खोलने से ही आत्म-दर्शन होता है। इसी बात पर खीझकर तुलसी ने कहा था:—

अन्तर्जामिहु तें बड़ बाहिर जामि हैं राम जे नाम लिये तें।
पैज परे प्रह्लादहु कों प्रकटे प्रभु पाहन तें न हिये तें॥

पर, सूर आन्तरिक साधना से प्रभावित हो चुके थे। ऊपर उद्धृत पंक्तियों में सत्य पुरुष, घट, सत स्वरूप, सद्‌गुरु आदि शब्द निश्चित रूप से उसी साधना का प्रभाव प्रकट कर रहे हैं। कबीर ने इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है।

सूरदास ने अपने ही अन्दर आत्मा को ढूँढ़ने की बात इसी प्रकार के कई पदों में लिखी है। एक उदाहरण लीजिये:—

धोके ही धोके डहकायौ।
समुझि न परी विषय रस गीध्यौ, हरि हीरा घर मांझ गंवायौ॥
ज्यों कुरंग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई, चहूँ दिशि धायौ।
जन्म जन्म बहु कर्म किये हैं, तिनमें आपुन आपु बंधायौ॥
ज्यों शुक सेमर सेव आश लगि, निसि बासर हठि चित्त लगायौ।
रीत्यौ पर्‌यो जबै फल चाख्यौ, उड़ि गयौ तूल, तांबरौ आयौ॥
ज्यों कपि डोरी बांध बाजीगर, कन कन कौं चौहटे नचायौ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु काल व्याल लै आपु डसायौ॥ १-२०६

सूरसागर (ना० प्र० स० ३२६)

इस पद में बहिर्मुखी वृत्ति का सूर ने कितने मीठे शब्दों में खंडन किया है। बाहर क्या है? माया का विस्तृत प्रपंच, वैसा ही मिथ्या जैसा मृगतृष्णा का जल या सेमर का फूल। बाहर-बाहर घूमने से तो यही हाथ लगेगा, कण-कण के लिये इस चतुर्मुखी हाट में बाजीगर के बन्दर की तरह

नाचना पड़ेगा। शुक शाल्मली के फल की आशा में हठपूर्वक अपना चित्त लगाये रहता है, परन्तु अन्त में उसके हाथ अन्दर का घुआ ही पड़ता है, गूदा नहीं, क्योंकि उस फल में गूदा होता ही नहीं। शुक का समस्त परिश्रम इस दिशा में व्यर्थ ही जाता है। अतः भगवद्भक्ति के द्वारा वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना चाहिये। हरि रूपी हीरा तो अपने घर (हृदय) के अन्दर ही रखा है। फिर क्यों बाहर घूमते हो? जो निकट से निकट है, उसके लिये इतने दूर देश की दौड़!! वह भी व्यर्थ!!! तार्किक कहता है—"क्या परमात्मा बाहर नहीं है?" साधक उत्तर देता है—"है, पर मैं तो वहाँ नहीं हूँ। बाहर तो मेरे सेवक दौड़ लगा रहे हैं। जहाँ मैं हूँ, वहीं मेरा हरि भी है और वहीं उसके दर्शन होते हैं। यदि अन्दर दर्शन नहीं हुए, तो बाहर सौ जन्मों में भी नहीं होंगे। बाहर प्रभु तभी दीख पड़ता है, जब पहले अन्दर दिखाई दे जाय।" आचार्य वल्लभ ने सूर को आभ्यन्तर हरिलीला के ही दर्शन कराये थे। फिर तो सूर को वह लीला यहाँ, वहाँ, सर्वत्र दिखाई पड़ने लगी।

सूर के ऊपर उद्धृत पद को कबीर के नीचे लिखे पद से मिलाइये:—

पानी में मीन प्यासी, मोहि देखत लागै हांसी॥
सुख सागर नित भरो ही रहत है, निसिदिन रहत उदासी॥
कस्तूरी वन में मृग खोजत, सूंघि फिरत बहु घासी॥
आत्मज्ञान बिनु नर भटकत है, कोई मथुरा कोई कासी॥
कहत कबीर, सुनो भाई साधो, हरि बिनु कटत न फांसी॥

दोनों पदों में बहिर्मुखी वृत्ति की व्यर्थता सिद्ध की गई है और भगवद्भक्ति द्वारा अन्तर्मुख होकर प्रभु को प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद संख्या ४ में सूर ने नामदेव का इस प्रकार उल्लेख किया है:—

कलि में नामा प्रगटियो ताकी छानि छवावै।
सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै॥

ये नामदेव भी मूर्ति पूजा के विरोधी, पर प्रभु के उच्च कोटि के भक्त थे। वैष्णव सम्प्रदाय में पहले ये विष्णु स्वामी के शिष्य कहे गये हैं, परन्तु बाद में ये निर्गुण भक्त बन गये थे।

इस प्रकार पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व की रचना सूरदास पर पड़े हुए निर्गुण भक्ति के प्रभाव को स्पष्ट रूप में प्रकट कर रही है।

सूरदास और वैष्णव सम्प्रदाय

चौरासी वार्ता के अनुसार, आचार्य वल्लभ से ब्रह्म सम्बन्ध होने के पूर्व, सूरदास अपने शिष्यों के साथ गौघाट पर रहा करते थे और अन्य सन्तों की भाँति भजन बनाकर गाया करते थे। उनके भक्ति-भरित भावपूर्ण गीतों को सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे। सन्तों में शब्द अथवा गीत लिखने की प्रथा बहुत दिनों से प्रचलित थी। सिद्धाचार्यों के दोहों तथा चर्यागीतियों के पश्चात्, प्रसिद्ध नाथपंथी बाबा गोरखनाथ से लेकर निर्गुण-भक्ति-मार्गी कबीर, दादू, तुलसी, रैदास, नामदास आदि में होती हुई यह प्रथा आज तक चली आती है। इस शब्द अथवा गीति पद्धति की रचनाओं में एक विचित्र शैली-गत समता दिखलाई देती है। इनमें बाह्य विडम्बनाओं के प्रति घृणा, वर्ण सम्बन्धी संकीर्णता के प्रति विरोध, हठयोग की क्रियाओं के द्वारा चित्त-शुद्धि, सहज भाव तथा काठ के भीतर अग्नि या बीज के भीतर वृक्ष की भाँति आत्मा की अपने अन्दर खोज आदि कई बातें पाई जाती हैं।

सूरदास उन दिनों जो भजन बनाकर गाया करते थे, उनमें इस प्रकार की बातें रहती थीं—यह हम विगत दो परिच्छेदों में प्रकट कर चुके हैं। कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत है कि सूरदास आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व स्वामी हरिदास जी अथवा उनके शिष्य और ममेरे भाई विट्ठल विपुल द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हो चुके थे।[1] वैष्णव सम्प्रदाय भक्ति-प्रधान रहा

१—मिश्रबन्धु—हिन्दी नवरत्न, संस्करण सं० १९९८
प्रकरण सूरदास

सूरसागर में वृन्दावन को निज धाम होने का जो महत्व प्रदान किया गया है, वह भी संभव है हरिदासी सम्प्रदाय का ही प्रभाव रहा हो। सूरसागर, स्कन्ध २, पद २ में सूर लिखते हैं:— वंशीवट, वृन्दावन, यमुना

शेष अगले पृष्ठ पर

है। सिद्ध, निरंजन, निर्गुण, नाथ आदि पंथों में भक्ति को कभी प्रधानता प्राप्त नहीं हुई, यह बात अब तक की खोज में प्राप्त हुई इन पंथों की रचनाओं से स्पष्ट है। गोरखबानी में जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हुई है, एक भी भक्ति सम्बन्धी पद नहीं है। "अहो निसि समां ध्यानं। निरन्तर रमैवा राम।"[१] जैसी पंक्तियाँ एकाध स्थान पर हैं भी, पर उनका अर्थ रामभक्ति नहीं, प्रत्युत योगध्यान द्वारा परात्पर आत्मशक्ति का निरन्तर चिन्तन करना है। इसके विपरीत "भणत गोरखनाथ मछीन्द्र नां दासा। भाव भगति औ आस न पासा"।[२] जैसी पंक्तियों द्वारा इन रचनाओं में भाव-भक्ति का खण्डन ही किया गया है। महात्मा सूरदास स्वभाव से ही भाव-भक्ति के भूखे थे। अतः अनुकूल अवसर आते ही भगवद्भक्ति-प्रधान वैष्णव धर्म की ओर आकृष्ट हो गये। कबीर ने भी स्वामी रामनन्द से वैष्णव धर्म की दीक्षा

पिछले पृष्ठ की टिप्पणी

तजि वैकुण्ठ को जाये। सूरदास हरि को सुमिरन करि वहुरि न भव चलि आये ॥

इन पंक्तियों में सूरदास वृन्दावन को वैकुण्ठ से अधिक महत्व देते हैं। आचार्य वल्लभ ब्रह्म सूत्र ४-२-१५ के भाष्य में पृष्ठ १३२३ पर गोकुल की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं:—उक्तानि वस्तूनि परे प्रकृतिकालाद्यतीते वैकुण्ठादपि उत्कृष्टे श्री गोकुले एव सन्ति। अचार्य वल्लभ इस स्थल पर ऋग्वेद के—'ता वां वस्तूनि उष्मसि गमध्यै' आदि मंत्र को उद्धृत करते हैं और गोकुल को (वृन्दावन को नहीं) वैकुण्ठ से भी अधिक उत्कृष्ट मानते हैं।

इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि सूरदास जी आचार्य वल्लभ की भेट से पूर्व संन्यास आश्रम में दीक्षित हो चुके थे और विधि-पूर्वक अपने शिष्यों को स्वयं भी दीक्षा देने लगे थे। उन दिनों ऐसा ही सम्प्रदाय था कि गुरू से दीक्षा ग्रहण किये विना कोई भी व्यक्ति संन्यास में प्रवेश नहीं कर सकता था। यह संप्रदाय संन्यासियों में आजतक चला आता है। अतः जो विद्वान स्वामी हरिदास को सूर का प्रथम दीक्षा गुरू स्वीकार नहीं करते, उनके लिए आचार्य वल्लभ से पूर्व सूर का संन्यास आश्रम में दीक्षित होना तथा अन्यों को दीक्षित करना एक समस्या के रूप में वना रहेगा।

१—गोरखबानी पद ३३

२—गोरखबानी पद ३५

ग्रहण की थी। अतएव योगमार्गियों से सम्बन्धित होने पर भी कबीर भक्तिमार्गी थे। विगत परिच्छेद में कबीर और सूरदास के पदों को उद्धृत कर हमने उनमें जो विचार-समता प्रदर्शित की है, उस समता का प्रमुख कारण यही भक्ति-मार्ग है। योग-परक तत्वों का जो उल्लेख अधिकांशतः कबीर में और कहीं-कहीं सूर में पाया जाता है, वह नाथपंथ के कारण है, पर जैसे कबीर अपने उत्तरकालीन जीवन में हठयोग को अनावश्यक ही नहीं, निरर्थक भी समझने लगे थे, उसी प्रकार आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के पश्चात् सूरदास ने भी भ्रमरगीत में हठयोग की—आसन-ध्यान-जमाना, प्राणायाम करना, आँख मूँदना, सिंगी रखना, भस्म रमाना आदि क्रियाओं की निःसारता सिद्ध की है। इस निर्गुण पंथी प्रभाव और आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति के ग्रहण के बीच सूर का वह जीवन है, जिसमें उन्होंने निवृत्ति-परायण भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखने वाली रचनायें की हैं, जिनमें कहीं विनय है, कहीं रुदन है, कहीं विराग है, कहीं पश्चात्ताप है और कहीं अपनी दीनता-हीनता का वर्णन है, पापमयी प्रवृत्ति का उल्लेख है, आत्मनिवेदन है। सूरदास ने ऐसी ही रचनायें आचार्य वल्लभ की आज्ञा से उनके सामने गाकर सुनाई थीं, जिन्हें सुनकर वे कहने लगे थे:—"सूर है कैं ऐसो काहे कूं घिघियातु है, कछु भगवल्लीला वर्णन करि।" इसके पश्चात् सूर का जैसे कायाकल्प हो गया, विनय एवं दास्य भक्ति का घिघियाना एकदम बन्द हो गया। वे प्रवृत्तिपरक हरि-लीला-वर्णन में तन्मय हो गये और जीवन के अन्तिम क्षण तक उसी में तल्लीन बने रहे। इस हरिलीला का वर्णन आगामी परिच्छेदों में होगा। इस परिच्छेद में हम उनकी ऐसी रचनाओं पर विचार करना चाहते हैं, जिनमें निवृत्तिमूलक वैष्णव दास्य-भक्ति का निरूपण है और जो आचार्य वल्लभ से मिलने के पूर्व ही लिखी जा चुकी थीं।

गीता (७-१६) में भक्त चार प्रकार के कहे गये हैं:—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन चारों में ज्ञानी भक्त को ही भगवान ने श्रेष्ठ स्वीकार किया है। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और नारद ऐसे ही ज्ञानी भक्त थे—प्रशान्त और गम्भीर। ज्ञानी भक्त उच्चकोटि के विरागी भी होते हैं। अतः वैष्णव भक्ति में ज्ञान और वैराग्य की निन्दा तो नहीं है, पर उसे भक्ति का सहायक और उससे अवर कोटि का अवश्य माना गया है। गीता में भी ज्ञानी शब्द भक्त का विशेषण है, अर्थात् ज्ञान रूपी साधन के द्वारा वह भक्त बना है। गोस्वामी तुलसीदास "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव

संभव खेदा ।।" कहकर ज्ञान और भक्ति का एक ही परिणाम सिद्ध करते हैं, पर इसी की आगे वाली पंक्तियों में भक्ति को ज्ञान से ऊपर उठा देते हैं :—

ज्ञान के पंथ कृपान की धारा। परत खगेश होइ नहिं वारा ॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा ॥

अर्थात् ज्ञान का मार्ग कृपाण की तेज धार है, जिस पर पैर रख कर मनुष्य बच नहीं पाता, परन्तु भक्ति करते हुए बिना किसी यत्न और प्रयास के संसार के मूल कारण अविद्या को नष्ट कर देता है:—

सूरदास ने भी भक्ति के साधक ज्ञान की प्रशंसा की है। यह ज्ञान अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करता है—भगवान और भक्त के बीच पड़े हुये परदे को दूर करता है। अतः यह भक्ति रूपी साध्य के लिए साधन का कार्य करता है। इसके पश्चात् भक्ति फिर साधन बन जाती है, जिससे परम साध्य भगवान प्राप्त होते हैं। सूर की नीचे लिखी पंक्तियाँ इसी तथ्य पर प्रकाश डालती हैं:

सूरदास तब ही तम नासै ज्ञान अगिनि झर फूटै ॥१६॥
सूरसागर (ना० प्र० स० ३६२)

सूर मिटै अज्ञान मूरछा ज्ञान मूल के खाये ॥३२॥ द्वितीय स्कन्ध
सूरसागर (ना० प्र० स० ३७५)

सकाम और निष्काम भक्ति—सूर ने तृतीय स्कन्ध के ग्यारहवें पद में भक्ति के दो भेद किए हैं : सकाम और निष्काम। आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु तीनों प्रकार के भक्तों की भक्ति सकाम होती है। सकाम भक्ति द्वारा भी भक्त क्रमशः उद्धार पा जाता है। धीरे-धीरे वह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा) तक पहुँचता है और ब्रह्मा के साथ विष्णु-पद में लीन हो जाता है। निष्काम भक्ति द्वारा भक्त सीधा वैकुण्ठ में पहुँचता है और फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता। भक्ति के ये भेद श्रीमद्भागवत के अनुसार हैं। भक्ति की इस अवस्था में भक्त को न असन-वसन की चिन्ता रहती है, न पुत्र-स्त्री आदि के पारिवारिक हित-संबंध का विचार रहता है। किसी के जाने का शोक और न किसी के आने का आनन्द होता है, वचनों में कोमलता और नम्रता रहती है तथा सदैव प्रभु-प्रेम में मग्न रहने से मुदिता भूमिका का भान होता रहता है।[1]

१—भक्ति पंथ को जो अनुसरै।
पुत्र कलत्र सों हित परिहरै। असन वसन की चिन्त न करै ॥२।२०
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६४)
गये सोच आये नहिं आनन्द, ऐसो मारग गहिये।
कोमल वचन दीनता सबसों, सदा अनंदित रहिये ॥२।१८।
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६१)

गीता के शब्दों में 'योग क्षेमं वहाम्यहम्' उनके योग क्षेम का भार प्रभु स्वयं वहन करते हैं, क्योंकि जो उनकी शरण में पहुँच गया, उसे वे कैसे विस्मृत कर सकते हैं। कोई पंगु द्वार पर आ जावे, तो उसका पोषण करना ही पड़ता है—ऐसा सांसारिक नियम है। फिर वे तो विश्वम्भर हैं, करुणागार हैं, शरणागत को विना अपनाये कैसे रह सकते हैं ?

जो प्रभु के शरणागत आवै। ताकों प्रभु क्योंकर विसरावै ॥
शरण गये को को न उबार्‍यौ।
जब जब भीर परी सन्तन कों, चक्र सुदर्शन तहाँ संभार्‍यौ ॥३।१४

सूरसागर (ना०प्र०स० १४)

हरि सो ठाकुर और न जन को।
जेहि जेहि विधि सेवक सुख पावै, तेहि तेहि विधि राखत तिनकों।
भूखे बहु भोजन जु उदर को, तृपा तोय, पट तन को।
लग्यो फिरत सुरभी ज्यों सुत संग उचित गमन गृह वन को ॥१।६।

सूरसागर (ना० प्र० स० ४६२६)

सभी वैष्णव भक्तों ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा पद इसी कारण दिया है। इस भक्ति में पहले भावुकता अर्थात् भगवान-विषयक रति का जागरण होता है। यह रति भाव ही सांद्र होकर प्रेम कहलाता है। वैष्णव कवियों ने इस प्रेम की प्रभूत प्रशंसा की है। सूर की प्रेमाभक्ति का दिग्दर्शन हम पिछले परिच्छेद में करा चुके हैं। नारद भक्ति सूत्र संख्या ८२ के आधार पर भक्ति ग्यारह प्रकार की हैं : गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति। श्रीमद्भागवत ७।५।२३ में नवधा भक्ति [२] का वर्णन है जिनके श्रवण और कीर्तन का समावेश गुणमाहात्म्य में हो जाता है, अर्चन, पादसेवन और वन्दन पूजासक्ति में आ जाते हैं, स्मरण स्मरणासक्ति में, दास्य दास्यासक्ति में, सख्य सख्यासक्ति में और आत्म निवेदन आत्मनिवेदनासक्ति में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। रूपासक्ति कान्तासक्ति और

२—सन्त सुन्दरदास ने 'ज्ञान समुद्र' नामक ग्रन्थ के द्वितीय उल्लास में छन्द संख्या ४ से लेकर अन्तिम छन्द संख्या ५६ तक तीन प्रकार की भक्ति का वर्णन किया है : नवधा भक्ति, प्रेमाभक्ति और पराभक्ति जो क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम कोटि की हैं। इनमें नवधा भक्ति श्रीमद्भागवत के ही अनुसार वर्णित हुई है। निर्गुण सम्प्रदाय के सन्त होने के कारण उन्होंने पादसेवन आदि को मानसिक रूप प्रदान कर दिया है।

वात्सल्यासक्ति के साथ प्रेमासक्ति का रूप धारण कर लेती है, जो सगुण भक्ति का मुख्य अंग है।

नवधा भक्ति में अर्चन और पाद सेवन को छोड़कर शेष सात निर्गुण भक्ति के भी अंग कहे जा सकते हैं। परम विरहासक्ति और तन्मयतासक्ति निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की भक्ति की चरम अवस्थायें हैं। सूर में हमें भक्ति के ये सभी प्रकार मिल जाते हैं।

गुणमाहात्म्य (प्रभु के गुणों का श्रवण और कीर्तन)—प्रभु के गुणों का श्रवण और गान भक्त के हृदय में बल का संचार करता है। प्रभु का स्तोता प्रभु के गुण-गान में लीन होकर जिस सुख को प्राप्त करता है, वह सुख तप और तीर्थ स्नान से प्राप्त नहीं हो सकता।[1] प्रभु के गुणों का वर्णन करते हुए सूर लिखते हैं :—

तुम अनादि, अविगत, अनन्त गुण पूरण परमानन्द।
सूरदास पर कृपा करो प्रभु श्रीवृन्दावन चन्द ॥१। १०३।

सूरसागर (ना० प्र० स० १६३)

तुम अविगत, अनाथ के स्वामी, दीनदयालु निकुंजविहारी।
सदा सहाय करी दासन की जो उर धरी सोइ प्रतिपारी ।१।१००

सूरसागर (ना० प्र० स० १६०)

दीनानाथ, पतितपावन यश वेद उपनिषद गावै ।१।६३।

सूरसागर (ना० प्र० स० १२२)

प्रभु के गुणों में सूर की दृष्टि वारवार उनके पतितपावन, दीनदयालु, अभयदान-प्रदायक आदि उद्धारक स्वरूप से सम्बन्धित गुणों पर जाती है, जो भक्त के उत्थान के लिये अत्यन्त आवश्यक है। वैसे प्रभु अनादि है, एकरस है, एक है, अखंड है, अनन्त है, अनुपम है, परमानन्द स्वरूप है–ये गुण भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होते। सूर अपने प्रभु के गुणों को सुनकर वैसे ही प्रफुल्लित हो जाते हैं, जैसे सूर्य को देखकर कमल विकसित हो उठता है :—

जैसे कमल होत परिफूलित देखत दरशन भान।
सूरदास प्रभु हरिगुण मीठे नित प्रति सुनियत कान ॥१।१०६

सूरसागर (ना० प्र० स० १६६)

पूजा (अर्चन, पादसेवन, और वन्दन)—प्रभु के सामने प्रणत होना, उनका अर्चन और पूजन करना भक्त के श्रद्धा-संवलित हृदय के लिये अत्यन्त

१—जो सुख होत गोपालहिं गाये।
सो न होत जप तप के कीन्हें कोटिक तीरथ न्हाये ॥२,२॥

स्वाभाविक है। सभी श्रद्धालु अपने श्रद्धेय के आगे झुक जाते हैं। मनोविज्ञान की यह एक सामान्य पद्धति है। सूर के नीचे लिखे पदों में पूजा की यह भावना प्रकट हुई है :—

चरन कमल वन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे कों सब कुछ दरसाई ॥१।१
सूरसागर (ना० प्र० स० १)

चरन अम्बुज बुद्धि भाजन, लेहु भरि भरि भरि ॥१८८ ॥स्कंध१
सर दीन प्रभु प्रगट विरद सुनि अजहुँ दयालु पतित सिरनाई ॥१।६
सूरसागर (ना० प्र० स० ६)

शिव विरंचि सुरपति समेत सब सेवत प्रभुपद चाये ॥१।१०३
सूरसागर (ना० प्र० स० १६३)

जो हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई, विनत्ती सुन प्रभु मेरे।
सब तजि तुम शरणागत आये निजकर चरण गहेरे ॥१।११०
सूरसागर (ना० प्र० स० १७०)

वन्दौं चरन सरोज तुम्हारे।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन, ललित त्रिभंगी, प्राण पियारे ॥
जे पद पद्म सदा शिव के धन, सिंधु सुता उर ते नहिं टारे।
जे पद कमल तात रिस त्रासत, मन वच क्रम प्रहलाद सँभारे ॥
जे पद पद्म परसि जल पावन, सुरसरि दरस कटत अघ भारे।
जे पद पद्म परसि ऋषि पत्नी' बालि, नृग, व्याध पतित बहु तारे ॥
जे पद पद्म रमत वृन्दावन, अहि सिर धरि अगणित रिपु मारे।
जे पद पद्म परसि ब्रज भामिनि सर्वस दै सुत सदन बिसारे ॥
जे पद पद्म रमत पण्डव दल, दूत भये सब काज सँवारे।
सूरदास तेई पद पंकज, त्रिविध ताप दुख हरन हमारे ॥१,३६॥
सूरसागर (ना० प्र० स० ६४)

हरि हरि हरि हरि सुमिरण करो।
हरि चरणारविन्द उर धरो ॥१।२२॥
सूरसागर (ना० प्र० स० ४६२८)

परसे नगन नाहिं गिरधर के, करी बहुत अन्याई ॥१।८८

रूप—आनन्द रूप प्रभु के रूप के साथ गुणों का ध्यान आ ही जाता है। गुण आन्तरिक सम्पत्ति है, रूप बाह्य वैभव है। एक में दूसरे का प्रतिबिम्ब पड़ ही जाता है। इसीलिये सूर ने लिखा है:—

हरि को रूप कह्यो नहिं जाइ। अलख अखंड सदा इक भाइ ॥२।४

सूर को प्रभु के निर्गुण और सगुण दोनों रूप ग्राह्य हैं। वे उसे निर्विशेष तथा गुण-रूप-रहित मानकर अवतार रूप में उसका सगुण होना लिखते हैं। उदाहरण के लिये नीचे लिखे पदों पर विचार कीजिये :—

वेद उपनिषद् यश कहै, निर्गुणहि बतावै।
सोइ सगुण होइ नन्द की दाँवरी बँधावै ॥१।४।
सूरसागर (ना०प्र०स० ४)

अपने जान मैं बहुत करी।
दूरि गयौ दरशन के ताईं व्यापक प्रभुता सब बिसारी ॥
मनसा वाचा कर्म अगोचर सो मूरति नहिं नैन धरी।
गुण बिनु गुणी, स्वरूप रूप बिनु, नाम लेत श्री श्याम हरी। १।५६
सूरसागर (ना०प्र०स० ११५)

यहाँ ईश्वर को मनसा-वाचा-कर्मणा अगोचर कहकर, गुण के बिना गुणी और रूप के बिना रूपधारी मानना आचार्य शंकर के अनुसार है जो निर्गुण ब्रह्म और सगुण ईश्वर में अन्तर मानते हैं। उनके मत में माया-उपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। वही सगुण है, ब्रह्म नहीं। आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म को माया की उपाधि से पृथक् और सगुण माना है। सूर ने प्रथम पद में भी वेद-उपनिषद्-वर्णित निराकार ब्रह्म को ही सगुण अर्थात् साकार होकर अवतार धारण करने वाला कहा है। अतः इन पंक्तियों पर आचार्य वल्लभ का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता और ये निस्सन्देह उनकी भेंट से पूर्व की लिखी हुई हैं।

अथर्ववेद के "तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" की टेकवाले कई मंत्रों में[1] प्रभु के विराट रूप का वर्णन किया गया है। नीचे लिखे पद में सूर ने प्रभु के इसी व्यापक, विशाल रूप का प्रदर्शन किया है:—

नैनन निरखि श्याम स्वरूप
रह्यो घट घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप ॥

१— अथर्ववेद १०।७।३२,३३,३४ तथा १०।८।१।

चरण सम पताल जाके, शीश है आकाश।
सूर चन्द्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकाश ॥२।२७

सूरसागर (ना०प्र०स० ३७०)

प्रभु के आतंकपूर्ण, शक्ति-समन्वित एवं महिमामंडित रूप का वर्णन नीचे लिखी पंक्तियों में है:—

हरि के भय रवि शशि डरै। वायु वेग अतिशय नहिं करै॥
अगिन रहै जाके भय माहीं। सो हरि, माया जा वश माहीं॥३।१४

सूरसागर (ना०प्र०स० ३९४)

स्मरण—भगवान का बार-बार स्मरण करना, मनको वासनाओं से हटाकर निरन्तर प्रभु में रमाना, हरि-नाम का सतत जाप करना भक्ति का एक प्रमुख अंग है। भगवद्‌भजन, हरि के नाम का स्मरण संसार-सागर से पार करने वाला है। सूर भगवद्भक्ति रूपी चन्द्रिका के चकोर थे। जैसे चकोर बार-बार चन्द्र की ओर अपनी दृष्टि ले जाता है, वैसे ही सूर बार-बार प्रभु का स्मरण करने के लिए अपने मन से कहते हैं। सूर के अनेक गीतों की टेक है: "हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो"। प्रभु का स्मरण सन्तों का अनुपम धन रहा है। इस अमूल्य धन-राशि से सत्य-संपदा सुलभ हो जाती है। भगवान के नाम का जाप पाप-शाप को ध्वस्त कर देता है, कलुष-पाश को काट देता है। इसीलिए सूर कहते हैं:—

रे मन सुमिरि हरि हरि हरि।
शत यज्ञ नाहीं राम सम, परतीति करि करि करि।
हरिनाम हिरणाकुस विसार्‌यो, उठ्‌यो बरि बरि बरि।
प्रह्लाद हित जिन असुर मार्‌यो तिन्हें डरि डरि डरि॥
गज, गृद्ध, गणिका, व्याध के अघ गये गरि गरि गरि॥१। १८८

सूरसागर (ना०प्र०स० ३०६)

हांसी में कोउ नाम उचारै। हरिजू ताकों सत्य विचारै॥
नाम सुनत यों पाप पराहीं। पापी हू बैकुंठ सिधाहीं॥६।२।

सूरसागर (ना०प्र०स० ४१५)

बड़ी है राम नाम की ओट।
सरन गये प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा के कोट॥

वैठत सभा सवै हरिजू की कौन वड़ो को छोट।
सूरदास पारस के परसे मिटत लोह के खोट ॥ १। १२०

सूरसागर (ना०प्र०स० २३२)

भगवान के नाम-स्मरण में कितना वल है। इससे भक्त के दोष वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे पारस के स्पर्श से लोहे का खोटापन दूर हो जाता है और वह सोना वन जाता है। दुख-दग्ध प्राणियों के लिए, पद-दलित जातियों के लिये इससे वढ़कर अन्य कौन सांत्वना देनेवाला सिद्ध होगा ? प्रभु ही भक्तों के आश्रय स्थान हैं, हताश के लिए आशा-स्रोत हैं, अशरण की शरण हैं। सूर लिखते हैं:—

ऐसो को दाता है समरथ जाके दये अघाऊँ।
अन्तकाल तुमरौ सुमिरन गति अनत कहूँ नहिं जाऊँ।१।१०४

सूरसागर (ना०प्र०स० १६४)

दास्य—भक्त के लिए भगवान स्वामी है, प्रभु है, नाथ है। भक्त प्रभु का सेवक है, अनुचर है, दास है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है: "सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि"। आचार्य वल्लभ की भेंट से पूर्व सूर ने इस भाव से सम्वन्ध रखने वाले पद प्रभूत मात्रा में लिखे थे। जब आचार्य जी ने सूर से कुछ सुनाने के लिए कहा, तो सूर ने इन्हीं पदों में से नीचे लिखा पद उन्हें सुनाया था:—

हौं हरि सव पतितन को नायक।
को करि सकै वरावरि मेरी इते मान को लायक॥

× × × ×

ऐसी कितक वनाऊं प्राणपति सुमिरन है भयौ आड़ौ।
अव की वेर निवार लेत प्रभु सूर पतित को टाँड़ौ ॥१।८७

सूरसागर (ना०प्र०स० १४६)

इस पद में सूर प्रभु को प्राणपति—अपने प्राणों का स्वामी कहते हैं। अतः यह पद दास्यभक्ति का ही समझा जायगा। सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में ऐसे अनेक पद हैं, जिनमें सूर अपने प्रभु को नाथ और अपने को उनका जन या सेवक कहकर पुकारते हैं। जैसे:—

नाथ सकौ तौ मोहिं उधारौ ॥१।७२। सूरसागर (ना०प्र०स० १३१)
अव के नाथ मोहिं उधारि ॥१।४०। सूरसागर (ना०प्र०स० ६६)

माधव जू जो जनतैं बिगरै।
तऊ कृपालु करुनामय केशव प्रभु नहिं जीय धरै ॥१।५८

सूरसागर (ना०प्र०स० ११७)

जन की और कौन पति राखै ॥१।१५। सूरसागर (ना०प्र०स०१५)

सख्य—आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व सूर ने जो पद लिखे थे, उनमें भी सख्य-भाव की भक्ति पाई जाती है। हरिलीला के पद तो इसके अन्तर्गत आवेंगे ही, क्योंकि भगवान की लीला में भगवान के भक्त सखाभाव से ही भाग लेते हैं। प्रथम स्कन्ध के विनय वाले पदों में से तीन पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध सख्य-भाव के साथ है:—

हरि सौं मीत न देखौं कोई।
अन्तकाल सुमिरत तेहि औसर आनि प्रतच्छौ होई ॥१।१०

सूरसागर (ना०प्र०स० १०)

मोहि प्रभु तुमसौं होड़ परी।
ना जानों करिहौ जु कहा तुम नागर नवल हरी ॥१।७१

सूरसागर (ना०प्र०स० १३०)

आज हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं ॥१।७५

सूरसागर (ना०प्र०स० १३४)

आत्म-निवेदन—भक्त प्रभु के आगे अपने हृदय को खोलकर रख देता है, कोई दुराव या छल-कपट नहीं रखता। वह यह भी जानता है कि मैं अपनी बात को छिपाऊँ भी तो प्रभु से वह छिपी कब रहेगी। वेद के शब्दों में गुप्त से गुप्त स्थान में होने वाली—गुह्य से गुह्य—मंत्रणा तक को सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा प्रभु जान लेते हैं।[1] यही नहीं, आत्म-निवेदन में एक दृष्टि और रहती है। भक्त निवेदन किससे करे? जो सत्ता उससे दूर बैठी है, उस तक संभव है, उसको वाणी ही न पहुँचे। अतः जो सत्ता निकट है, उसी से वह आत्म-निवेदन कर सकता है। प्रभु के अतिरिक्त और कौन सी ऐसी सत्ता है जो उसके निकट हो? प्रभु निकट ही नहीं निकटतम हैं। वेद के शब्दों में वे नेदिष्ठ (Nearest) हैं। अतः भक्त जब चाहे और जहाँ चाहे, उनके सामने अपनी कष्ट-कहानी कह सकता है। आत्म-निवेदन से हृदय हलका, भार-निश्चिन्त हो जाता है। मुक्त होने के लिए ही तो भक्त का समस्त प्रयास चलता

१—अथर्ववेद ४।१६।२

है। सूर के अनेक पदों में 'आत्म-निवेदन का भाव अभिव्यंजित हो रहा है। नीचे लिखे पद पर विचार कीजिये :—

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महा मोह के नूपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल।
भरम भर्यौ मन भयौ पखावज, चलत कुसंगति चाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहीं काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल॥१।९३

सूरसागर (ना०प्र०स० १५३)

चौरासी वार्ता के अनुसार यह पद भी पूर्व रचनाओं के अन्तर्गत है। इस पद को सुनकर आचार्य वल्लभ ने कहा था, "सूरदास, अब तौ तुममें कछू अविद्या रही नहीं, तुम्हारी अविद्या प्रभून ने दूर कीनी, तातें कछू भगवद्यश वर्णन करो।" इस कथन से भी यह सिद्ध होता है कि सूर को दर्शन-रूप सिद्धि ब्रह्म-सम्बन्ध होने के कुछ समय या कई वर्ष पश्चात् हुई होगी। हमने सूरसौरभ में यह सिद्धि-प्राप्ति सं० १५८१ में मानी है जिसमें सरस अर्थात् मन्मथ सम्वत् पड़ता है।

तन्मयता—तन्मयता में अनन्यता रहती है। भक्त प्रभु में अपने आपको इतना लीन कर देता है कि उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की रुचि ही नहीं करता। उठते, बैठते, सोते, जागते सदैव उसी के ध्यान में मग्न रहता है। सूर के नीचे लिखे पद इसी अवस्था के द्योतक हैं :—

मेरे जिये जु ऐसी बनी।
छांड़ि गोपाल और जो जांचों तौ लाजै जननी॥१।१०७

सूरसागर (ना०प्र०स० २०७६)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पै आवै॥१।१०८

सूरसागर (ना०प्र०स० १६८)

यहै जप, यहै तप, यम नियम व्रत यहै, यहै मम प्रेम फल यहै पाऊँ।
यहै मम ध्यान, यह ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर प्रभु देहु, हौं यहै पाऊँ।

सूरसागर (ना०प्र०स० १६७)

कृपा अब कीजिये बलि जाहुँ।
नाहिं मेरे और कोउ बलि चरण कमल बिनु ठाँहु ॥१।६६
सूरसागर (ना०प्र०स० १२८)

जाको मन लाग्यौ नंदलालहि ताहि और नहिं भावै हो।
ज्यों गूंगौ गुर खाइ अधिक रस सुख सवाद न बतावै हो॥
जैसे सरिता मिलै सिंधु कों बहुरि प्रवाह न आवै हो।
ऐसे सूर कमल लोचन तें चित नहिं अनत डुलावै हो ॥२।६
सूरसागर (ना०प्र०स० ३५३)

सूर की दृष्टि में प्रभु को छोड़ कर अन्य देवी देवताओं के पास नहीं जाना चाहिये। कल्याण-केन्द्र कृष्ण रूपी कामधेनु ही जब मिल गई तो छेरी रूपी देवताओं को कौन पूछता है? गंगा को छोड़कर क्यों कोई कूप खोदने बैठेगा? सूर के ही शब्दों में—"और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।" जो देव स्वयं याचक हैं, वे दूसरों को क्या दे सकते हैं? देंगे भी तो उसी प्रभु से माँग कर देंगे। फिर स्वयं भगवान को ही क्यों न पकड़ा जाय? तुलसी के शब्दों में—"जिहि जाचत जाचकता जरिजाय जरावत जोर जहानहि जो।" सूर की अपने प्रभु में ऐसी ही एकतानता, तन्मयता थी। उसका जप, तप, ध्यान, ज्ञान आदि सब कुछ ईश्वर ही था।

परम विरह—सभी भक्त प्रभु के विरह की अनुभूति से व्याकुल रहे हैं। यही व्याकुलता उन्हें उसके पास ले गई है। सूर की वियोग-व्याकुलता, विरह-व्यथा अपार थी, अगाध थी—यह तथ्य उनके अनेक पदों में अभिव्यञ्जित हो रहा है। विरह में आचार्यों ने एकादश अवस्थाओं का परिगणन किया है जो लौकिक पक्ष में ही संभव हो सकती है। अध्यात्मपक्ष में स्मरण, गुणकथन, अभिलाषा, व्याकुलता जैसी कुछ थोड़ी-सी अवस्थायें ही आ सकती हैं। स्मरण और गुणकथन भक्ति की एकादश अवस्थाओं के ही अन्तर्गत है जिनका वर्णन हो चुका है। अभिलाषा, व्याधि और उद्वेग (व्याकुलता) के सूचक पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

अभिलाषा—चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होति नहिं कबहूं सो सायर सुख जोग॥
सूरसागर (ना० प्र० स० ३३७)

चलि सखि, तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना बिकसाहिं ॥१।१८५
सूरसागर (ना० प्र० स० ३३८)

अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जौ दिखावहु नाहिंने रुचि आन ।।१।४७
सूरसागर (ना०प्र०स० १०६)

उद्वेग (व्याकुलता)—मेरी तौ गति पति तुम, अन्तहिं दुख पाऊँ।
हौं कहाइ तिहारौ, अब कौन कौ कहाऊँ ।।
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६)

अब के राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया, पारधि साधे बान ।।१।३८
सूरसागर (ना०प्र०स० ९७)

हृदय की कबहुँ न जरनि घटी।
बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसे जाति कटी ।।
(विवशता)—अपनी रुचि जितही तित खेंचति इन्द्रिय ग्राम गटी।
हौ तित ही उठि चलत कपट लगि बाँधे नयन पटी।
व्याधि—दिन दिन हीन छीन भइ काया, दुख जंजाल जटी।
चिन्ता गई अरु भूख भुलानी, नींद फिरत उचटी ।।१।३९
सूरसागर (ना०प्र०स० ९८)

कान्तासक्ति और वात्सल्यासक्ति के उदाहरण हरिलीला वाले पदों में तो बाहुल्य से हैं, पर सूर की पूर्व रचनाओं में उपलब्ध नहीं होते। कान्तासक्ति का केवल एक उदाहरण द्वितीय स्कंध के पाँचवें पद में है जो इस प्रकार है:—

गोविन्द सौ पति पाइ कहा मन अनत लगावै।
गोपाल भजन बिनु सुख नहीं जो चहुँ दिसि धावै ।।
पति कौ व्रत जो धरै त्रिया सो शोभा पावै।
आन पुरुष को नाम लेत तिय पतिहि लजावै ।।
सूरसागर (ना०प्र०स० ३५२)

कबीर की साखियों और पदों में कान्तासक्ति के कई उदाहरण हैं। वात्सल्यासक्ति का उदाहरण वेद ने "वत्सं न मातरः" कहकर उपस्थित किया है। सूर ने उसके विपरीत क्रम से लिखा है:—"लग्यौ फिरत सुर भी ज्यों सुत संग उचित गमन गृह बन कों।" वेद में मातायें अनेक भक्त हैं, प्रभु वत्स हैं। सूर में प्रभु गौ है, भक्त बछड़े हैं। इन उक्तियों में एक वचन और बहु वचन के प्रयोग भी ध्यान देने योग्य हैं।

प्राचीन आचार्यों ने आत्म-निवेदन को छः भागों में विभाजित किया था ।[1] अनुकूल का संकल्प, प्रतिकूल का त्याग, गोप्तृत्ववरण, रक्षा का विश्वास, आत्मनिक्षेप और कार्पण्य । सूर की रचनाओं में से इन सब के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं ।

अनुकूल का संकल्प—सुवा चलि ता वन कौ रस पीजै ।
जा वन रामनाम अमृतरस श्रवण पात्र भरि लीजै ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४०)

आत्मा के उत्थान के अनुकूल जहाँ वातावरण मिले, वहीं जाने का संल्कप इन पंक्तियों प्रकट हुआ है ।

प्रतिकूल का त्याग—

दिये लेत नहिं चार पदारथ, चरण कमल चित लाये ।
तीन लोक तृण सम करि लेखत, नंद नंदन उर लाये ॥२।२
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४६)

अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस ॥१।१८४
सूरसागर (ना०प्र०स० ३३७)

जो पदार्थ आध्यात्मिक उत्थान के अनुकूल नहीं हैं, प्रतिकूल हैं, भक्त उनका परित्याग कर देता है ।

गोप्तृत्ववरण—प्रभु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जो गुप्त हैं, रहस्यमय हैं । प्रभु की ये शक्तियाँ भक्तों की रक्षा किया करती हैं । वेद ने "ऋष्वाते बाहू", "बृहन्ताशरणा", "अक्षितवर्म" आदि शब्दों[2] द्वारा प्रभु की इन शक्तियों की ओर संकेत किया है । प्रभु की इस छिपी हुई कृपा का दान इतना अधिक है कि भक्त उसे अनुभव करके मुग्ध हो जाता है । सूर लिखते हैं :—

भृंगीरी चलि चरन कमल पद जहँ नहिं निसि को त्रास ।
जहँ विधि भानु समान प्रभा नख सो वारिज सुखरास ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३३६)

करनी करुनासिंधु की कछु कहत न आवै ।
कपट हेतु परसे बकी जननी गति पावै ॥१।४
करुनामय तेरी गति लखि न परै ।
धर्म अधर्म अधर्म धर्म करि अकरन करन करै ॥१।४५
सूरसागर (ना०प्र०स० १०४)

१—कल्याण, साधनांक, पृष्ठ ६५ ।
२—ऋ० १०।१२५।५

अवगति गति जानी न परै।
मन, वच, अगम अगाध अगोचर केहि विधि बुधि संचरै॥
सूरसागर (ना० प्र० स० १०५)

रक्षा का विश्वास—भक्त को अपनी कठिन से कठिन परिस्थिति में यह विश्वास रहता है कि प्रभु उसकी रक्षा करेंगे। संसार में माता, पिता, बन्धु, पुत्र, कलत्र, सम्बन्धी—सब भले ही साथ छोड़ दें, विश्वासघाती बन बैठें, पर प्रभु साथ नहीं छोड़ेगा, वह विश्वासघात नहीं करेगा—(God will not turn a traitor.)—यह विश्वास जीवन-यात्रा में भक्त के लिये शम्बल का कार्य करता है। सूर की रचनाओं में रक्षा का यह दृढ़ विश्वास विद्यमान है।

सूर कहत जे भजत राम कों तिनसों हरि सों सदा बनी।१।२४
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६)

जब जब दीनन कठिन परी।
जानत हों करुनामय जनकों तब तब सुगम करी॥१।१६
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६)

जाको मन मोहन अंग करै।
ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग वैर परै॥१।२२
सूरसागर (ना० प्र० स० ३७)

जाको दीनानाथ निवाजै।
भव सागर में कबहुँ न भूकै, अभय निसाने बाजै॥१।२१
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६)

आत्म निक्षेप—आत्म समर्पण द्वारा भक्त अपने आपको प्रभु के हाथों में सौंप देता है जैसे:—

जौ हम भले बुरे तौ तेरे।
सब तजि तुव सरनागति आयौ निजकर चरन गहे रे॥१।११०
सूरसागर (ना०प्र०स० १७०)

कार्पण्य—भक्त प्रभु के आगे अपनी निर्बलता खोल कर रख देता है, प्रभु की सर्वशक्तिमत्ता के सामने अपने कार्पण्य एवं दैन्य का प्रकाश करता है। आत्म-निवेदन का यह आवश्यक अंग है, जैसे:—

प्रभु हौं बड़ी बेर कौ ठाड़ौ।
और पतित तुम जैसे तारे तिन ही में लिखि काढ़ौ॥१।७८
सूरसागर (ना०प्र०स० १३७)

जौ पै तुम ही बिरुद बिसार्‌यौ।
तौ कहौ कहाँ जाउँ करुनामय कृपण कर्म कौ मार्‌यौ ॥१।९७

सूरसागर (ना०प्र०स० १५७)

ऊपर आत्म-निवेदन के जिन अंगों का वर्णन किया गया है, वे लक्ष्मी-तंत्र संहिता के अनुसार हैं। परवर्ती आचार्यों ने आत्म-निवेदन के सात विभाग किये हैं जिन्हें हम विनय भक्ति की भूमिका कह सकते हैं। ये सात विभाग हैं: दीनता, मान-मर्षण, भय-दर्शन, भर्त्सना, मनोराज्य, आश्वासन और विचारणा। आश्वासन में प्रभु की उदारता, शरणागतवत्सलता और रक्षा का विश्वास रहता है, विचारणा में अपने पापों का स्मरण और पश्चात्ताप। इस भाव-भूमिका के अभाव में विनय-भक्ति अधूरी रहती है। नीचे क्रमशः सातों विभागों के उदाहरण दिये जाते हैं :—

दीनता—

कौन सुनै यह बात हमारी।
समरथ और न देखौं तुम बिनु, कासौं बिथा कहौं बनवारी।१।१००

सूरसागर (ना०प्र०स० १६१)

जैसे राखहु तैसे रहौं।
जानत दुख सुख सब जन के तुम मुख करि कहा कहौं ॥१।१०१

मान-मर्षण—इसमें अभिमान का त्याग और विनम्रता का वर्णन रहता है; जैसे:—

मेरी कौन गति ब्रजनाथ।
भजन बिमुख अरु शरण नाहीं, फिरत बिषयनि साथ ॥
हौं पतित अपराध पूरण जर्‌यौ कर्म बिकार।
काम क्रोधरु लोभ चितवनि नाथ तुम्हें बिसार ॥
उचित अपनी कृपा करिहौ तबै तौ बन जाइ।
सोइ करहु ज्यों चरण सेवै सूर जूँठनि खाइ ॥१।६७

सूरसागर (ना०प्र०स० १२६)

भय-दर्शन—भयावह वस्तुओं और दृश्यों के दर्शन करके अथवा अपने सम्मुख भय उपस्थित देखकर भक्त प्रभु की शरण जाता है और अपनी भयभीत परिस्थिति का निवेदन करता है; जैसे:—

अब के राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान ॥१।३८

सूरसागर (ना०प्र०स० ९७)

भर्त्सना—इसमें मन को डाँट फटकार कर प्रभु की ओर उन्मुख किया जाता है। मन को इस अवस्था में पहुँचाये बिना आत्म-निवेदन हो ही नहीं सकता; जैसे:—

रे मन मूरख जन्म गँवायौ।
करि अभिमान विषय रस गीध्यौ, श्याम शरण नहिं आयौ ॥१।२१४
सूरसागर (ना०प्र०स० ३३५)

मन राम नाम सुमिरन विनु वादि जनम खोयौ।
गोविन्द गुण चित विसारि कौन नींद सोयौ ॥१।२०६
सूरसागर (ना०प्र०स० ३३०)

मनोराज्य—यह समझकर कि मुझे प्रभु ने अपना लिया है, भक्त निर्द्वन्द्व हो जाता है और अपने पावन मनोराज्य में विचरण करता है। नीचे लिखे पद इसी अवस्था के द्योतक हैं:—

हमें नन्द नन्दन मोल लिये।
यम के फन्द काटि मुकराये अभय अजात किये ॥१।१११
सूरसागर (ना०प्र०स० १७१)

कहा कमी जाके राम धनी।
मनसा नाथ मनोरथ पूरण सुख निधान जाकों मौज धनी ॥
आनन्द मगन राम गुण गावै दुख सन्ताप की काटि तनी ॥१।२४
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६)

आश्वासन—इसमें प्रभु की उदारता, शरणागतवत्सलता और रक्षा का विश्वास रहता है। भक्त प्रभु की महनीय महता से आश्वस्त हो जाता है। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी वह अपने साहस को नहीं छोड़ता।

(प्रभु की उदारता)

प्रभु की देखौ एक सुभाइ।
अति गंभीर उदार उदधि सरि, जान शिरोमणि राइ ॥
तिनका सौ अपने जन कौ गुण मानत मेरु समान।
सकुचि समुद्र गनत अपराधहिं बूँद तुल्य भगवान ॥१।८
सूरसागर (ना०प्र०स० ८)

दीन को दयालु सुनौं अभयदान दाता।
सांची विरुदावलि तुम जग के पितु माता ॥

तीन लोक विभव दियौ तंदुल के खाता ।
सर्वस प्रभु रीझि देत तुलसी के पाता ॥१-६४

सूरसागर (ना०प्र०स० १२१)

(शरणागतवत्सलता)

राम भक्त वत्सल निज बानों ।
जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होइ कै रानों ॥१।११

सूरसागर (ना०प्र०स० ११)

भक्त वछल श्री यादवराई ।
भीष्म की परतिग्या राखी अपनों वचन फिराई ॥
सूर भक्त वत्सलता वरनों सर्व कथा कौ सार ॥१।१४७॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २६८)

भक्त वत्सलता प्रकट करी ।
सत संकल्प वेद की आज्ञा जन के काज प्रभु दूरि धरी ॥१।१४८

(आश्वासन)

सूर जलधि साँचे करुणानिधि निज जन जरनि मिटी ॥१।३६

सूरसागर (ना०प्र०स० ३८)

(रक्षा का विश्वास)

जाको हरि अंगीकार कियो ।
ताके कोटि विघ्न हरि हरि कैं अभय प्रताप दियो ॥१।२३

विचारणा—इसमें अपने पापों का स्मरण और पश्चात्ताप की भावनायें रहती हैं; जैसे:—

(पापों का स्मरण)

विनती करत मरत हों लाज ।
नख शिख लों मेरी यह देही है पाप की जहाज ॥१।२८

सूरसागर (ना०प्र०स० ९६)

सो कहा जु मैं न कियो, सोइ जौ चित धरिहौ ।
पतित पावन विरद सांच कौन भांति करिहौ ॥
जबतें जग जन्म लियौ जीव है कहायौं ।
तब तें छूट अवगुण, इक नाम कहि न आयौं ॥

साधु निन्दक, स्वाद लम्पट, कपटी, गुरु द्रोही।
जितने अपराध जगत लागत सब मोही॥
गृह गृह गृह द्वार फिर्यौ तुमको प्रभु छाँड़े।
अन्ध अन्ध टेक चले क्यों न परे गाढ़े।
कमल नैन करुनामय सकल अन्तर्यामी।
विनय कहा करै सूर क्रूर कुटिल कामी॥१।६५
सूरसागर (ना०प्र०स० १२४)

(पश्चाताप)

वादहिं जन्म गयौ सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मधुवन बस्यौ न जाइ॥
अबकी बेर मनुष्य देह धरि भजों न आन उपाइ।
भटकत फिर्यौं श्वान की नाईं नैक झूठ के चाइ॥
कबहूं न रिझये लाल गिरिधरन विमल विमल यश गाइ।
प्रेम सहित पग बाँधि घूँघरू सक्यौ न अंग नचाइ॥
श्री भागवत सुन्यौ नहिं श्रवननि नेंकहु रुचि उपजाइ।
अनन्य भक्त नरहरि भक्तन के कबहूँ न धोए पाँइ॥
कहा कहों जो अद्भुत है वह, कैसे कहूँ बनाइ।
भव अम्बोधि नाम निज नौका सूरहिं लेउ चढ़ाइ॥१।६५
सूरसागर (ना०प्र०स० १५५)

पापों के स्मरण में अपने दोषों, अपराधों अथवा कुत्सित कृत्यों पर भक्त का ध्यान जाता है; परन्तु पश्चात्ताप में विशेष रूप से सत्कृत्यों पर उसकी दृष्टि रहती है जिन्हें वह सम्पादित नहीं कर सका। दोनों दशाओं में वह अपने मन में ही मन्थन करता रहता है। इसी कारण इसे विचारणा का नाम दिया गया है।

भक्ति की महत्ता—ऊपर सूर की वैष्णवभक्ति का जो वैज्ञानिक विवेचन किया गया है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि सूर ने अपनी भक्ति सम्बन्धी रचनायें इसी प्रकार-भेद वाले दृष्टिकोण को सामने रखकर लिखी थीं। प्रकार-भेद तो पांडित्य-प्रियता के सूचक हैं। वे विश्लेषणमयी बुद्धि के परिणाम हैं। सूर इन सब बातों से ऊपर थे। संकीर्ण मनोवृत्ति वाली साम्प्रदायिकता से भी ऊपर थे। जैसे कबीर ने अपने प्रभु को राम, गोविन्द, केशव आदि विभिन्न नामों से पुकारा है, वैसे ही सूर ने उसे राम, कृष्ण, गोविन्द, हरि आदि नामों

से सम्बोधित किया है। ये सब नाम उन दिनों भगवान के लिये सामान्य रूप से प्रयुक्त होते थे। सूर ने सम्प्रदाय विशेष के कारण नामों में भेद की स्थापना नहीं की। वे जहाँ—"कलि में राम कहै जो कोई। निश्चय भव जल तरिहै सोई।"—इस प्रकार का कथन करते हैं, वहाँ ऐसा भी लिखते हैं:—"बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसे जाति कटी।"

सूरदास वास्तव में भक्त थे। भगवद्भक्ति ही उनका प्राण—उनका सर्वस्व थी। एक सच्चे, उच्च कोटि के सन्त की भाँति वे भगवद्भक्ति को निखिल कार्यों की साधिका मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि भक्ति है, तो जप, तप, वेदपाठ आदि सब लाभदायक होंगे और यदि भक्ति नहीं है तो इनमें से एक भी काम नहीं आ सकेगा। "ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं"—इस सिद्धान्त के स्थान पर उनका सिद्धान्त था—"भक्ति के बिना मुक्ति नहीं।" "ज्ञानाग्निः सर्वं कर्माणि भस्म सात् कुरुतेऽर्जुन"—के स्थान पर सूरदास का कथन था—"सूरदास भगवन्त भजन बिनु कर्म रेख न कटी।" भक्ति को वे सर्वोपरि स्थान देते थे। यही नहीं, भक्ति उनके लिये व्रत, संयम, योग, स्वाध्याय, तीर्थ आदि सब कुछ थी।[1]

उनका विश्वास था कि भक्ति के बिना मनुष्य निरन्तर आवागमन की चक्की में पिसता रहता है। तृतीय स्कन्ध के सोलहवें पद में उन्होंने लिखा है:—

पुनि दुख पाइ, पाइ सो मरै। बिनु हरि भक्ति नरक में परै॥
नरक जाइ पुनि बहु दुख पावै। पुनि पुनि यों ही आवै जावै॥
तऊ नाहिं हरि सुमिरन करै। ताते बार बार दुख भरै॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३९४)

सूरदास की सम्मति में भक्ति ही तो वह सम्पत्ति है जिसके हाथ आ जाने से यम के हाथ बिकना नहीं पड़ता। यह वह औषधि है जिसके सेवन से काल-रूपी व्याल के दर्शन का कोई असर नहीं होता। यह वह संजीवनी जड़ी है जो मरणधर्मा मानव को अमर बना देती है। जिसके हाथ यह नहीं पड़ी, वह स्वाधीनता का संहार करके अपने आप तेली के बैल की तरह पराधीन हो जाता है। प्रथम स्कन्ध के २१०वें पद में सूर लिखते हैं:—

१—यहै जप, यहै तप, यम, नियम, व्रत यहै, यहै मम प्रेमफल यहै पाऊँ।
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६७)

भक्ति बिनु बैल बिराने ह्वैहौ।
पाऊँ चारि, सिर सृंग, गुंग मुख, तब कैसे गुण गैहौ॥
चारि पहर दिन चरत फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौ।
टूटे कंध, फूटी नाकनि, कौ लौं धौं भुस खैहौ॥
लादत जोतत लकुट बाजि है, तब कहँ मूड़ दुरैहौ।
शीत घाम, घन बिपति बहुत बिधि भार तरे मर जैहौ॥
हरि सन्तन कौ कह्यौ न मानत कियौ आपुनौ पैहौ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु मिथ्या जन्म गवैंहौ॥

सूरसागर (ना०प्र०स०३३१)

मानव-योनि के अतिरिक्त अन्य सब भोग योनियाँ हैं। मानव-जीवन ही ऐसा क्षेत्र है जिसमें जीव अपने भविष्य के लिए सुकृत के बीज बोकर कुछ खेती कर सकता है। यहाँ उसे कुछ स्वतन्त्रता मिल जाती है। पर कुछ जीव इस स्वतन्त्रता का सदुपयोग करते हैं और कुछ दुरुपयोग। दुरुपयोग से जीवन विकृत हो जाता है और सदुपयोग से वह संस्कृत बन जाता है। जीवन का सर्वाधिक सदुपयोग सूरदास की सम्मति में भगवद्भजन करने में है। इसी हेतु वे लिखते हैं:—

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान॥ ११०६

सूरसागर (ना०प्र०स० १६६)

जैसे पानी के बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकते, वैसे ही भगवद्भक्ति के बिना प्राण धारण करना व्यर्थ है।

भगवद्भक्ति सूर के शरीर की रग-रग में, प्राण के प्रत्येक स्पन्दन में, हृदय की एक-एक धड़कन में बिधी पड़ी थी। सूर के विचार-प्रवाह की लहरें उमड़-उमड़ कर भगवद्भजन के ऊपर न्योछावर हो जाती थीं। जब से उस बाँके-बिहारी की छबीली छटा उनके मानसचक्षुओं के सम्मुख प्रकाशित हुई, तबसे उनकी आत्मा उसीके ध्यान में तल्लीन रहा—उसी के गुण-गान में मग्न रहा। उनका सूरसागर वस्तुतः भक्तिरूपी मणियों की खान है। यह पार्थिव सागर साधारण रत्नों का आकर होने से रत्नाकर कहलाता है, पर सूरसागर सच्चे और बहुमूल्य रत्नों की खान होने से सच्चा सागर है—वास्तविक रत्नाकर है। सूर का हृदय-सागर भक्ति के इन्हीं मणियों की ज्योति से जाज्वल्यमान था जो

वाणी द्वारा निकल कर सूरसागर में प्रतिबिम्बित हो गया। इस भक्ति रसामृत का पान कर सूरदास ही नहीं, उनकी कृति सूरसागर भी अमर हो गई।

सूर स्वयं तो गोविन्द के गुणगान में मग्न रहते ही थे, उनकी व्यापक-विवेकिनी दृष्टि इस विशाल ब्रह्मांड को, समग्र संसार को भी प्रभु के गुण-कीर्तन में लीन हुआ अनुभव करती थी। द्वितीय स्कंध के अट्ठाइसवें पद में उन्होंने आरती के एक विशाल, रमणीय रूपक की आयोजना की है, जिसमें उनकी वह अलौकिक अनुभूति इस प्रकार प्रकट हुई है:—

हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी॥
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी शेष फनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती शैल घनी॥
रवि शशि ज्योति जगत परिपूरण, हरत तिमिर रजनी।
उड़त फूल उडुगन नभ अन्तर अंजन घटा घनी॥
नारदादि सनकादि प्रजापति, सुर, नर, असुर अनी।
जाके उदित नचत नाना विधि गति अपनी अपनी॥
काल कर्म गुण आदि अन्त नहिं, प्रभु इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक सु निरन्तर लोक सकल भजनी॥
सूरदास सब प्रकृति धातुमय अति बिचत्र सजनी॥×

सूरसागर (ना०प्र०स० ३७१)

आनन्द कंद भगवान की अद्भुत आरती हो रही है। अत्यन्त विचित्र है इसकी रचना! वाणी इसका क्या वर्णन करेगी? आरती के नीचे का आसन स्वयं कच्छप महाराज के रूप में है। डाँड़ी का काम शेषनाग कर रहे हैं। पृथ्वी मरवा (दीपक), सातों समुद्र घी और पर्वत वत्ती का काम कर रहे हैं। रवि शशि के रूप में इस आरती के दीपक की ज्योति चारों ओर उजाला कर रही है जिससे रात्रि का अन्धकार दूर हो रहा है। नक्षत्र ही आकाश में उड़ते हुये ज्योति के फूल हैं और यह सघन घन-घटा उससे उत्पन्न हुआ काजल है। इस ज्योति के उदय होते ही नारदादि मुनि, सनकादिक ऋषि, ब्रह्मा, देव, मानव और असुरों का समुदाय आरती के आगे प्रेम में मग्न हो, भक्तिभाव से विभोर हो, अपनी-अपनी गति में, अपने-अपने ढंग से नाचने लगता है। इस प्रकार

×—इस पद में अंतिम पंक्ति से पूर्व की एक पंक्ति लुप्त हो गई है, ऐसा प्रतीत होता है।

समस्त प्रकृति, निखिल ब्रह्मांड प्रभु की आरती उतार रहा है। उसके स्तवन में लीन हो रहा है। धातुमय अर्थात् ब्रह्ममय ही बना हुआ है।[२]

भगवान की यह विराट आरती है। समस्त लोक लोकान्तर इस रूप में अपने स्रष्टा का, अपने ब्रह्मा का भजन कर रहे हैं। सूर की कितनी व्यापक भावना है! धन्य है उनकी यह विराट कल्पना और सबल अनुभूति॥

१—कठोपनिषद् प्रथम अध्याय, द्वितीय वल्ली, श्लोक २० में 'धातु प्रसादात्' शब्द आये हैं जिनमें धातु का अर्थ धारण करने वाला परब्रह्म है।

चतुर्थ अध्याय

हरिलीला

[आचार्य वल्लभ के पश्चात]

हरिलीला क्या है?

विगत परिच्छेद में हमने जिस वैष्णवभक्ति का विवेचन किया है वह उस पुष्टिमार्गीय भक्ति से भिन्न है जिसका प्रवर्तन एवं प्रकार श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने किया था। आचार्यजी पुष्टि सम्प्रदाय में महाप्रभु कहे जाते हैं। वे वास्तव में कोरे ज्ञानी ही नहीं, सिद्धयोगी महात्मा भी थे। चौरासी वैष्णवों की वार्ता और स्वयं सूरदास की स्वीकारोक्ति के अनुसार उन्होंने सन्त सूरदास को हरिलीला के दर्शन कराये थे।[1] आचार्यजी के प्रसाद से ही सूर ने लीला के भेद को, रहस्य को हृदयंगम किया था। जिस लीला की अनुभूति ने, दर्शन और साक्षात्कार ने सूरदास जैसे विरागी सन्त के जीवन को कृतकृत्यता की सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया, जिसे पाकर वे अभीष्ट की उपलब्धि एवं पूर्णानन्द की तृप्ति का अनुभव कर सके, जिसने उनके अशान्त जीवन में शान्ति का संचार किया, वह लीला क्या है? उसके भेद का, रहस्य का क्या स्वरूप है?

हरिलीला का सामान्य अर्थ हरि की लीला अर्थात् प्रभु का खेल है। यह खेल ही सृष्टि है। सृष्टि का अर्थ रचना है, परन्तु अपने व्यापक रूप में सृजन एवं ध्वंस दोनों ही उसके दो पार्श्व हैं, एक ही तत्व के वक्ष एवं पृष्ठवत् दो रूप हैं। महाकाल शंकर जिस प्रकार शिव और रुद्र दो रूपों वाले हैं और लास्य एवं तांडव उनके नृत्य (लीला, खेल) के दो भेद कहलाते हैं, उसी प्रकार सृष्टि में सृजन एवं ध्वंस की दोनों क्रियायें विद्यमान हैं। यह द्विविध

१—तब सूरदासजी स्नान करि आये, तब श्रीमहाप्रभुजी ने प्रथम सूरदास को नाम सुनायो, पाछे समर्पण करवायो और दशम स्कंध की अनुक्रमणिका कही। सो तातें सब दोष दूर भये। तातें सूरदासजी कों नवधाभक्ति सिद्धि भई...तब अनुक्रमणिका तें सम्पूर्ण लीला फुरी। सूरदास, वार्ता प्रसंग १, चोरासी वैष्णवों की वार्ता।

गुरुपरसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन ॥१००२॥
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ॥११०२॥ सूरसारावली

खेल इस सृष्टि में प्रति क्षण हो रहा है। आकर्षण और विकर्षण, विधि और निषेध, धन और ऋण, गुणा और भाग, संयोग और वियोग, हास्य और रुदन, उल्लास और विषाद, ऊषा और संध्या, उदय और अस्त, सूर्य और चन्द्र, पितृयान और देवयान, प्राण और रयि, उत्तरायण और दक्षिणायन[1] ज्वार और भाटा, दिवा और रात्रि, जड़ और चेतन, पुरुष और स्त्री, मूर्त और अमूर्त आदि अनन्त द्वन्द्व इसी अनन्त खेल के अनन्त रूप हैं। ऋग्वेद के अघ-मर्षण सूक्त में इन्हीं को ऋत और सत्य कहा गया है। एक में गति है और दूसरे में स्थिति। एक में प्रसार है तो दूसरे में संकोच। प्रकाश और अन्धकार की भाँति यह युग्म एक होकर भी अपने दो रूप रखता है। जैसे एक बीज में पुल्लिंग और स्त्रीलिंग नाम के दो दल रहते हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि का मूल द्विदलात्मक है, द्विविध रूप वाला है।

युग्म के, मिथुन के इसी मूल में वह लीला अन्तर्हित है जिसे वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में परीक्षा करता हुआ अनुमान के आधार पर केवल एक झलक के रूप में देख पाता है, दार्शनिक अपने चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा जिसका दर्शन करता है, योगी अपने योगबल से समाधि द्वारा जिसका स्पष्ट साक्षात्कार करता है और कवि अपनी भावना शक्ति के सहारे, मधुमती भूमिका में, जिसे हृदयंगम और अनुभव करता है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त का कवि जिसे अपने हृदय में भावित् करके गा उठा था—"कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः" अथवा 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' कहता हुआ वैदिक कवि जिसे अपनी हवि समर्पित करने के लिये उता-वला हो उठा था, शतपथ ब्राह्मणकार ने 'कःप्रजापतिः' तथा 'कं वै सुखम्' कहकर उस लीलामय प्रभु को इस प्रजा का, सृष्टि का, स्वामी तथा स्वः आनन्दमय माना है। इसी लीलामय, आनन्दमय प्रभु से यह विविधरूपा सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसी आनन्दमय प्रभु को हमारी हवि समर्पित होनी चाहिये।

हवि-समर्पण भी एकांगी क्रिया नहीं है। वह संकुचित अर्थ वाली भी नहीं है। जिस यज्ञ के साथ इस हवि का सम्बन्ध है, वह भी व्यापक और विस्तृत अर्थ रखता है। पर अपने संकुचित अर्थ में भी हवि तथा यज्ञ के दो पक्ष हैं,

---

१—प्रश्नोपनिषद् १—४,५

स मिथुनम् उत्पादयते, रयिञ्च प्राणञ्च।
आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा॥

हवि और हवि से प्रत्यागत, परिणाम रूप सुख, यज्ञ और यज्ञ का फल। वेद के शब्दों में एक ओर कृत है तो दूसरी ओर जय है[1], एक ओर कर्म है, तो दूसरी ओर फल। युग्म यहाँ भी है और जैसा लिखा जा चुका है, युग्म की स्थिति सर्वत्र है। इसी हेतु आचार्य वल्लभ ने नवनीतप्रिय के साथ नवनीतप्रिया को भी रक्खा है, नाथ के साथ श्री को भी स्थान दिया है, कृष्ण के साथ राधा को भी उनके अंगरूप में प्रतिष्ठित किया है।[2]

ऊपर जिस युग्म का हमने वर्णन किया है और लिखा है कि इस युग्म के मूल में वह आनन्दमयी परमशक्ति निवास करती है, उस युग्म की विद्यमानता का पल-पल में और पद-पद पर अनुभव करके भी हम उसकी तात्विक स्थिति से वैसे ही असंपृक्त रहते हैं जैसे जल से कमल।[3] श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च' कहकर प्रभु की लीला को स्वाभाविक, अतएव शाश्वत कहा गया है। परन्तु शाश्वत और नित्य होते हुये भी यह लीला, युग्म का यह प्रदर्शन, हम सामान्य प्राणियों के लिए स्थिर रूप से गृहीतव्य नहीं होता। विरल हैं वे महामानव, जो इसकी झलक पाकर भाव-विभोर हो जाते हैं और अत्यंत विरल हैं वे अतिमानव, जो इसे अनुभव करके आनन्द में मग्न हो उठते हैं और इसका अंचल पकड़कर फिर नहीं छोड़ते। अज्ञान के अन्धकूप से सूर को निकालकर जब कृष्ण तिरोहित होने लगे, तो सूर ने कहा था :—

> बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कैं मोहिं।
> हिरदे तें जब जाइहौ, मरद बदौंगो तोहिं॥

उस परात्पर आनन्दमयी अवस्था की आभा उसी समय सूर के मानसिक चक्षुओं के सामने प्रकट हो गई थी, पर उसकी स्थिर, अकम्प ज्योति तो

१—कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्व ७।५२।८।

२—नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धिशायिनम्।
लक्ष्मी सहस्र लीलाभिःसेव्यमानं कलानिधिम्॥

३—सिद्ध और साधारण मानव में कितना वैपरीत्य है। सिद्ध संसार में रहता हुआ भी उससे अलग और हम सामान्य जन परमानन्दपूर्ण प्रभु में रहते हुए भी उससे पृथक। एक सत से सम्बद्ध और दूसरा असत से आबद्ध। हरिलीला फिर भी दोनों ओर है। एक ओर उसका ऊर्जस्वित आनन्दमय रूप है, दूसरी ओर विषादमय। विषाद से प्रसाद की ओर, दुख से आनन्द की ओर जाने के लिये दृष्टि-परिवर्तन की आवश्यकता है।

भगवान के वरदान के अनुसार, दाक्षिणात्य, ब्रह्म-वंशोद्भव, महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा ब्रह्म-सम्बन्ध कराने पर ही, सूरदास के अन्तस्तल में जाग्रत हो सकी। उसके पश्चात् तो वह सूर के हृदय की सम्पत्ति बन गई। सूर का हृदय और यह आनन्दमयी ज्योति दोनों वेद के शब्दों में 'सधस्थ' हो गये, अर्थात् चिरकाल के लिए आमने-सामने बने रहे। सूर की प्रतिज्ञा 'हिरदे तें जब जाउगे, मरद बदौंगो तोहिं' सत्य सिद्ध हुई, पूर्ण हुई।

भक्त ने कहा था : 'इहि अवसर कत बांह छुड़ावत इहि डर अधिक डर्‌यौ।' (सूरसागर १-९६), भगवान ने कहा, 'हम भक्तन के भक्त हमारे।[१] सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे ॥१-११२। अतः सब कुछ छोड़ कर भगवान ने 'जन को भायो कीन्हों ।१-१५३।

लीला के सम्बन्ध में अपनी भावना प्रकट करते हुए, हिन्दी-काव्य-साहित्य के अमर कलाकार स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद कामायनी के श्रद्धा सर्ग में लिखते हैं:—

कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
सभी होते इसमें अनुरक्त॥

वह महाचिति, परम चैतन्य सत्ता सतत सजग बनी हुई लीलामय आनन्द का अभिव्यंजन कर रही है। विश्व की अभिराम अभिव्यक्ति के मूल में यही लीला, यही आनन्दवाद है। विश्व का प्रत्येक प्राणी इस आनन्द की ओर उन्मुख है। आनन्द की खोज में जाने-अनजाने सभी व्यस्त हैं। सभी उस परम सुख की ओर अनुरक्त हुए चले जा रहे हैं। पर विस्मय इसी बात का है कि उधर जाते हुए भी, सब उधर नहीं जा रहे। मुझे भूख लगती है। भूख से कष्ट होता है, उस कष्ट का निवारण करने के लिए मैं रोटी, चावल, दाल, हलुआ, दही, दूध जो कुछ मिल जाता है, उसे उदरस्थ कर लेता हूँ और अल्प-काल के लिए भूख के कष्ट से त्राण भी पा जाता हूँ। इस त्राण से मुझे सुख होता है। यह क्रिया प्राणी-जगत में प्रायः सबके साथ घटित होती है। पर हममें से कितने हैं जिन्होंने इस सुख का अनुभव करके उसे गृहीत किया हो? जीवन का उद्देश्य इसी सुख को पाना था, पर उद्देश्य रूप में यह सुख हमारे सम्मुख रहता कब है? हम उद्देश्य को भूलकर और उसे छोड़कर साधनों के

१—त्वमस्माकं तवस्मसि। ऋ० ८।९२।३२।

रूप [illegible] हैं। मानव आनन्द की खोज करता है और निराश हो जाता है। मार्गों में भटके हुए हम दुःख [illegible] को देखकर [illegible] अपनी प्राप्ति-चेष्टा में असफल रहते हैं। आनन्द की [illegible] करता है, "मुझे देखो," पर हमें इतना अवकाश भी कहाँ कि उसकी ओर अपनी दृष्टि भी ले जा सकें---

[हम कामी, कुरूप, कायर क्या करें प्रभो तेरा आराधन ?
हमें कहाँ अवकाश नाश से कैसे करें प्रसून पथ साधन ?
मुख तो तम की ओर, कहाँ फिर यह प्रकाश की रेखा पावन ?
डूब रहे दुख-दैन्य-सिन्धु में, कहाँ शान्ति-सुख-छत्र सुहावन ?][1]

आनन्द की खोज में पड़ा हुआ मानव, इस प्रकार निरन्तर आनन्द से वंचित रहता है। महाप्रभु-लीला में उनकी मूर्ति का विराट चित्-स्वरूप रूप परिलक्षित होता है। वह वो ज्वाला है, जो स्वयं जलती है और अपने उपास्यों को भी जलाती है। वह ताप भी दग्ध करने वाला है। वह वह ज्योति नहीं, वह प्रकाश नहीं, जो दुःख जगत् को तिरोहित और आत्मा को आनन्दित करता है। इस प्रकाश को देखने के लिए वही शक्ति अपेक्षित है, जो रोटी को भूख दूर करने का साधन मात्र समझती है, साध्य नहीं, जो रोटी पाकर उससे उत्पन्न आनन्द को ही अपना सर्वस्व समझते हैं और उसे पाकर रोटी क्या, रोटी से उपलब्ध अन्य सभी साधनों को उनके मूल्य से बढ़कर मूल्यवान नहीं मानते।

हरिलीला और आनन्दवाद का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जिसने हरि-लीला को पहचान लिया, वह आनन्द की भूमिका में पहुँच गया और जो आनन्द धाम में पहुँचा, उसने हरिलीला के दर्शन कर लिये। जिसने हरि लीला की झलक भी पा ली, उसका जीवन धन्य है। वल्लभाचार्य ने इस लीला में भाग लेने को मोक्ष से भी बढ़कर माना है।[2]

इस प्रकार हरिलीला का प्रदर्शन युग्म में है। जैसा लिखा जा चुका है, द्यावा-पृथ्वी का एक युग्म है। स्त्री-पुरुष का दूसरा युग्म है। ऐसे युग्म इ

१---लेखक की लिखी भक्ति तरंगिणी से उद्धृत।
२---आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ४-४-१४ के भाष्य में पृष्ठ १४१३-१४१४ लीला को कैवल्य और परम मुक्ति (मुक्ति से भी बढ़कर) बताते हुए लिखते हैं:---"लीला विशिष्टमेव शुद्धं परं ब्रह्म, न कदाचित् तद्रहितं इत्यर्थः तेन च (लीलायाः) नित्यत्वम्। अथवा लीला एव कैवल्यम्, जीवन्मुक्तित्वम्, तत्र-प्रवेशः परमा मुक्तिरिति।"

विश्व में अनन्त है। निखिल विश्व स्वतः पुरुष एवं प्रकृति का युग्म है। अनासक्त पुरुष अपनी शक्ति प्रकृति के साथ क्रीड़ा कर रहा है। यह पुरुष ही कृष्ण है और प्रकृति राधा है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनासक्ति योग के अनुसार यदि प्रत्येक मानव क्रीड़ा करने लगे, तो वह पुरुष-प्रकृति के, राधा-कृष्ण के इस शाश्वत खेल में, नित्य लीला में, भाग लेने का अधिकारी हो जाता है।

वैष्णव भक्ति के पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की यह शाश्वत लीला प्रमुख स्थान रखती है। भागवत सम्प्रदाय अपने प्रारम्भ से ही क्यों शृंगार-प्रधान रहा है, इसका सूक्ष्म आभास ऊपर लिखी पंक्तियों से प्राप्त हो सकेगा।

सूर-प्रतिभा का अधिकांश भाग राधा-कृष्ण के इसी लीला-गायन में व्यय हुआ है। यह लीला अप्रत्यक्ष रूप से सर्वदा होती रहती है। श्रीमद्भागवत के अनुसार यह लीला, यह शाश्वत क्रीड़ा शरद् पूर्णिमा के ज्योत्स्ना-धवल वातावरण के अन्तर्गत वृन्दावन में होती है। इस लोक का वृन्दावन अपना पार्थिव अस्तित्व लिये हुए उसी का प्रतीक मात्र है। भगवान और उनकी अंगीभूत गोपियाँ तथा अंशभूत गोपाल सब इस लीला में भाग लेते हैं। भक्तों का इस लीला में भाग लेना तो उपयुक्त कहा जा सकता है, पर भगवान इसमें क्यों भाग लेते हैं, इसका एक भाव-भरित कारण सूर नीचे लिखी पंक्तियों में उपस्थित करते हैः—

जो चरणारविन्द श्रीभूषण, उरते नेंकु न टारति।
देखौं धौं का रसु चरणनु में, मुख मेलत करि आरति॥
जा चरणारविन्द के रस कौं, सुर नर करत विवाद।
यह रस है मोकौं अति दुर्लभ, ताते लेत सवाद॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ६८२)

जो स्वयं आनन्दमय है, वह भी इस लीला में भाग लेकर आनन्दास्वाद का अनुभव करना चाहता है। प्रश्न उपनिषद के ऋषि ने भी इन्हीं शब्दों पर प्रामाणिकता की छाप लगाते हुए कहा हैः 'प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते' ।१।४। प्रजापति परमात्मा के अन्दर प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा होती है। इसीलिए वह तप तपता है और तत्पश्चात् मिथुन या युग्म को उत्पन्न करता है। प्रजापति की यह इच्छा, अन्दर उत्पन्न काम, बाह्य सृष्टि में अभिव्यंजित होता है। अतः यह उसकी अपनी ही अन्तःतृप्ति है। जो स्वयं तृप्त है, पूर्ण काम है, वह इस प्रकार जगत-

इच्छा के द्वारा पुनः इस काम करता है और यह उसके स्वभाव के अन्तर्गत है।[1] अतः यह क्रिया स्वतः-स्फूर्त रूप से ही होती है।

इस हरि-लीला का मूल स्वरूप पुष्टिमार्गीय भक्ति में है। अतएव आगामी परिच्छेद में हम पुष्टिमार्गीय भक्ति के मूल तत्वों का निरूपण करेंगे।

१—आचार्य वल्लभ, ब्रह्म सूत्र अध्याय २, पाद १, सूत्र ३३ के अणुभाष्य, पृ
६०१ में लिखते हैं:—"न हि लीलायां किञ्चित् प्रयोजनमस्ति। लीला
एव प्रयोजनत्वात्।" अर्थात् लीला में कोई विशिष्ट प्रयोजन उद्देश्य यन
निहित नहीं रहता। लीला का प्रयोजन केवल लीला ही है। यह लील
भगवान के स्वभाव के अन्तर्गत है। जो वस्तु स्वभावगत होती है, उस
कोई प्रयोजन नहीं होता।

पुष्टिमार्गीय भक्ति

भक्ति-रसामृत-सिंधु में श्रीरूप गोस्वामी ने भक्ति के दो भेद लिखे हैं:—गौणी तथा परा ! पराभक्ति सर्वोच्च कोटि की और सिद्धावस्था की सूचक है। गौणीभक्ति दो प्रकार की है: १—वैधी और २—रागानुगा।[1] वैधीभक्ति में शास्त्रानुमोदित विधि-निषेध का अनुसरण करना पड़ता है।[2] रागानुगा भक्ति-भावना, राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है।[3] कृष्ण के प्रति राधा तथा अन्य गोपियों का प्रेम रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत आता है। पर रागानुगा भक्ति अन्तिम सीढ़ी है, जिस पर चढ़ने के लिये प्रथम कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भक्त एकदम छलांग मारकर अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुँच जाता। वह त्यागपूर्वक श्रवण, कीर्तन आदि साधनों द्वारा आगे बढ़ता है, तब कहीं रागानुगा भक्ति का बीज हृदय में जम पाता है। रागानुगा भक्ति में भी भक्त चारों ओर से अपने चित्त को हटाकर भगवान में केन्द्रित करता है। वह पहले प्रभु से स्नेह करता है। फिर धीरे-धीरे स्नेह आसक्ति में परिवर्तित

१—ये भेद गौड़ीय सम्प्रदाय-सम्मत हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में रागानुगा भक्ति की ही मान्यता है। ब्रह्म सूत्र ३-३-३६ के अणुभाष्य में, पृष्ठ ११०४ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं—"भक्तिस्तु विहिता अविहिता च इति द्विविधः। माहात्म्य ज्ञानयुत ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधि स्नेहात्मिका विहिता। अन्यतो प्रानन्यात् कामादि उपाधिजा सा तु अविहिता। एवं उभयविधाया अपि तस्या मुक्तिसाधकत्वम इत्याह। कामादि उपाधिजस्नेहरूपायां कामादि एव मुक्ति साधनम भगवति चित्त प्रवेश हेतुत्वात्। आदि पदात् पुत्रत्व संबंधित्वादयः।...... ...द्वेषादिरपि संगृह्यते। तेन भगवत् संबंध मात्रस्य मोक्ष साधकत्वमुक्तम भवति।"

२—शास्त्रोक्तैव प्रवृत्त्या सा वैधी भक्ति रुच्यते।

(भक्ति रसामृतसिंधु पूर्वविभाग, लहरी २, श्लोक ४)

३—भक्ति रसामृत सिंधु पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ६२।

हो जाता है और यह आसक्ति अन्त में व्यसन बन जाती है। व्यसन से भक्त प्रेम की पूर्णता प्राप्त कर लेता है।[1] वैधी भक्ति में भक्त गोस्वामी तुलसीदास की भाँति प्रभु के ऐश्वर्य-ज्ञान से सम्पन्न रहता है। यह मर्यादा का मार्ग है।[2] पर रागानुगाभक्ति भगवान की कृपा पर आश्रित है। भगवान का अनुग्रह ही इस भक्ति का पोषण करता है। अतः इसे पुष्टिमार्गीयभक्ति भी कहा गया है।[3] इसमें प्रभु के ऐश्वर्य का नहीं, प्रेम और करुणा का महत्व है। वल्लभ, सूर, चैतन्य आदि सन्त इसी भक्तिमार्ग के अनुयायी थे।

रागानुगाभक्ति दो प्रकार की है। १—कामरूपा और २—सम्बन्ध रूपा।[4] गोपियों की भक्ति कामरूपा थी, जिसमें कृष्ण-सुख के अतिरिक्त अन्य भावना नहीं रहती। सम्बन्धरूपा भक्ति भगवान और भक्त के सम्बन्ध की दृष्टि से चार प्रकार की है: दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य। दास्यभक्ति के आदर्श हनुमान है। सख्यभक्ति के आदर्श उद्धव, अर्जुन और सुदामा हैं। वात्सल्यभक्ति का आदर्श नन्द, यशोदा, वसुदेव और देवकी में दिखाई देता है। राधा और रुक्मिणी दाम्पत्य भाववाली भक्ति की आदर्श है। यह दाम्पत्य भाव ही माधुर्य भाव है और सर्वश्रेष्ठ रस का आधार है। लौकिक माधुर्य से इस माधुर्य में भेद है। लोक में मधुर रस, दाम्पत्य भाव सबसे नीचे, उसमे ऊपर वात्सल्य, फिर सख्य, फिर दास्य और सबसे ऊपर शान्त रस है। पर भक्ति में चिद् जगत के निम्नतम भाग में शान्तस्वरूप निगुण ब्रह्मलोक, उसके ऊपर दास्य रूप वैकुंठ तत्व, उसके ऊपर गोलोकस्थ सख्यरस और सबके ऊपर मधुर-रस-पूर्ण वृन्दावन है, जहाँ परम पुरुष प्रकृतिरूपा व्रजांगनाओं के साथ क्रीड़ा करते है।

वैधी और रागानुगाभक्ति के दोनों प्रकार साधनावस्था के अन्तर्गत है। जब भक्त को भगवान से प्रेम करने का व्यसन हो जाता है, तभी रागानुगा भक्ति की कृतार्थता समझनी चाहिए। इस अवस्था में भक्त के अन्दर प्रभु-

---

१—ततः स्नेहस्तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च तदा भवेत् ॥३॥
यदास्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥५॥

भक्तिवर्द्धिनी (षोडश ग्रन्थ)

२—वैधी भक्ति रियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते।

(भक्ति रसामृत सिंधु लहरी २, श्लोक ६०)

३—पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः। अणुभाष्य ४।४।९। की टीका। पृष्ट १४०५

४—भक्ति रसामृत सिन्धु।२।६३॥ पूर्व विभाग।

पुष्टिमार्गीय भक्ति

भक्ति-रसामृत-सिंधु में श्रीरूप गोस्वामी ने भक्ति के दो भेद लिखे हैं:—गौणी तथा परा। पराभक्ति सर्वोच्च कोटि की और सिद्धावस्था की सूचक है। गौणीभक्ति दो प्रकार की है: १—वैधी और २—रागानुगा।[1] वैधीभक्ति में शास्त्रानुमोदित विधि-निषेध का अनुसरण करना पड़ता है।[2] रागानुगा भक्ति-भावना, राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है।[3] कृष्ण के प्रति राधा तथा अन्य गोपियों का प्रेम रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत आता है। पर रागानुगा भक्ति अन्तिम सीढ़ी है, जिस पर चढ़ने के लिये प्रथम कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। भक्त एकदम छलांग मारकर अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुँच जाता। वह त्यागपूर्वक श्रवण, कीर्तन आदि साधनों द्वारा आगे बढ़ता है, तब कहीं रागानुगा भक्ति का बीज हृदय में जम पाता है। रागानुगा भक्ति में भी भक्त चारों ओर से अपने चित्त को हटाकर भगवान में केन्द्रित करता है। वह पहले प्रभु से स्नेह करता है। फिर धीरे-धीरे स्नेह आसक्ति में परिवर्तित

१—ये भेद गौड़ीय सम्प्रदाय-सम्मत हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में रागानुगा भक्ति की ही मान्यता है। ब्रह्म सूत्र ३-३-३६ के अणुभाष्य में, पृष्ठ ११०४ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं—"भक्तिस्तु विहिता अविहिता च इति द्विविधः। माहात्म्य ज्ञानयुत ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधि स्नेहात्मिका विहिता। अन्यतो प्राप्तत्वात् कामादि उपाधिजा सा तु अविहिता। एवं उभयविधाया अपि तस्या मुक्तिसाधकत्वम् इत्याह। कामादि उपाधिजस्नेहरूपायां कामादि एव मुक्ति साधनम् भगवति चित्त प्रवेश हेतुत्वात्। आदि पदात् पुत्रत्व संबंधित्वादयः।…… …द्वेषादिरपि संगृह्यते। तेन भगवत् संबंध मात्रस्य मोक्ष साधकत्वमुक्तम भवति।"

२—शास्त्रोक्तेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्ति रुच्यते।

(भक्ति रसामृतसिंधु पूर्वविभाग, लहरी २, श्लोक ४)

३—भक्ति रसामृत सिंधु पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ६२।

हो जाता है और यह आसक्ति अन्त में व्यसन बन जाती है। व्यसन से भक्त प्रेम की पूर्णता प्राप्त कर लेता है।[1] वैधी भक्ति में भक्त गोस्वामी तुलसीदास की भाँति प्रभु के ऐश्वर्य-ज्ञान से सम्पन्न रहता है। यह मर्यादा का मार्ग है।[2] पर रागानुगाभक्ति भगवान की कृपा पर आश्रित है। भगवान का अनुग्रह ही इस भक्ति का पोषण करता है। अतः इसे पुष्टिमार्गीयभक्ति भी कहा गया है।[3] इसमें प्रभु के ऐश्वर्य का नहीं, प्रेम और करुणा का महत्व है। वल्लभ, सूर, चैतन्य आदि सन्त इसी भक्तिमार्ग के अनुयायी थे।

रागानुगाभक्ति दो प्रकार की है। १—कामरूपा और २—सम्बन्धरूपा।[4] गोपियों की भक्ति कामरूपा थी, जिसमें कृष्ण-सुख के अतिरिक्त अन्य भावना नहीं रहती। सम्बन्धरूपा भक्ति भगवान और भक्त के सम्बन्ध की दृष्टि से चार प्रकार की है: दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य। दास्यभक्ति के आदर्श हनुमान हैं। सख्यभक्ति के आदर्श उद्धव, अर्जुन और सुदामा हैं। वात्सल्यभक्ति का आदर्श नन्द, यशोदा, वसुदेव और देवकी में दिखाई देता है। राधा और रुक्मिणी दाम्पत्य भाववाली भक्ति की आदर्श हैं। यह दाम्पत्य भाव ही माधुर्य भाव है और सर्वश्रेष्ठ रस का आधार है। लौकिक माधुर्य से इस माधुर्य में भेद है। लोक में मधुर रस, दाम्पत्य भाव सबसे नीचे, उससे ऊपर वात्सल्य, फिर सख्य, फिर दास्य और सबसे ऊपर शान्त रस है। पर भक्ति में चिद् जगत के निम्नतम भाग में शान्तस्वरूप निर्गुण ब्रह्मलोक, उसके ऊपर दास्य रूप वैकुंठ तत्व, उसके ऊपर गोलोकस्थ सख्यरस और सबके ऊपर मधुर-रस-पूर्ण वृन्दावन है, जहाँ परम पुरुष प्रकृतिरूपा ब्रजांगनाओं के साथ क्रीड़ा करते हैं।

वैधी और रागानुगाभक्ति के दोनों प्रकार साधनावस्था के अन्तर्गत हैं। जब भक्त को भगवान से प्रेम करने का व्यसन हो जाता है, तभी रागानुगा भक्ति की कृतार्थता समझनी चाहिए। इस अवस्था में भक्त के अन्दर प्रभु-

---

१—ततः स्नेहस्तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च तदा भवेत्।।३।।
यदास्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ।।५।।

भक्तिवर्द्धिनी (षोडश ग्रन्थ)

२—वैधी भक्ति रियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते।

(भक्ति रसामृत सिंधु लहरी २, श्लोक ६०)

३—पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः। अणुभाष्य ४।४।६। की टीका। पृष्ठ १४०५

४—भक्ति रसामृत सिन्धु।२।६३।। पूर्व विभाग।

प्रेम के अतिरिक्त और कोई कामना शेष नहीं रहती। वह परम तृप्ति का अनुभव इसी प्रेम में करने लगता है। यही पराभक्ति है, जिसके लिये रागानुगा भक्ति अन्तिम सीढ़ी मानी गई है। परा भक्ति की भूमिका में पहुँच कर भक्त को किसी साधन, नियम आदि की आवश्यकता नहीं रहती। वह प्रभु-प्रेम में विभोर हो, उनके स्वरूपामृत का पान करता हुआ, विधि-निषेध की श्रृंखलाओं को तोड़ फेंकता है और समस्त अघ-ओघ को भस्म कर देता है।

आचार्य वल्लभ ने जीवों के विकास की चार अवस्थायें मानी हैं: प्रवाहमार्गी, मर्यादामार्गी, पुष्टिमार्गी और शुद्धपुष्ट। इन्हीं के आधार पर भक्ति के विकास की भी चार अवस्थायें हो जाती हैं: १—प्रवाही पुष्टिभक्ति जिसमें भक्त प्रभु से अनन्त काल से प्रेम की याचना करता चला आ रहा है।[1] प्रभु के प्रति भक्त का यह प्रेम जगत के जटिल जालों से व्यवहित होता रहता है। फिर भी जीव की ईश्वर से मिलन की यह आकांक्षा है शाश्वत। २—मर्यादा-पुष्ट भक्ति—इस अवस्था में भक्त मन को सब ओर से हटाकर प्रभु में लगाता है और प्रभु के प्रति उसकी आसक्ति दृढ़ होती जाती है। ३—पुष्टिपुष्ट भक्ति—जिसमें भक्त को भगवान के प्रति प्रेम करने का व्यसन-सा हो जाता है। ४—शुद्ध पुष्ट भक्तों की स्थिति भक्ति की पूर्ण या सिद्ध अवस्था है। इसी में भक्त भगवान का कृपा-पात्र बनता है, उसके अनुग्रह को अनुभव करता है और परमानन्द को प्राप्त होता है।

इस प्रकार आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति की दो शाखायें दिखलाई देती हैं:—एक साधन रूप और दूसरी साध्य रूप। प्रथम शाखा में भक्त के लिये प्रयत्न करना आवश्यक समझा गया है। प्रयत्न करने के उपरान्त जब भक्त अशक्त हो जावे, तब उसे प्रपन्न हो कर प्रभु की शरण जाना चाहिये, जैसे बन्दर का बच्चा उछल-कूद करने के पश्चात् अपनी माँ की शरण जाता है। भक्ति की यह साधनावस्था है, जिसमें ज्ञान और कर्म भक्ति के साथ मिल-जुल कर चलते हैं। नवधाभक्ति भी इसी के अन्तर्गत आती है। पर ये हैं साधन ही, लक्ष्य नहीं। लक्ष्य है प्रेमा या पराभक्ति

१—प्रभु शब्द का प्रयोग भगवान के सामान्य अर्थ में, यहाँ पर, किया गया है। पुष्टि सम्प्रदाय में ब्रह्म, परमात्मा और भगवान शब्द क्रमशः ज्ञान, कर्म और भक्ति के क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं। "वदन्ति तत् तत्वविदः तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।"

भागवत १-२-११

की प्राप्ति। दूसरी शाखा में भक्त को प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। प्रभु स्वयं प्रेम-स्रोत-स्वरूप हैं। जैसे बिल्ली अपने बच्चों की चिन्ता में म्यांऊँ म्यांऊँ करते हुये बच्चों के पास स्वतः पहुँच जाती है, उसी प्रकार प्रभु भी शरणागत भक्त को अपनाने के लिये स्वयं उसके पास आ जाते हैं, प्रकट हो जाते हैं, प्रकाशित हो उठते हैं। भक्त के लिए प्रभु की ओर उन्मुख हो जाना, हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल पिपासा का जाग्रत हो जाना अर्थात् परा भक्ति की निष्ठा का दृढ़ हो जाना भर पर्याप्त है। अतः आचार्य वल्लभ के मतानुसार प्रभु के प्रति अविचल प्रेम साध्य रूप है। इस अविचल प्रेम के उत्कर्ष के लिये प्रभु-प्राप्ति की अभिलाषा विरह-व्याकुलता का जागरण एकान्त आवश्यक है। इस विरह-व्यथा में,संयोग और मिलन की आकांक्षा में तड़पते हुये भक्त पर भगवान स्वयं आकर कृपा करते हैं, उसे स्वयं उठाकर गोद में लेते हैं।

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में प्रवेश करने के समय भक्त को ब्रह्म-सम्बन्ध कराया जाता है, जो एक प्रकार का संस्कार है। इस संस्कार में साधक अपना सर्वस्व भगवान को समर्पित करता है और गुरु उसे 'श्रीकृष्णः शरणंमम' मंत्र देता है। यह मंत्र भक्त को सदैव अपने ध्यान में रखना चाहिये। सिद्धान्त-मुक्तावली, विवेक धैर्याश्रय आदि ग्रन्थों में आचार्य वल्लभ ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि पुष्टिमार्गीय भक्त के लिए परम आराध्य देव श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति-भावना, अविचल विश्वास, पूर्ण समर्पण और श्रद्धा भाव भक्त के उत्थान के लिए आवश्यक माने गये हैं। चतुःश्लोकी में आचार्यजी लिखते हैं:—

> सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः।
> स्वस्यायमेवधर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥१॥
> एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
> प्रभुः सर्व समर्थो हि ततो निश्चिन्ततां ब्रजेत ॥२॥
> यदि श्री गोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
> ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥३॥
> अतः सर्वात्मनः शश्वद् गोकुलेश्वर पादयोः।
> स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥४॥

अर्थात् सर्वदा समस्त भावों से ब्रजाधिप श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिये। अपना यही धर्म है, अन्य कुछ नहीं। भगवान सर्व समर्थ हैं। जो

कुछ मेरे लिये कर्तव्य है, उसे वे स्वयं कर देंगे, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जाना चाहिये। यदि श्रीकृष्ण को सर्वात्मना हृदय में स्थापित कर लिया, तो लौकिक एवं वैदिक कर्मकांड द्वारा अन्य किस फल की प्राप्ति शेष रही ? अतः सभी भाँति श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणत होकर उनका स्मरण और भजन करना चाहिये। यही मेरा मत है।

भगवान का यह भजन तन, मन तथा धन, तीनों प्रकार से होना चाहिये। भक्त का परम पुनीत कर्तव्य प्रभु-सेवा में अपने शरीर, वैभव, विचार आदि सबका समर्पण कर देना है। भगवान और भगवद्भक्तों की सेवा में उसके सर्वस्व का प्रयोग होना चाहिये। पर, तन और धन से भी बढ़कर मन को प्रभु-सेवा में लगाना है। सिद्धान्त मुक्तावली में आचार्यजी लिखते हैं: "कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।" तन और धन तो मन के ही ऊपर हैं। मन सेवा में नहीं लगा है, तो शरीर और सम्पत्ति का प्रयोग सफल हो ही नहीं सकता।

भगवद्भजन की ओर प्रेरणा देने वाला गुरु होता है। अतः आचार्य वल्लभ के मत में गुरु की आज्ञा का पालन प्रभु-भक्ति का ही एक अंग है।

आचार्य वल्लभ के किसी ग्रन्थ में राधा का वर्णन नहीं है। अतः कई विद्वानों का मत है कि युगल स्वरूप की उपासना विधि का समावेश पुष्टि-मार्गीय भक्ति-सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथ ने किया।[1] उन्हीं ने राधा की स्तुति में स्वामिन्याष्टक तथा स्वामिनी स्तोत्र दो ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य वल्लभ ने प्रथम वात्सल्य भक्ति का ही प्रचार किया था। परन्तु सूर-निर्णय के लेखक-द्वय की सम्मति में आचार्य वल्लभ की पुष्टि भक्ति के अन्तर्गत बाल, कैशोर, दाम्पत्य और परकीय कान्ताभाव सभी प्रकार के भक्ति भावों का समावेश है।[2]

हमारी सम्मति में आचार्य वल्लभ ने राधा नाम से तो नहीं, पर पशुपजा (गोपजा) नाम से एक ऐसी गोपिका का वर्णन अवश्य किया है, जिसके साथ श्रीकृष्ण यमुना के तट पर क्रीड़ा करते थे।[3] वैसे भी उन्होंने गोपी-भाव से माधुर्यभक्ति करने का उपदेश कई स्थलों पर दिया है। अतः पुष्टिभक्ति में इन भावनाओं का समावेश उनके जीवन के पश्चात् हुआ, इसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

१—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ५२७ भाग २।

२—सूर-निर्णय पृष्ठ २०८-२१०।

३—कलिन्दीदुहितातटानुचरन्तीं पशुपजां। परिवृढाष्टक।

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने आचार्यजी का अनुसरण करते हुये पुष्टिभक्ति को और भी आगे बढ़ाया। श्रीनाथजी के स्वरूप-पूजन में आठ पहर की भावना, शृंगार-सजावट तथा कीर्तन आदि का मंडान उन्होंने बहुत वैभव के साथ किया। आचार्य वल्लभ और उनकी पुत्र तथा शिष्य-परम्परा ने मिलकर पुष्टिभक्ति का जो स्वरूप खड़ा किया, उसमें भागवत भक्ति की पूर्व परम्परा का तो समावेश था ही, साथ ही उसमें वात्सल्य एवं माधुर्य-भाव की रस-सिंचित धारा ने मिलकर शताब्दियों से हृदय पर पड़ी हुई निवृत्ति की छाप को धोकर दूर बहा दिया। इस भक्ति ने एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न की, जो जीवन से राग करना सिखलाती है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का मुख्य लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति नहीं, प्रभु के प्रेम की प्राप्ति थी।[1] प्रभु का यह प्रेम भगवत्कृपा से ही साध्य था। इस प्रेम को प्राप्त कर भक्त वैकुण्ठ जाना भी नहीं चाहता था। वैष्णव कवियों ने इस प्रेम की प्रभूत प्रशंसा की है। यह प्रेम प्रेम से ही उत्पन्न होता है और इसी से परमार्थ की प्राप्ति होती है। इसी के द्वारा प्रेमरूप गोपाल से भेंट होती है। प्रेम पैदा नहीं हुआ, तो हरिलीला का दर्शन करना असम्भव है।

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्म सूत्र, अध्याय ३, पाद ३, सूत्र ३७ के अणुभाष्य, पृष्ठ ११०० में प्रेमपरा पुष्टिमार्गीय भक्ति को ज्ञान से ऊँचा पद देते हुए लिखते हैं:—एवं सति मुख्यं यदद्वैतज्ञानं भक्ति-भावैक देश व्यभिचारि भावेषु एकतरदिति सर्षप स्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयमिति भावः।" यहाँ ज्ञान को वे सरसों और भक्ति को स्वर्णाचल की उपमा देते हैं।

पुष्टिमार्गीय भक्ति और हरिलीला

भागवत के द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय में वर्णित सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय, इन दस विषयों में एक पोषण भी है। भक्तों के ऊपर भगवान की कृपा का नाम ही पोषण है। आचार्य वल्लभ ने इसी शब्द को लेकर भगवद्भक्ति को पुष्टिमार्ग नाम दिया है। पुष्टिमार्ग में भगवान के अनुग्रह पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। प्रभु का यह अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करता है। जिसको प्रभु की कृपा-प्राप्ति न हुई, वह कुलीन होते हुए भी नीच, सुन्दर होते हुये भी कुरूप, और धनवान होते हुए भी निर्धन है। प्रभु की कृपा ही मानव को कुलीन, सुन्दर और धनवान बनाती है। सूर ने नीचे लिखे पद में इसी भाव को अभिव्यक्त किया है:—

जापर दीनानाथ ढरै।
सोई कुलीन, बड़ौ सुन्दर सोई जापर कृपा करै॥
राजा कौन बड़ौ रावण तें गर्वहि गर्व गरै।
रांकव कौन सुदामा हू तें आपु समान करै॥
रूपव कौन अधिक सीता तें जन्म वियोग भरै।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तें हरि पति पाइ वरै॥
योगी कौन बड़ौ शंकर तें ताको काम छरै।
कौन विरक्त अधिक नारद सों निसि दिन भ्रमत फिरै॥
अधम तु कौन अजामिल हू तें यम तहँ जात डरै।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु फिरि फिरि जठर जरै॥१-२०

सूरसागर (ना०प्र०स० ३५)

यह है भगवान के अनुग्रह का महत्त्व। जो बात सम्पत्तिशाली राजा की अपरिमित-धन-राशि द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती, सौन्दर्य, योग तथा वैराग्य जिसका सम्पादन करने में असमर्थ हैं, सत्कर्म-संचय, पुण्य कर्मों का कोष भी जिसे प्राप्त कराने में अक्षम है, वह बात, वह सिद्धि, भगवत्कृपा के लेश मात्र से

से सिद्ध हो जाती है। प्रभु जिस पर रीझ गये, प्रसन्न हो गये, उसे सर्वस्व दे डालते हैं। सूर लिखते हैं:—

सूर पतित तरि जाय तनक में जो प्रभु नेकु ढरै।१।४६।

सूरसागर (ना०प्र०स० १०५)

तथा

तीन लोक विभव दियौ तन्दुल के खाता॥
सर्वसु प्रभु रीझि देत तुलसी के पाता॥ १। ६४

सूरसागर (ना०प्र०स० १२३)

प्रभु के अनुग्रह का महत्व भक्ति के आविर्भाव काल से ही भक्तों के हृदय-पटल पर अंकित रहा है। आचार्य वल्लभ ने इस भाव-दिशा में कोई नवीन बात जनता के श्रद्धालु हृदय के समक्ष प्रस्तुत नहीं की। भक्ति के प्रथम उत्थान काल में ही हमें इस प्रकार की वाणी सुनाई पड़ती है:—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणम् तमृषिं तं सुमेधाम्।

ऋग्वेद १०।१२५।५

प्रभु जिसे चाहते हैं, उसे तेजस्वी, ऋषि, मेधावी तथा ब्रह्मा (महान) बना देते हैं। देव और मनुष्य दोनों इस तथ्य से अवगत हो चुके हैं।

उपनिषद् का ऋषि भी कहता है:—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

मुंडक ३।२।३।

प्रभु जिसे चुन लेता है, स्वीकार कर लेता है, उसी के सामने उसका स्वरूप प्रत्यक्ष हो उठता है। ऊपर सूर के जो पद हमने उद्धृत किये हैं, वे भी हमारी सम्मति में आचार्य वल्लभ से भेंट होने के पूर्व के ही लिखे हुए हैं। अतः यह भाव भक्ति-क्षेत्र के लिए कोई नवीन भाव नहीं था, पर जिस रूप में आचार्य महाप्रभु ने इसे उपस्थित किया और पुष्टिमार्गीय भक्ति के जिस रूप की उन्होंने प्रतिष्ठा की, वह अवश्य नवीन था।

आचार्य वल्लभ दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण श्रीलक्ष्मण भट्ट के द्वितीय पुत्र और श्री नारायण भट्ट के शिष्य थे। विजयनगर के राजा कृष्णदेव की सभा में शैवों को पराजित कर ये दक्षिण से वृन्दावन आये और बालकृष्ण की भक्ति एवं पुष्टि मार्ग की स्थापना की। प्रयाग के समीप अड़ैल में इनका निवास-स्थान

था । दार्शनिक क्षेत्र में इनका मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है । शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण और माया से उपहित होने के कारण सगुण कहा था । वल्लभ ने कहा, ब्रह्म माया के कारण नहीं, वरन् स्वतः रूप से सगुण है । कनक-कुण्डल की भाँति ब्रह्म और जगत एक ही हैं । कुण्डल जैसे पिघल कर फिर स्वर्ण बन जाता है, जगत भी उसी प्रकार ब्रह्म से निकल कर फिर ब्रह्म हो जाता है । ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण है । इसी कारण इसे अविकृत परिणाम-वाद भी कहा जाता है । ईश्वर से जीव, अग्नि से चिनगारी की तरह प्रकट होता है ।[1] ये जीव अनन्त हैं और भिन्न-भिन्न हैं ।[2] मेरा-तेरापन ही संसार है जो काल्पनिक है । जगत इससे भिन्न है और ब्रह्म के सदंश से उत्पन्न होने के कारण सत्य है । प्रलय में उसका तिरोभाव हो जाता है, विनाश नहीं । विश्व-रचना, प्रभु की शाश्वत लीला है । प्रभु लीला करना चाहता है, विश्व इसीलिए अस्तित्व में आता है ।

इस प्रकार पुष्टिमार्गीय भक्ति का जो स्वरूप खड़ा किया गया, उसमें हरिलीला के समावेश की नवीनता थी । हरिलीला का प्रमुख अंग रास-लीला है । रास शब्द रस से बना है । अतः यह भक्ति भी सरस कहलाती है । सूर रास का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

रास रस रीति नहिं बरनि आवै ।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, इहै चित जिय भ्रम भुलावै ॥
जो कहौं कौन मानै, निगम अगम, हरिकृपा बिनु नहीं या रसहि पावै ।
भाव सों भजै, बिनु भाव में ए नहीं, भाव ही माँहि भाव यह बसावै ॥
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है, दरस दम्पत्ति भजन सार गाऊँ ।
इहै मांगौं बार बार प्रभु सूर के नैन दोऊ, रहैं, नर देह पाऊँ ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६२४)

अर्थात् मुझे ऐसी बुद्धि कहाँ प्राप्त है, जो इस रास-रस का, हरिलीला का वर्णन कर सके । यदि मैं यह कहूं कि वेदों के लिए भी यह अगम्य है, तो उसे कौन मानेगा ? पर मेरा तो निश्चित सिद्धांत है कि भगवान की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति इस रास-रस की उपलब्धि नहीं कर सकता । रास का, हरिलीला का भाव प्रेम-भाव में निवास करता है । जो प्रेम-भाव से भगवान का भजन करता है, उसे ही वे प्राप्त होते हैं । प्रेम-भाव के बिना भगवत्प्राप्ति असम्भव है । यह प्रेम-भाव भी भगवान की कृपा से ही सुलभ होता है ।

१— विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु । तत्त्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण ।

२— तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः ।१२। पुष्टिप्रवाह मर्यादा ।

जब हम हरिलीला और पुष्टिमार्गीय भक्ति के नवीन रूप की बात कहते हैं, तो हमारी निश्चित धारणा इसी तथ्य की ओर रहती है। चौरासी वैष्णवों की वार्ता, सूरदास, वार्ता प्रसंग २ के अन्त में लिखा है: "श्री आचार्यजी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप हैं, माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह की तो परम काष्ठा है।" यह सुदृढ़ स्नेह की परकाष्ठा ज्ञान, कर्म तथा योग तो जहाँ तहाँ, उपासना की भी अपेक्षा नहीं रखती थी। सूरदास लिखते हैं —

कर्म, योग पुनि ज्ञान, उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायो, लीला भेद बतायो॥

सूरसारावली, ११०२

इन पंक्तियों में सूर ने ज्ञान, कर्म, उपासना आदि सब साधनों को भ्रम-स्वरूप कहा है। उपासना का अर्थ भक्तिकांड है। यदि यह भ्रम है, तो सत्य क्या है? सूर कहते हैं, यह सत्य, यह तत्व, लीला के रहस्य को अवगत करना है। सूर के गुरु आचार्य वल्लभ ने उन्हें हरिलीला के इसी भेद को बतलाया था। हरिलीला के इस तात्विक रहस्य को हृदयंगम कर लेने पर सूर को अन्य समस्त साधन (यहाँ तक कि उपासना भी) भ्रमात्मक प्रतीत होने लगे। इसी कारण सूर सब साधनों से हटकर हरिलीला गायन में प्रवृत्त हो गये।[1] अतः पुष्टिमार्ग, पुष्टिभक्ति, हरिलीला केन्द्र के चारों ओर व्यापृत है। यही इनका नवीन रूप है।

तो क्या पुष्टिमार्ग उपासना-मार्ग नहीं है? कहते हुए संकोच होता है कि यह वह उपासना-मार्ग नहीं है, जिसे सूर ने भ्रम-स्वरूप कह दिया है। यह सेवा मार्ग है।[2] उपासना का जो मार्ग पूर्व से प्रचलित चला आता था, उसका एकान्त अभिनव रूप पुष्टिमार्ग में दृष्टिगोचर हुआ। पूर्वकाल की नवधा भक्ति भी इसमें अभिनव रूप में ही समाविष्ट हुई और वह भी इस पुष्टि-पथ की साधन रूप बनकर। श्रवण, कीर्तन और स्मरण हरिलीला से सम्बद्ध होकर भगवान की नाम-लीला-परक क्रियायें बन गये। पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन हरि (श्रीकृष्ण) के रूप से सम्बद्ध हो गये। दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन उन

१—ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार सूर सारावलि गावत अति आनन्द। ११०३, सारावली

२—सेवा मार्ग दो प्रकार का है: नाम सेवा, स्वरूप सेवा। स्वरूप सेवा तीन प्रकार की है: तनुजा, वित्तजा, मानसी। मानसी दो प्रकार की है: मर्यादा, मार्गीय और पुष्टिमार्गीय।

भावों में सम्मिलित हो गये, जिन्हें लेकर गोप-गोपिकायें प्रभु के आगे लीला निरत होते हैं, आत्म समर्पण करते हैं। नारद भक्ति सूत्र सं० ८२ में जिन आसक्तियों का वर्णन है, वे भी हरिलीला से सम्बद्ध कर दी गईं। उदाहरण के लिए प्रथम प्रकार की सख्य भक्ति थी:—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमही कै तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं ॥१।७५

सूरसागर (ना०प्र०स० १३४)

पर हरिलीला से सम्बद्ध होकर सख्य भक्ति श्रीकृष्ण और श्रीदामा के एक साथ खेलने में चरितार्थ होने लगी।

पहले आत्म-निवेदन में सूर गाया करते थे:—

प्रभु हौं सब पतितन कौ नायक।
अथवा
अब मैं नाच्यौं बहुत गोपाल।

पर हरिलीला में आत्म-निवेदन गोपियों की इस प्रकार की उक्तियों में प्रकट होने लगा:—

कहा करौं पग चलत न घर कौं।
नैन विमुख जन देखे जात न लुब्धे अरुन अधर कौं॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २६१६)

परब्रह्म का विरुद्ध धर्माश्रयत्व पूर्व रचनाओं में "करुनामय तेरी गति लखि न परै। धर्म अधर्म अधर्म धर्म करि अकरन करन करै" ॥१।४५, सूरसागर (ना०प्र०स० १०४) इन शब्दों में प्रकट होता था, परन्तु हरिलीला के अन्तर्गत वह इस प्रकार कहा जाने लगा:—

देहरी लौं चलि जात, बहुरि फिरि फिरि इत ही कौं आवै।
गिरि गिरि परत बनत नहिं नाँघत, सुर मुनि सोच करावै॥
कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर हरत विलम्ब न लावै।
ताकौं लिये नन्द की रानी नाना रूप खिलावै॥

पहले पश्चात्ताप ऐसे पदों में होता था :—

बादहिं जन्म गयौ सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यौ न जाइ ॥१।६५
सबै दिन गये विषय के हेत।
तीनों पन ऐसे ही बीते केस भये सिर सेत ॥१।१७५

सूरसागर (ना०प्र०स० २७१६)

सम्बन्धःसाधनं यत्र फलं सम्बन्ध एव हि ।
सो पि कृपरोच्छया जातःपुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१०॥
यत्र वा सुख सम्बन्धो वियोगे संगमादपि ।
सर्व लीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१५॥
श्री हरिरायवांङ्‌मुक्तावली, पुष्टिमार्ग लक्षणानि ।

जिस मार्ग में समस्त साधनों की शून्यता प्रभु-प्राप्ति में साधन बनती है, अथवा साधनजन्य फल ही जहाँ साधन का कार्य करता है, जिस मार्ग में प्रभु का अनुग्रह ही लौकिक तथा वैदिक सिद्धियों का हेतु बन जाता है, जहाँ कोई यत्न नहीं करना पड़ता, जहाँ प्रभु के साथ देहादि का सम्बन्ध ही साधन और फल दोनों बन जाता है, जहाँ भगवान की समस्त लीलाओं का अनुभव करते हुए वियोग में भी संयोग सुख से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वह पुष्टिमार्ग है।

इन शब्दों में श्री हरिरायजी पुष्टिभक्ति का सीधा सम्बन्ध हरिलीला से स्थापित करते हैं।

आचार्य वल्लभ के कुल में श्री कल्याणरायजी के पुत्र महाप्रभु हरिरायजी संवत् १६४७, भाद्रपद, कृष्णपक्ष, पंचमी के दिन उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संस्कृत, गुजराती तथा ब्रजभाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। शिक्षापत्र इन्होंने संस्कृत पदों में लिखा है, जिसकी ब्रजभाषा टीका उनके अनुज श्री गोपेश्वरजी ने की है। इसमें एक स्थान पर लिखा है:—

जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोरा आदि बरस दिन के उच्छव, तिनकी अनेक लीला भाव करकें पुष्टिमारग की रीति सों मन लगाइ कैं करै। तथा नित्त लीला, खंडिता, मंगल भोग, आरती, सिंगार, पालनों, राजभोग, उत्थापन, सैन (शयन) पर्यन्त, पीछे रासलीला, मानादिक जल थल विहार इत्यादि की भावना करिये।

ब्रजभारती आषाढ़ १९९८, पृष्ट ११

इस उद्धरण में भी श्री हरिरायजी ने पुष्टि मार्ग को हरिलीला से स्पष्ट रूप में, सम्बद्ध किया है। उन्होंने खंडिता, मान, विहार आदि शृंगारी तत्वों का भी उसमें सम्बन्ध स्थापित किया है।

आचार्य वल्लभ ने हरि-स्वरूप-सेवा का प्रबन्ध श्रीनाथ मंदिर में नित्य तथा नैमित्तिक आचारों के द्वारा किया था। नित्याचार में आठों प्रहर की सेवा नीचे लिखे अनुसार थी:—

सेवा	समय	भाव	कीर्तनकार
१—मंगला	प्रातः ५ से ७ बजे तक	अनुराग के पद, खंडिताभाव, जगाने के पद, दधिमंथन के पद	परमानंद
२—शृंगार	७ से ८ तक	बालरूप सौंदर्य के पद, वेषभूषा, बालक्रीडा	नन्ददास
३—ग्वाल	९ से १० तक	सख्य भाव के पद, कृष्ण के खेल—चौगान, चकडोरी आदि, गोचारण, गौदोहन, माखनचोरी, पालना, घैया आरोगन	गोविंदस्वामी
४—राजभोग	१० से १२ तक	छाक के पद	आठों भक्त विशेषरूप से कुंभनदास
५—उत्थापन	सायं ३॥ से ४॥ बजे तक	गो-टेरन तथा वन्य-लीला के पद	सूरदास
६—भोग	५ बजे	कृष्णरूप, गोपीदशा, मुरली, रूपमाधुरी, गाय, गोप, आदि	आठों भक्त विशेषरूप से चतुर्भुजदास
७—संध्या आरती	६॥ बजे	गो-ग्वालसहित वन से आगमन, गौ दोहन, घैया के पद, वात्सल्य भाव से यशोदा का बुलाना	छीत स्वामी
८—शयन	७ से ८ तक	अनुराग के पद, गोपीभाव से निकुंजलीला के पद, संयोग शृंगार	कृष्णदास

आठों पहर की सेवा में नित्यक्रम, ऋतुक्रम तथा उत्सवक्रम के अनुसार सेवा का आयोजन बदलता रहता था।

[अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ५९८, ५९९]

नैमित्तिक आचारों में षड्ऋतुओं के उत्सव पर्व रक्षाबन्धनादि, अवतारों की जयन्तियाँ, हिंडोला, फाग, वसन्त, मकरसंक्रान्ति आदि मंदिर में मनाये जाते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इन्हें और भी अधिक बढ़ा दिया

था। महात्मा सूरदास इन नित्य तथा नैमित्तिक आचारों को विषय बनाकर पद-रचना किया करते थे। इन समस्त आचारों का सम्बन्ध हरिलीला से था। सूरसागर हरिलीला के ऊपर लिखे विषयों पर बनाये गये ऐसे ही गीतों का विशाल संग्रह है।

इस प्रकार सूर ने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं का विविध रूपों में वर्णन किया है। यह समस्त लीला-वर्णन, जिसमें कहीं श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं, चरितों, चेष्टाओं आदि का उल्लेख है, कहीं पनघट, माखन-चोरी, गोदोहन आदि का, कहीं रास, कहीं मिलन और कहीं विरह आदि भावों का वर्णन है,—ईश्वर भाव को ही लेकर किया गया है और सब भगवान की सेवा का ही अंग है।

नवधाभक्ति का प्रयोजन था भगवान के चरणकमलों में प्रणत हो कर शीतलता का अनुभव करना, पर इस पुष्टिमार्गी भक्ति का लक्ष्य था प्रेम-पूर्ण प्रभु के प्रेम को प्राप्त कर मस्त रहना और श्रीहरिरायजी के शब्दों में गोपियों के भाव का अनुसरण करते हुए भगवान के अधरामृत का सेवन करना।[1] अतः पुष्टिमार्गी भक्ति उष्णभक्ति भी कहलाती है।

सूरसागर में इस सेवामूला, प्रेमपरा हरिलीला का वर्णन इतनी अधिक मात्रा में हुआ है कि अनेक आलोचक उनके शृंगार वर्णन को पढ़कर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। ऐसे आलोचकों को पुष्टिमार्गीय भक्ति के मूल तत्वों पर विचार करना चाहिये। तभी वे सूर की सच्ची समालोचना करने के अधिकारी बनेंगे।

सूर-वर्णित हरिलीला जहाँ लोक-भाषा में संसार की व्यावहारिक बातों और कथाओं पर प्रकाश डालती है, वहाँ समाधि-भाषा के द्वारा आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण करती है। पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में दोनों एक दूसरे के प्रतिबिम्ब हैं। शुद्धाद्वैतवादी की दृष्टि में खंडिता नायिका का वर्णन भक्त के उस स्वरूप का उद्घाटन करता है, जिसमें वह अन्य भक्तों की सुगति-प्राप्ति से खीझ कर रहा है। 'हे हरि क्यों न हमारे आये। षट् रस व्यंजन छाँड़ि रसोई, साग विदुर घर खाये॥' १।१३२। इस पद को हरिलीला के अन्तर्गत किसी गोपी के मुख से कहला दिया जाय, तो उसकी वेदना, टीस एवं तड़पन से ओत-प्रोत वचन में विरह-व्यथित भक्त की ही चिरन्तन पुकार, उसकी क्रंदन-कातरता स्पष्ट सुनाई पड़ने लगेगी।

१—भक्ति द्वैविध्य निरूपण, श्लोक २,३।

पुष्टिमार्ग में यह लीला ही वस्तुतःसर्वप्रधान थी। इस लीलामें भाग लेना ही जीवन का चरम आदर्श था। क्योंकि यही वह सेवाकार्य था जिससे भगवत्कृपा प्राप्त होती थी और जो अन्त में साधन और साध्य को अन्योन्याश्रित कर देती थी। मुक्ति इसके आगे तुच्छ समझी जाती थी।[१] इसी आधार पर कृष्ण भक्तों का कार्य कृष्ण की नित्य एवं नैमित्तिक जीवन-चर्या में भाग लेना था। प्रातःकाल उठते ही कृष्णको जगाना, मुँह धुलाना, कलेऊ कराना, शृंगार कराना आदि भक्तों और उपासकों का कार्य समझा जाता था। इसके पश्चात् मंदिर के कपाट बन्द हो जाते थे, क्योंकि वह समय कृष्ण के गोचारण का था। मंदिर बन्द है, पर भक्त अपने कन्हैया के साथ मानस रूप से गोचारण में योग दे रहे हैं। दधि, माखन और गोदोहन के प्रसंग चलते हैं। यमुना-तट पर क्रीड़ा होती है। छाक पहुँचाई जा रही है और दोपहर के समय भगवान को भोग लगाया जा रहा है। कृष्ण-भक्त एक-एक क्रिया में अपने भगवान के साथ तन्मय होकर लगे हुए हैं। सन्ध्या हुई, कृष्ण घर लौटे। मंदिर के कपाट खुले। आरती होने लगी। कृष्ण थक गये हैं। उनके शयन का प्रबन्ध हो रहा है। भगवान सुला दिये गये। भक्त भी सो गये। यह थी श्रीनाथ मंदिर की प्रति दिन की चर्या। इस नित्य क्रिया के साथ, जैसा लिखा जा चुका है, नैमित्तिक आचार भी चलते थे। मंदिर में वसन्तोत्सव मनाया जाता था, फाग खेला जाता था। वृन्दावन, गोकुल और मथुरा के मंदिरों में श्रावण मास के हिंडोले और झूलने की झाँकियाँ तो अतीव प्रख्यात हैं। आश्विन के दिनों में रास-लीला मनाई जाती थी। इस प्रकार कृष्ण-भक्तों का जीवन रंग-रहस्य और विनोद-प्रमोद में व्यतीत हो जाता था।

आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का इतना सुन्दर सामंजस्य आज तक किसी भी उपासना मार्ग में नहीं देखा गया। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पराधीनता-जन्य दुखों की विकट अनुभूति से तड़पती हुई आर्य जाति को पुष्टि भक्ति के पोषण द्वारा जीवित रखने का स्तुत्य प्रयत्न किया। संभव है, इस पुष्टिमार्गीय चहल-पहल में मुगलों के वैभव का भी कुछ प्रभाव हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की उपासना पद्धति ने हिन्दुत्व को स्थिर रखने में बड़ी सहायता दी। इस आत्मपोषक, लोकविधायक वैभव के समक्ष हमने यवन

१—ब्रह्मसूत्र ३-४-४७ के अणुभाष्य में पृष्ठ १२४५ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—"भक्तिमार्गो बहुविधः इति कपिल देव वाक्यात् केचन भक्ताःस्वगृहेपु एव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तः तयैव निर्वृत्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते।"

वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी। सूर द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्गीयभक्ति-भावना इसी हेतु प्रवृत्तिमूलक है। उसमें निराशा नहीं, निवृत्ति नहीं, प्रत्युत जीवन से ज्वलन्त राग और आशा का स्रोत है। इस भक्ति में भक्तों ने अपना सुख-दुख भगवान के साथ एक कर दिया था। हरिलीला में भाग लेना और इस प्रकार अपने प्रभु की सेवा कर उनका प्रेम-पात्र होना-यही इस भक्ति का केन्द्र-विन्दु था। निवृत्तिपरायणता में भगवान भक्तों से दूर थे, अनन्त थे, असीम थे, निर्गुण थे, पर इस भक्ति ने उन्हें सान्त, ससीम और सगुण भी बनाकर घर-घर में, आँगन-आँगन में, रममाण, क्रीडमान रूप में उपस्थित कर दिया। प्रभु के इस रूप को पाकर भक्त का हृदय आनन्दमग्न हो गया।

हरिलीला और वेद

वैदिक वाङ्मय का अध्येता जब वैदिक ऋषियों के भावों से सूर की रचनाओं का भाव-साम्य अनुभव करता है, तो उसे आश्चर्य नहीं होता। वह जानता है, वेद आर्य जाति की आध्यात्मिक सम्पत्ति है, आर्य संस्कृति की अनुपम शेवधि है। जो अध्यात्म धारा वेद-गिरि से निस्सृत होकर जन-मन-भूमि में प्रवाहित हुई, वह अनवच्छिन्न रूप से अपने नाम और रूप में किंचित् परिवर्तन, परिवर्द्धन या विकास करती हुई आज तक चली आई है। पुष्टिमार्ग में भी भक्ति के केवल बाह्य स्वरूप में ही परिवर्तन हुआ, भाव-राशि ज्यों की त्यों बनी रही। इसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन हम विगत परिच्छेद में करा चुके हैं। इस भाव-विभव का सीधा सम्बन्ध वेद से है, इस तथ्य का यत्किंचित् निरूपण हम इस परिच्छेद में करना चाहते हैं।

पुष्टिपथ में प्रभु को प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण और अप्राकृत, आनन्दात्मक, दिव्य धर्मों वाला होने से सगुण माना जाता है। पीछे भागवत धर्म और सगुणोपासना शीर्षक परिच्छेद में यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के आठवें मन्त्र को उद्धृत कर हम सिद्ध कर चुके हैं कि यह सिद्धान्त-मान्यता वेद में पूर्व से ही विद्यमान है। भक्ति-तरंगिणी की प्रथम तरंग में हमने ऐसे अनेक मन्त्र रक्खे हैं जिनमें प्रभु के गुणों का वर्णन है। इनमें से एक मन्त्र नीचे उद्धृत किया जाता है:—

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां, मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्वनामिन्द्रकेतुं, मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥

वेद कहता है: प्रभु पूजनीयों का भी पूजनीय, अच्युतों को भी च्युत करने वाला, बलवानों में शिरोमणि और अपने भक्तों की कामना पूर्ण करने वाला है।[1] वह हमारा बन्धु है, पिता है, माता है, सखा है—इन भावों को

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ४-२-१५ के भाष्य में पृष्ठ १३२३ पर वृषा का अर्थ लिखते हुए कहते हैं:—"भक्तेषु कामान् वर्षति इति वृषा।" अर्थात् जो भक्तों की कामना सफल करता है, वर्षा जैसे प्राणियों के लिए तृप्तिकारिणी है, उसी प्रकार जो भक्तों की कामनाओं को तृप्त करता है, वह भगवान वृषा या वृषभ है।

प्रकट करने वाले मन्त्र [1] वेद में अनेक हैं। प्रभु के साथ जीव के इस प्रकार के भाव-सम्बन्धों की स्थापना वैसी ही है, जैसे परवर्ती काल में समुद्र से तरंग या बूँद, अग्नि से स्फुलिंगों अथवा कनक से कुंडलादि के सम्बन्धों की स्थापना की गई है। प्रभु निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं, सूक्ष्म होते हुए भी महान् हैं, निकट होते हुए भी दूर हैं, अचल होते हुए भी चल हैं, एकरस होते हुए भी विविध सृष्टियों के रचयिता हैं, ऐसा कथन वेद में कई स्थानों पर आया है।[2] वेद ने यह भी कहा है कि यह जगत प्रभु का एक पाद है, त्रिपाद इससे भी ऊर्ध्व हैं। तृतीय धाम में देव अमृत का आस्वादन करते हुए, उपभोग करते हुए, उसी प्रभु के साथ विचरण किया करते हैं।[3] इन देवों को आचार्य वल्लभ ने शुद्ध जीव की संज्ञा दी है, जो प्रभु का अनुग्रह प्राप्त करके उसके प्रेमास्पद, प्रेम-भाजन बन चुके हैं।[4]

आचार्य वल्लभ श्रीकृष्ण को सोलह कलाओं का पूर्ण अवतार, साक्षात् ब्रह्म मानते हैं। वेद भी कहता है—प्रभु षोडशी है, प्रजापति सोलह कलाओं वाला है।[5] महर्षि दयानन्द ने सोलह कलाओं के नाम इस प्रकार दिये हैं: ईक्षण, प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्मलोक और नाम।[6] प्रश्नोपनिषद् के अन्तिम प्रश्न में भी पुरुष की इन्हीं सोलह कलाओं का वर्णन पाया जाता है। अन्तर इतना ही है

१—त्वंहि नो पिता वसो त्वं माता। मंडल ८, अष्टक ६, अध्याय ७, वर्ग २।
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता। यजु० ३२।१०
इन्द्रस्य युज्यः सखा। ऋ० १।२।७।१६

२—अनेजदेकं मनसो जवीयो।५। यजु० ४० अ०
ईशावास्यमिदं सर्वम्।१। यजु० ४० अ०
तद् दूरे तद्वन्तिके। यजु० ४०।५
द्यावा भूमी जनयन् देव एकः। यजु० १७।१९

३—यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त। यजु० ३२।१०

४—गीता इन्हीं के सम्बन्ध में कहती है:—
मच्चित्ता, मद्‌गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१०।९

५—त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी। यजु० ८।३६

६—आर्याभिविनय पृष्ठ २२२।

कि महर्षि ने ईक्षण को भी एक कला माना है तथा कर्म और लोक का एक में समावेश कर दिया है। उपनिषद में ईक्षण को कला न मानकर कर्म और लोक को पृथक्-पृथक् दो कलायें माना गया है।

वेद यह भी कहता है कि षोडशी प्रभु, यह सोलह कलाओं वाला प्रजापति प्रजा के साथ रमण कर रहा है, क्रीड़ा कर रहा है, खेल खेल रहा है।[1] इन शब्दों में वेद इस सृष्टि को स्पष्टतः हरिलीला के रूप में ही उपस्थित कर रहा है। प्रजा उसकी उत्पन्न की हुई जगत-जीव की सृष्टि ही तो है।

ऋग्वेद के तृतीय मंडल, सूक्त ४४, मन्त्र ३ में हरिलीला का अतीव हृदयग्राही वर्णन उपलब्ध होता है:—

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम्।
अधारयद् हरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तःहरिश्चरत्॥

इस मंत्र में द्यावा से लेकर पृथिवी पर्यन्त समग्र सृष्टि को हरिमय चित्रित किया गया है। हरि द्यावा-पृथिवी में रमण कर रहा है। ऊपर देखो, वह हरित आभा वाला नीला आकाश, जिसकी प्रातः एवं सायकाल की रंग-विरंगी चित्रकारी उन अनुपम चित्रकार की कला का दिग्दर्शन करा रही है। नीचे देखो, यह हरित गर्भा, हरितांचला वसुन्धरा, जो अपनी वानस्पत्य हरीतिमा से हरिमय बनी हुई है। हरि इस हरितवर्णा पृथिवी और हरिधायस आकाश के अणु-अणु में, अंग-अंग में, रोम-रोम में रम रहे हैं, अन्तश्चरण करके क्रीड़ा और केलि में निमग्न हो रहे हैं। यही केलि, यही विचरण, यही लीला इस द्यावा-पृथिवी का भोजन है। यही इसका पोषण है। सूर ने इसी अन्तश्चारी लीला के दर्शन किये थे।

इस लीला के मूल में प्रभु की इच्छा है, ईक्षण है, काम है।[2] उपनिषद् और वेद सब इसी बात को कहते है। ऋग्वेद अष्टक ८, अध्याय ७, वर्ग १७ तथा अथर्ववेद १६।५२।१ में लिखा है: "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतःप्रथमं यदासीत्। सतो बन्धु मसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥" काम ही सृष्टि का बीज है। उपनिषद कहती है, पुरुष में यह काम, ईक्षण, जाग्रत हुआ जिसका परिणाम यह रचना है, जगत है। पुष्टिमार्ग में जगत को सत्य, प्रभु के संदेश से उत्पन्न माना जाता है। अतः यह महा चिति का, उस परम चैतन्य सत्ता का ही एक अंग है। यह उस पुरुष की प्रकृति का एक भाग

१—प्रजापतिः प्रजया स ꣳ रराणः। यजु० ८।३६

२—स ईक्षत इमेनुलोकाःसृजा। ऐतरेय ३।१।

सोऽकामयत। बहुस्याम् प्रजायेयेति। तैत्तरीय, ब्रह्मानन्द वल्ली षष्ठ अनुवाक।

है। इस जगत में चर और अचर दो प्रकार के पदार्थ हैं, जिनमें वह परम पुरुष ही समाया हुआ है। वेद ने 'य आविवेश भुवनानि विश्वा', 'आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं' तथा 'आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' कह कर इसी तथ्य का अभिव्यंजन किया है। उपनिषदों में प्रभु की पराशक्ति, अव्यक्त से हिरण्य गर्भ, ज्येष्ठ ब्रह्म की उत्पत्ति मानी गई है। इसी ज्येष्ठ ब्रह्म से चराचर जगत की उत्पत्ति होती है। अतः वह अव्यक्तः, प्रधान या प्रकृति जीव की माता कही जाती है। वेद के नीचे लिखे मंत्र में जीव और प्रकृति के संयोग को कितने मीठे, माधुर्य रस से ओत-प्रोत शब्दों में प्रकट किया गया है:—

एकःसुपर्णःस समुद्रमाविवेश, स इदंविश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तित स्तं माता रेल्हि स उ रेल्हि मातरम् ॥

ऋ० १०।११४।४।

एक सुन्दर पक्षी संसार रूपी समुद्र में प्रविष्ट हुआ है। वह इस समस्त संसार को देख रहा है। जब मैं अपने परिपक्व ज्ञान से अत्यन्त निकट होकर इसे देखता हूँ तो प्रतीत होता है कि माता उसे चाट रही है और वह माता को चाट रहा है।

उपनिषद के ऋषि ने कहा है: पृथ्वी प्राणियों के लिये मधु है और प्राणी पृथ्वी के लिये मधु है।[1] दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण है। प्रभु तो इस आकर्षण के परम केन्द्र हैं ही। अतः जीव और जगत एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हुए अन्त में उसी प्रभु की ओर आकर्षित हो जाते हैं। उसी के मुखारविन्द की अनुपम छवि का, अनाघ्रात सौरभ का, अतुल सौंदर्य का पान करने के लिये प्रेरित हो उठते हैं। वेद ने उसे (राजा हि कं भवना-नामभिश्रीः) निखिल भुवनों की चमकती हुई शोभा कहा है और (कं) आनन्द का धाम बताया है।[2]

विश्व का सौंदर्य, प्राकृतिक दृश्यों की छटा, शोभा और श्री जिनमें जीव फँस जाता है, सौन्दर्य के उसी स्रोत से आविर्भूत हुये हैं। प्रभु ही अभिरामता का वह अक्षय कोष है जहाँ से सौन्दर्य की अनन्त धारायें फूट रही हैं। सब उसी के सौन्दर्य से सौन्दर्य-धनी बन रहे हैं। वेद कहता है:—

त्वद् विश्वा सुभग सौभगानि अग्ने वि यन्ति वनिनो न वयाः ।

ऋ० ६।१३।१

१—बृहदारण्यक उपनिषद् २।५।

२—[illegible] १।[illegible]। [illegible] ३.२.१२ के शांकरभाष्य में पृष्ठ ९०३ पर [illegible] से उद्धृत।

हे सुभग, परम सुन्दरता के स्रोत, तुमसे निकलकर सौन्दर्य तथा सौभाग्य की धारायें इस विश्व में वैसे ही फैल रही हैं जैसे वृक्ष की शाखायें।

शोभा के इस अनन्त सिन्धु का वर्णन कौन कर सकता है ? सूर के शब्दों में "सूर सिन्धु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी।" मानव की बुद्धि की गति ही कितनी जो इस सौन्दर्य की व्याख्या कर सके। सौन्दर्य की अनन्त लहरों में पड़कर यह बूँद की तरह विलीन हो जाती है। एक बार जो उधर आकृष्ट हो गया, फिर इधर लौटकर नहीं आता। वेद के शब्दों में:—

न घा त्वद्रिगपवेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय ।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि, अस्मिन्त्सुसोमेऽवपानमस्तु ते ॥

ऋ० ८।४३।२

हे पुरुहूत, तुमको कितनों ने न जाने कितनी बार नहीं पुकारा ! पर हे परम दर्शनीय, जब से मेरे मानस चक्षुओं ने तुम्हारी इस बाँकी छवि की झाँकी देखी है, तब से वे वहीं अटक गये हैं। तुम्हारी ओर गया हुआ मेरा यह मन अब इधर लौटता ही नहीं है। अब तो इस मन की समस्त कामनायें आप ही में आश्रित हो गई हैं।

सूर ने भी अपने हरि के अनन्त सौंदर्य के दर्शन किये थे। इस अपार छवि का वर्णन करते हुये वह थकता नहीं है। सौंदर्य के एक से एक बढ़कर चित्र वह खींचता चला जाता है। उसकी आँखें, सांसारिक दृष्टि से नहीं तात्विक दृष्टि से भी हरि के हाथ बिक चुकी थीं। साहित्यलहरी के वंश-परिचायक पद में वह लिख चुका है: "और ना अब रूप देखौं देखि राधा स्याम"— इस जुगुल जोड़ी का, हरि और हरि की प्रकृति (शक्ति) का दर्शन करके फिर वह क्या देखता ? देखने को बचा ही क्या था ? उसका मन गोपाल की ओर आकर्षित हो गया, जिसका सौंदर्य निमिष-निमिष में, पल-पल में अभिनव रूप धारण करता रहता है, जिसमें बासीपन की बू व्याप्त ही नहीं हो सकती, जो निरन्तर नवीन, सतत सद्य बना रहता है।

महाचिति का यह महा सौंदर्य अल्पज्ञ जीव की पहुँच से परे है। जिस धरातल पर हम सामान्य जन रहते हैं, वह उस धरातल की वस्तु नहीं है। इसी कारण, जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उसे सर्व-सुलभ बनाने के लिए पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी। महाप्रभु के शिष्य महात्मा सूरदास ने, उन्हीं के अनुकरण पर उस परम पुरुष को अवम बना दिया, ऊपर से नीचे लाकर हम सबके पास बिठा दिया। तरः पूत वैदिक ऋषि भी इसी प्रकार की प्रार्थना में निरत होकर गाया करते थे:—

स त्वन्नोऽग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उपसो व्युष्टौ ।
अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधि ॥
ऋ० ४।१।५।

हे सर्वश्रेष्ठ, परम-प्रकाश-स्वरूप प्रभो, तुम कितने परम हो, कितने ऊँचे हो, कितने दूर हो—अवम होते हुये भी परम, नीचे होते हुए भी ऊँचे, निकट होते हुए भी दूर, तुम हमारे और हम तुम्हारे।[1] कितना घनिष्ट सम्बन्ध ! फिर भी कितना अधिक पार्थक्य !! देव, पार्थक्य के इन पाशों को आज छिन्न-भिन्न कर दो । वह देखो, ऊपा ऊपर से नीचे उतर आई है, हमारे आँगन में अरुण-राग की वर्षा कर रही है, चराचर जगत को नव्य जीवन-दान दे रही है । इस मंगल-वेला में क्या तुम हमारे हृदय की पुकार न सुनोगे ? हम दुख-दग्धों के दर्द को दूर न करोगे ? प्रभो, तुम तो मंगल-भवन हो, शम्भव और मयोभव हो, कल्याण के केन्द्र और सुख के स्रोत हो । आओ, परम से अवम बनकर, दूर से निकट और निकट ही नहीं, निकटतम होकर हमारे आँगन में खेलो । तुम्हारे इस परम रूप तक हम धरित्री के मानवों की पहुँच कहाँ ? तुम भी हमारी धरित्री के धरातल पर आ जाओ और यहीं रराण (रममाण), रमण करते हुये, अपनी लीला और विनोद-क्रीड़ा से हमें सुखी बना दो ।

वैदिक ऋषि की यही प्रार्थना हरिलीला के स्वरूप में और हरिलीला के गायन—सूरसागर—में चरितार्थ हो रही है । सूर का कन्हैया परब्रह्म होकर भी, अपना समस्त सौंदर्य-संभार लिए सूर के मानस में अवतरित हुआ है । तभी तो सूर ने लिखा है:—

शोभा सिन्धु न अन्त लही री ।
नन्द भवन भरिपूरि उमगि चल, ब्रज की वीथिनु फिरति वही री ॥

सौंदर्य का यह अनन्त समुद्र नन्द के भवन को भरपूर करता हुआ ऐसा उमड़ कर चला कि ब्रज की गली-गली उसके प्रवाह से ओत-प्रोत हो गई ।[2]

हरिलीला का स्वरूप सौंदर्य-सम्पन्न एवं माधुर्य-भाव से मंडित है । इस सौंदर्य एवं माधुर्य का अनुभव करने के लिए भक्त उतावला हो उठता है । जैसे गोपियाँ और ग्वाल प्रातःकाल होते ही अपने कन्हैया के दर्शन के लिए नन्द के द्वार पर पहुंच जाते हैं और अत्यन्त उतावले होकर सोते हुये कृष्ण को जगा देना चाहते हैं, वैसे ही एक वैदिक ऋषि अपने प्रभु को जगाने का गीत गा रहा है:—

१—ऋ० ८।९२।३२। त्वमस्माकं तव स्मसि ।

२—'सागर सौं प्रेम अपार पारावार नागरि जमुना के कोरें इकबार ही कुरै परी ॥' देव

अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावक शोचिषम् ।
हृद्भिर्मन्द्रेभि रीमहे ॥ ऋ० ८।४३।३१।

हे अनन्त प्राणियों के प्यारे, पवित्र ज्योति वाले, हमारे अज्ञान की अपेक्षा से गुप्त रूप में भासित, परमानन्द-पूर्ण परमेश्वर ! हम पर कृपा करके अपने पावन रूप का परिज्ञान करो । आज हम आह्लादित हृदयों से आपके दर्शन करना चाहते हैं, आपको प्राप्त करना चाहते हैं ।

प्रभु वास्तव में एक का नहीं, अनेकों का प्यारा है । कितने गोपी और ग्वाल कृष्ण से प्रेम करते थे, कितने भक्त, कितने साधक उस एक से ही लौ लगाये रहते हैं । अतः वह सबका प्यारा है । कृष्ण का शारीरिक सौंदर्य और मानसिक वैभव अपार था । कृष्ण से प्रेम करने में, प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने में वह अद्भुत आकर्षण रखता था । वेद भी प्रभु को तेजस्वी और अद्भुत कान्ति-सम्पन्न कहता है । पर इस प्रेम का कारण केवल दीप्ति ही नहीं, कान्ति ही नहीं, सौंदर्य-आभा ही नहीं, प्रभु का आनन्दरूप होना भी है । वे परमानन्द पूर्ण हैं । अतः प्रत्येक भक्त उनके सौंदर्य से आकृष्ट होता है और उनके आनन्द-मय रूप को प्राप्त करना चाहता है । सूर ने तभी तो गोपियों के मुख से कहलाया है:—

कोउ कहति केहि भाँति हरि कों देखों अपने धाम ।
हेरि माखन देउँ आछौ खाइ जितनों स्याम ॥
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अँकवारि ।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं को सकै निरुवारि ॥
सूर प्रभु के मिलन कारन करत बुद्धि विचार ।

सूरसागर (ना०प्र०स० ८६१)

सभी गोपियों की आकांक्षा है कि सुन्दर और आनन्दी कृष्ण उन्हीं के पास रहें, उन्हीं को प्राप्त हों । पर वह प्राप्त हो कैसे ? वेद कहता है, प्राप्त तो वह सबको है, पर हम उसका अनुभव ही नहीं कर पाते । मन्दिरों में भक्त घण्टे-घड़ियाल बजाकर प्रभु को सोने से जगाते हैं, पर सो वह नहीं रहा, सो तो हम रहे हैं । अतः अध्यात्म क्षेत्र में प्रभु का जागरण भक्त का ही अज्ञान और अविवेक से जाग्रत होना है । भक्त को ही अविकारी होना है । आचार्य वल्लभ की सम्मति में भक्त की यह जाग्रत, अविकृत अवस्था प्रभु के अनुग्रह से ही सिद्ध होती है ।[1]

१—महर्षि दयानन्द आर्याभिविनय के पृष्ठ २०० पर लिखते हैं: "परब्रह्म के ज्ञान और उनकी कृपा के बिना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता ।"

वैदिक ऋषि इसीलिए प्रभु-प्रार्थना में अनेक बार 'मयस्कृधि', 'मृडय' आदि कहते हुए प्रभु के अनुग्रह की याचना करते हैं।

प्रभु-प्राप्ति के लिए ऊपर उद्धृत मंत्र में एक भाव-संकेत और मिलता है, यह है—'हृद्भिः मन्द्रेभिः'—भक्त अपने आह्लादित, आनन्दमग्न अतएव शुद्ध एवं अविकृत हृदय को लेकर प्रभु के सामने जाता है। अपना शुद्ध रूप ही उसे समर्पित करता है। ऋग्वेद १।५७।१ में भी 'सत्य शुष्माय तवसे मतिं भरे' शब्दों द्वारा भी इसी भाव का अभिव्यंजन हुआ है। मति, बुद्धि, प्रबोध आदि आत्मा के जागरण के सूचक हैं। इस प्रबुद्ध, जाग्रत, शुद्ध अवस्था को ही भक्त प्रभु के अर्पण करता है। हरिलीला में तभी तो गोपियाँ अपना सर्वस्व कृष्ण पर न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत हैं। पुष्टिमार्ग की व्याख्या करते हुए आचार्य हरिराय जी लिखते हैं:—

> समस्त विषय त्यागः सर्व भावेन यत्र हि।
> समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१६॥×

विषय-परित्याग से ही शरीर और मन निर्मल होते हैं। भक्त अपने इसी निर्मल रूप का समर्पण प्रभु को कर देते हैं। प्रभु-सेवा इसके बिना हो ही नहीं सकती। हरिलीला में भाग लेना प्रभु की ही सेवा करना है।

हरिलीला में कृष्ण की मुरली महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में वह शब्द ब्रह्म का रूप है। आचार्य वल्लभ के मतानुसार प्रभु-अनुग्रह-प्राप्त भक्त को मुरली की मोहक ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है और उससे उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। वेद के नीचे लिखे मंत्र में भी वीणा का स्वर सिद्धावस्था ही सुनाई देता है, ऐसा कहा गया है:—

> प्रत्नान्मानादध्या ये समस्वरञ्श्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः।
> अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥
>
> ऋग्वेद ९।७३।६

श्लोक यन्त्र वाली, वेगवान जगत को जानने वाली (जगत्यां जगत का तात्त्विक ज्ञान कराने वाली) वीणा या वंशी अपने पुरातन, अतीत, धाम में (सिद्धावस्था में) बज रही है। अंधे और बहरे इसे छोड़ देते हैं (दुर्ज्ञ और [illegible] इसे सुनने के लिये अग्रसर ही नहीं होते) और दुष्ट कर्मों में लीन,

---

×—श्री हरिराय [illegible], पुष्टिमार्ग लक्षणानि।

पापी प्राणी सत्य साधना के पथ से इधर ही पाते ।[1]

हटयोगी भी कुण्डलिनी-जागरण के समय नाद को सुनना मानते है। कहते हैं, यह नाद ब्रह्मांड भर में व्याप्त हो जाता है। शेक्सपियर ने भी "मर्चेन्ट आफ वेनिस" नाटक के अन्त में ग्रहों, पिंडों और लोकों की गति में अपूर्व संगीत की ध्वनि का होना स्वीकार किया है।[2]

हरिलीला की चरम अवस्था रास-लीला में दिखाई पड़ती है। रास एक प्रकार का मंडलाकार नृत्य होता है। रासलीला में कृष्ण केन्द्र में होते हैं और गोपिकायें उनके चारों ओर। नृत्य की गति-विधि ऐसी होती है जिसमें प्रत्येक गोपी कृष्ण को अपने ही समीप अनुभव करती है। सूर के शब्दों में घन में विद्युत और विद्युत में घन जैसी प्रतीति रास के अन्दर होने लगती है। अध्यात्म क्षेत्र में यह प्रतिपल की घटना है। गोपियाँ जीवात्मा का रूप हैं और कृष्ण ब्रह्म हैं। जीवात्मा में परमात्मा और परमात्मा में जीवात्मा की व्याप्ति वेद के कई मंत्रों में वर्णित हुई है। जैसे:—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥यजु० ४०।६।

जो सब भूतों को आत्मा में और आत्मा को सब भूतों में अनुभव करने लगता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।

गीता ने इसी भाव को इन शब्दों में प्रकट किया है :—

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

१—ऋग्वेद के दशम मंडल के १३५वें यम सूक्त में सातवाँ मंत्र मानव शरीर में निहित नाड़ियों की धमन-ध्वनि को 'गीर्भिः परिष्कृतः' संगीत-स्वरों से सुशोभित रहता है। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार यम विवस्वान (सूर्य) का पुत्र और यमुना विवस्वान की पुत्री है। श्रीकृष्ण ने भी गीता में अपने को राजयोग के संबंध में विवस्वान के साथ संयुक्त किया है (गीता ४।१,२,३)। यमुना और श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है ही। कृष्ण की मुरली यमुना-तट पर ही बजी थी। सायण और उनके आधार पर मैकडौनेल ने 'इयमस्य धम्यते नाडीः' का अर्थ किया है: 'यह यम की वंशी बज रही है।' मंत्र में शरीर को यम का सदन और देवताओं का निवास-स्थान कहा गया है।

2. There's not the smallest orb which thou behold'st,
But in his motion like an angle sings.
—Act V, lines 60-61 Merchant of Venice.

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥६।२९।३०

एक होता हुआ भी प्रभु सबके पास कैसे पहुँच जाता है, सब को कैसे प्राप्त हो जाता है, इसका उल्लेख नीचे लिखे मंत्रों में है:—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
यजु० १७।१९।

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। ऋ० १।७।५।६।

इसी प्रकार के और भी कई मंत्र वेद में आते हैं। इनमें कहा गया है कि प्रभु विश्व-व्याप्त है। उसकी आँखें, मुख, भुजायें, पैर चारों ओर हैं। वह सब ओर से सबको घेरे हुये है। अन्दर और बाहर सर्वत्र विराजमान है। जो प्रभु सबके अन्दर और सबके बाहर विद्यमान है, उसको प्रत्येक भक्त अपने पास अनुभव करेगा ही। पर आश्चर्य यही है कि जो प्रभु सबके इतना निकट है, उसके सामीप्य का अनुभव सबको सब अवस्थाओं में नहीं होता। वेद ने कहा था, 'प्रभु सबके अन्तश्चारी बने हुये अपनी लीला कर रहे हैं।' धन्य हैं वे व्यक्ति जो इस लीला का दर्शन करते हैं। पर ऐसे व्यक्ति भी तो अनेक हैं, जिन्हें इस लीला का भान तक नहीं होता।

रासलीला शृंगार परक होने के कारण स्वभावतः संयोग और वियोग दो पक्ष रखती है। इसका शाश्वत संयोग तो भगवान के अनुग्रहप्राप्त शुद्ध जीवों के साथ है, पर आत्मा के अन्य जीव रूपों के साथ इसका कभी संयोग और कभी वियोग परिलक्षित होता रहता है। सूर ने भी रास के अन्तर्गत दोनों दशाओं का चित्रण किया है। राधा रास के अन्तर्गत बाँईं ओर[1] रहती है। सूर ने राधा को गौड़ीयभक्ति-भावना के अनुसार परकीया नायिका का रूप न देकर, ब्रज की पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार स्वकीया नायिका का रूप दिया है और इसी कारण उसे वामांग में रखा है। पर मान करने के कारण राधा को कृष्ण-वियोग सहना पड़ा और रास-लीला स्थगित हो गई, क्योंकि कृष्ण अन्तर्हित हो गये। राधा का मान जब पश्चाताप की अग्नि में पड़कर नष्ट हो गया, तो कृष्ण पुनः प्रकट हो गये और रास-लीला फिर आरम्भ हो गई। निम्नांकित पद में इस का कारण और भी स्पष्ट कर दिया गया है:—

१—बाम भुज स्यामा (राधा) दच्छिन भुजा सखी (चन्द्रावली)
[illegible] कहि न जाई ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
ऋ० १।१६४।२०

प्रकृति रूप वृक्ष पर ईश्वर और जीव नाम वाले दो पक्षी बैठे हुये हैं। दोनों सयुजा हैं, सखा हैं। इनमें से एक (ईश्वर) इस वृक्ष के फल नहीं खाता। दूसरा (जीव) स्वाद ले-लेकर इस वृक्ष के फल खाया करता है। फल खाना, फल की आकांक्षा रखना ही आसक्ति है। आसक्ति में ग्रसित जीव इसीलिये हरिलीला में भाग लेने से वंचित रह जाते हैं। जब वे अनासक्ति की ओर प्रयाण करते हैं, तो इस लीला से उनका संयोग होता है और आसक्ति का विवेचन उन्हें विरह-भाव से अभिभूत कर देता है। विरह की यह अनुभूति ही प्रेमा भक्ति को सुदृढ़ भूमि पर स्थापित करने वाली है।

भगवान की इस लीला में भाग लेना ही भक्त के लिए सब कुछ है। जहाँ वैधी भक्ति करने वाले मुक्ति की आकांक्षा किया करते हैं, वहाँ पुष्टि-मार्गीय भक्त मुक्ति को भी तुच्छ समझते हुए हरि-लीला में भाग लेना ही अपनी भक्ति का चरम लक्ष्य मानते हैं। उन्नत अवस्था में भक्ति स्वतः हरि-लीला में भाग लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती।

पुष्टि-मार्ग में भगवद्अनुग्रह, प्रभु की करुणा और आत्मसमर्पण का महत्वपूर्ण स्थान है। इस संबंध में वेद के दो मंत्र नीचे उद्धृत कर हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे:—

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य।
तमा नो वाज सातये विवो मदे यज्ञेषु। चित्रमाभरा विवक्षसे॥
ऋ० १०।२१।४

हे शक्ति के स्रोत, हे महा महिमामय, अमर प्रभो, आप जिस धन को मेरे योग्य समझें, उसे ही मुझे प्रदान करें। यज्ञ-कार्यों में प्रसन्नता के लिये, बल-प्राप्ति के लिये उसी की आवश्यकता है।

यहाँ भक्त अपनी ओर से किसी धन की आकांक्षा नहीं करता। उसने अपने आपको प्रभु के सुपुर्द कर दिया है। वे जैसा उचित समझें, करें। आत्म-समर्पण की यह उच्च कोटि की स्थिति है।

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षात् अपांस्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन॥
अथर्व० ६।१२४।१

हे परमेश्वर, तेरे प्रकाशमय महान अन्तरिक्ष से तेरे करुणा रूप जलों का एक स्वल्प कण, अपने तृप्तिकारक रस के साथ, मुझ पर गिरा और उसी स्वल्प करुणा कण ने मुझे पराक्रम, ज्ञान, मंत्रशक्ति, शुभ कर्म और उनके फल-सुख-से संयुक्त कर दिया।

भगवान की दया का, कृपा का, करुणा का, अनुग्रह का कैसा अद्-भुत प्रभाव है। प्रभु की महिमा महान है। उसकी थोड़ी सी दयादृष्टि जन्म-जन्मान्तरों से पतित प्राणी का भी उद्धार कर देती है। वेद में वर्णित इन भावनाओं का सूरसागर में प्रतिपादित भावनाओं के साथ कैसा विचित्र साम्य है।

हरिलीला और पुराण साहित्य

(१)

जैसा पूर्व लिखा जा चुका है, हरिलीला ग्रावा से लेकर पृथिवी पर्यन्त समग्र विश्व में व्याप्त हो रही है। न यह एककालिक है और न एकदेशीय। यह प्रकृति और पुरुष की क्रीड़ा है। प्रकृति और पुरुष भी तात्विक दृष्टि से भिन्न-भिन्न नहीं, प्रत्युत एकही सत्ता के दो पार्श्व हैं। इन्हीं को राधा और कृष्ण नाम से अभिहित किया गया है। हरिलीला में राधा और कृष्ण का नाम प्रमुख रूप से आता है। अतः इस स्थान पर हम इन दोनों नामों का पौराणिक विवेचन प्रस्तुत करेंगे और हरिलीला से सम्बन्धित सामग्री का जो रूप पुराण-साहित्य में उपलब्ध होता है, उसका भी अनुशीलन करेंगे।

सर्व प्रथम हम श्रीकृष्ण को लेते हैं। श्रीकृष्ण का नाम भारतीय साहित्य के विद्यार्थी के लिये अपरिचित वस्तु नहीं है। महाभारत में कृष्ण का नाम अनेक वार आया है। इस ग्रन्थ में वे कहीं राजनैतिक योद्धा के रूप में, कहीं वेद वेदांगवेत्ता के रूप में और कहीं धर्मोपदेष्टा के रूप में चित्रित किये गये हैं।[१] गीता तो आज तक उन्हीं के मुख से निकली हुई कही जाती है। गीता महाभारत का ही अंश है। गीता के उपदेश महाभारत के भिन्न-भिन्न स्थलों में भी बिखरे पड़े हैं। महाभारतकार स्वयं श्रीकृष्ण को सात्वत धर्म का उपदेष्टा और आचार्य कहता है। पाणिनि कृष्ण शब्द का तो नहीं, परन्तु वासुदेव शब्द का अर्जुन शब्द के साथ प्रयोग करता है।[२] कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। अतः वे वासुदेव कहे जाते हैं। महाभाष्यकार पातंजलि लिखते हैं कि कृष्ण ने कंस को मारा। फिर दूसरे स्थान पर लिखते हैं कि वासुदेव ने कंस को मारा। इस प्रकार कृष्ण और वासुदेव एक ही हैं, यह असंदिग्ध है।

१—महाभारत में वर्णित कृष्ण-जीवन की समस्त सामग्री हमने अपने प्रकाशित ग्रन्थ महाभारत और श्रीकृष्ण में एकत्र कर दी है।

२—वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्। ४।३। ९८।

छांदोग्य उपनिषद में कृष्ण को देवकी पुत्र और घोर आंगिरस ऋषि का शिष्य लिखा हुआ है।[1] देवकी पुत्र स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि यह कृष्ण महाभारत के वासुदेव कृष्ण ही हैं। इस सम्बन्ध में छांदोग्य उपनिषद की वह शिक्षा भी विचारणीय है जो घोर आंगिरस ऋषि से श्रीकृष्ण को प्राप्त हुई थी। छांदोग्य में लिखा है:—

अथ यत्तपो दान मार्जव महिंसा सत्य वचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।
३।१७।४।

अर्थात् जो तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य वचन हैं वही यज्ञ की दक्षिणा है। इन शब्दों से द्रव्य रूप दक्षिणा का निषेध होता है। साथ ही द्रव्यमय यज्ञ का भी खंडन हो जाता है। इस प्रकार छांदोग्य उपनिषद का उपदेश यज्ञ एवं कर्मकांड परायण ब्राह्मणत्व का विरोधी है। गीता के नीचे लिखे श्लोकों में, लगभग इन्हीं शब्दों में, यही शिक्षा दी गई है—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप।४।३३।
दानं दमश्चयज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।१६।१।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।१६।२।
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।२।४६।

इस शिक्षा-साम्य से सिद्ध होता है कि छांदोग्य के देवकी-पुत्र कृष्ण महाभारत के सात्वत धर्म के उपदेष्टा तथा गीता के प्रवचनकर्ता वासुदेव कृष्ण ही हैं। जैन ग्रन्थों में भी कृष्ण की कथा आती है और उन्हें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का समकालीन माना गया है। ऋग्वेद के अष्टम मंडल के ८५, ८६ और ८७ तथा दशम मंडल के ४२, ४३ और ४४ सूक्तों के ऋषि का नाम भी कृष्ण है। परन्तु यह कृष्ण ऋषि देवकी पुत्र कृष्ण नहीं जान पड़ते। ऋषि कृष्ण के नाम पर कार्ष्णायन गोत्र चला है। संभवतः इसी गोत्र-प्रवर्तक ऋषि के नाम पर वसुदेव ने अपने पुत्र का नाम कृष्ण रखा होगा।

जिस घोर आंगिरस ऋषि का नाम छांदोग्य उपनिषद में आता है, उसी ऋषि का नाम कौशीतकी ब्राह्मण में भी पाया जाता है और उसके साथ

१—तद्धैतद् घोर आंगिरसःकृष्णाय देवकी पुत्राय उक्त्वा उवाच। अपिपास एव स बभूव। सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत। अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि। छां० ३।१७।६।

कृष्ण का नाम भी विद्यमान है। कृष्ण को इस ब्राह्मण में आंगिरस कहा गया है।[1]

इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी था। वे घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य थे, समस्त वेद-वेदांगों के ज्ञाता थे, राजनीति में निपुण थे और बलवान योद्धा थे।[2] इन्होंने सात्वत सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जिसका मुख्य उद्देश्य पशु-हिंसा-पूर्ण यज्ञों का विरोध और निवृत्ति मार्ग के स्थान पर प्रवृत्ति पथ का प्रचार करना था। सम्भवतः इसी सर्वांगीण शारीरिक, सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति के कारण वे जनता के लिए समादरणीय एवं भक्ति-भाजन बन गये थे। एक स्थान पर महाभारतकार ने भीष्मजी से उनकी ईश्वर के रूप में स्तुति भी कराई है।

परवर्ती पौराणिक साहित्य में उनके ईश्वर रूप का और भी अधिक विकास हुआ और पूतना-वध, शकट-भंजन, तृणावर्त, यमलार्जुन, माखनचोरी आदि आलंकारिक तथा प्रतीकात्मक कथाओं का सम्बन्ध उनके जीवन के साथ जोड़ दिया गया। हरिवंश पुराण में, जो महाभारत के पश्चात् सौति उग्रश्रवा द्वारा शौनक को सुनाया गया है, कृष्ण-चरित को सर्व प्रथम गोपियों के चरित्र के साथ सम्बद्ध किया गया है। हरिवंश के अन्तर्गत विष्णुपर्व के १२८ अध्यायों में कृष्ण-जीवन की संपूर्ण गाथा दी हुई है। कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन करते हुये हरिवंश का रचयिता अध्याय २० में लिखता है :—

तास्तस्य वदनं कान्तं कान्ता गोपस्त्रियो निशि।
पिबन्ति नयनाक्षेपैर्गां गतं शशिनं यथा ॥१९॥
हरितालार्द्रपीतेन स कौशेयेन वाससा।
वसानो भद्र वसनं कृष्णः कान्ततरोऽभवत् ॥२०॥
स बद्धांगद निर्व्यूह श्चित्रया वनमालया।
शोभमानो हि गोविन्दः शोभयामासतद् व्रजम् ॥२१॥

१—कौशीतकी ब्राह्मण का दूसरा नाम शांखायन ब्राह्मण है और इसी नाम से आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित हुआ है। उसके अन्तिम तीसवें अध्याय में कृष्ण के सम्बन्ध में ये शब्द आये हैं—

कृष्णो है तदांगिरसो ब्राह्मणांच्छन्सीयः तृतीयं सवनं ददर्श।

२—वेद वेदांग विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां हि लोके कोऽन्योस्ति विशिष्टःकेशवादृते ॥
महाभारत, सभा पर्व, अध्याय ३८।

कृष्ण का मुखमंडल अत्यन्त सुन्दर था। कान्त गोपिकायें अपने नयना-क्षेपों द्वारा उस सौंदर्य का पान करने लगीं। उस समय वह मुख ऐसा प्रतीत होता था जैसे पृथ्वी पर चन्द्रमा ही उतर आया हो। सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित कृष्ण वैसे भी सुन्दर थे। अब हरितालाद्र पीत कौशेय वस्त्र (पीताम्बर) को धारण कर और भी अधिक सुन्दर दिखलाई देने लगे। भुजाओं में अंगद नाम का आभूषण धारण करके तथा विचित्र वनमाला से शोभित होकर कृष्ण ब्रजभूमि को शोभायमान करने लगे। हरिवंश में यह भी लिखा है कि श्रीकृष्ण बालिका, युवती एवं वृद्धा सभी के लिये प्रिय बने हुये थे। ब्रज में यदि कोई उपद्रव हो जाता, तो गोपिकायें श्रीकृष्ण को सुरक्षित देखने के लिये व्याकुल हो उठती थीं। कृष्ण से शून्य ब्रज उनकी दृष्टि में कोई आकर्षण नहीं रखता था। हरिवंशकार लिखता है :—

दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा।
विना वृषेण का गावो, विना कृष्णेन को व्रजः॥
विना कृष्णं न यास्यामो विवत्सा इव धेनवः॥१२।२७।विष्णुपर्व।

जैसे सूर्य के विना दिन, चन्द्र के विना रात्रि तथा वृषभ के विना गायों की शोभा नहीं होती, वैसे ही कृष्ण के विना ब्रज शोभा-रहित है। जैसे गायें अपने बछड़ों से वियुक्त होकर गोष्ठों में जाना पसन्द नहीं करतीं, उसी प्रकार ब्रज-वासियों को कृष्ण के विना ब्रज में जाना या रहना रुचिकर नहीं था। यमलार्जुन-भंग नाम के सातवें अध्याय के सातवें श्लोक में कृष्ण और बलराम दोनों को 'सर्पभोग भुजौ' और 'कलभकौ' अर्थात् फन सहित सर्प के शरीर के समान बाहु वाले और हाथी के बच्चे के समान बलिष्ठ अंगवाले कहा गया है। हरिवंश के इस स्थल पर यशोदा ने कमल-लोचन कृष्ण को रस्सी के द्वारा उलूखल में भी बाँधा है, परन्तु उसका कारण गोपियों का उपालम्भ नहीं है, प्रत्युत यह है कि समस्त ब्रज में विचरण करते हुये कृष्ण को निवारण करने में नन्द गोप भी असमर्थ हो गये थे। मूल में शब्द हैं, 'विप्रकुर्वाणौ', 'पांसु-दिग्धांगौ' तथा 'करीषप्रोक्षितौ', जिनका साधारण अर्थ है उपकार करते हुए, धूलिधूसरित और गोमय मंडित। नीलकंठ ने अपनी भारत-भावदीप नामकी टीका में 'विप्रकुर्वाणौ' का अर्थ लिखा है—'नवनीत चौर्यादिना उपकारं कुर्वाणौ।' मूल में नवनीत चोरी का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

हरिवंश पुराण में पूतनावध, शकटभंग, यमलार्जुनपतन, माखनचोरी, कालिय दमन, धेनुक-वध, प्रलम्ब-वध, गोवर्धन-धारण आदि सभी लीलाओं की प्रभूत एवं विशद चर्चा आ गई है। वर्षा और शरद के भी मनोरम वर्णन

हैं। अपनी गाथात्मक अथवा लौकिक शैली के कारण यह पुराण अन्
पुराणों से प्राचीन प्रतीत होता है।

रासलीला का वर्णन इस पुराण में इन शब्दों द्वारा किया गया है :—

ता वार्यमाणाः पितृभिः भ्रातृभिः मातृभिस्तथा।
कृष्णं गोपांगना रात्रौ मृगयन्ते रतिप्रियाः ॥२४।अध्याय२०
तास्तु पंक्तीकृताः सर्वाः रमयन्ति मनोरमम्।
गायन्तः कृष्ण चरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः ॥२५।अध्याय२०

× × × ×

एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः।
शारदीषु स चन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी ॥३५।अध्याय २०

गोपांगनायें अपने माता, पिता तथा भ्राताओं के निषेध करने पर भ
रात्रि के समय प्रेम में विह्वल हो कृष्ण को खोजने लगीं। कृष्ण के पास पहुँच
कर ये मनोरम मंडलाकार नृत्य में आनन्द लेने लगीं और दो-दो की जोड़
बनाकर कृष्ण-चरित्र के गान में मग्न हो गई।.........गोपिकाओं
मंडल से घिरे हुए कृष्ण शरद की ज्योत्स्ना-धवल निशा में आनन्
करने लगे।

ब्रह्म पुराण के अध्याय ७२ से १०३ तक और विष्णु पुराण के पाँच
अंश के ३८ अध्यायों में कृष्ण-चरित सम्बन्धी श्लोक लगभग एक से हैं
कहीं-कहीं एकाध शब्द जैसे जंभे के स्थान पर वृत्रे, सुराः के स्थान पर द्विजा
आदि और एकाध श्लोक का ही थोड़ा-सा अन्तर है।[1] अतः वे किसी ए
ही कवि की कृति जान पड़ते हैं।

इन पुराणों में कृष्ण का अवतार, पूतनावध, शकटभंजन, यमलार्जुन
पतन, अरिष्ट, केशी-धेनुक-वध, गोवर्धन-धारण, कालियदमन, नाग कन्याओं
द्वारा भगवान श्रीकृष्ण का स्तवन, रास-लीला आदि अनेक बाल्य एवं कैशो
काल की लीलायें वर्णित हुई हैं। माखनचोरी, पनघट प्रस्ताव, चीरहरण
भ्रमरगीत आदि के प्रसंग विष्णु पुराण और ब्रह्मपुराण में नहीं हैं। ये प्रसं
हरिवंश में भी नहीं मिलते।

भास ने बाल-चरित नाटक में माखनचोरी का संकेत इस प्रका
दिया है :—

१—आरम्भ के श्लोकों और अध्यायों की श्लोक संख्या में भी अन्तर है

नन्द गोप पुत्रः एकस्मिन् गेहे गत्वा क्षीरं पिबति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति, नवनीतं गिरति आदि।

भास नाटक चक्रम्, पृष्ठ ५३६।५३७।

भास ने गोपियों के शिकायत करने पर यशोदा-द्वारा कृष्ण का उलूखल में बाँधा जाना भी लिखा है। रासलीला सम्बन्धी कुछ श्लोक विष्णु पुराण के १३वें अध्याय से नीचे उद्धृत किये जाते हैं[२] :—

गोपी परिवृतो रात्रिं शरच्चन्द्र मनोरमाम्।
मानयामास गोविन्दो रासारम्भ रसोत्सुकः ॥२४॥

× × × ×

ततो ददृशुरायान्तं विकासिमुख पंकजम्।
गोप्यस्त्रैलोक्य गोप्तारं कृष्णमक्लिष्ट चेष्टितम् ॥४३॥

× × × ×

काचिद् भ्रूभंगरं कृत्वा ललाटफलकं हरिम्।
विलोक्य नेत्र भृंगाभ्यां पपौ तन्मुख पंकजम् ॥४५॥
ताभिः प्रसन्न चित्ताभिर्गोपीभिः सह सादरम्।
रराम रास गोष्ठीभिरुदार चरितो हरिः ॥४८॥

× × × ×

ततः स ववृते रासश्चलद्वलय निस्वनः।
अनुयात शरत्काव्य गेय गीति रनुक्रमात् ॥५१॥

× × × ×

रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः ॥६०॥

इन श्लोकों में भी कृष्ण का वैसा ही सौंदर्य है, कमल के समान खिला हुआ, प्रसन्न मुख-मंडल है, जिसे गोपिकायें सतृष्ण नेत्रों से टकटकी लगाकर देखती हैं। शरच्चन्द्र-मनोरमा रात्रि है, तंत्री बज रही है, गान हो रहा है, रास-नृत्य की द्रुत गति के कारण कंकण चलित हो मधुर निःस्वन करने लगते हैं। अमेयात्मा, शत्रुहन्ता हरि इस प्रकार गोपियों के साथ रास-क्रीडा कर रहे हैं।

यद्यपि हरिवंशकार कृष्ण को विष्णु के अवतार रूप में चित्रित करता है, फिर भी उसकी दृष्टि अधिकतर लौकिक पक्ष की ओर है। ब्रह्म या

२—ब्रह्मपुराण में ये श्लोक ८१वें अध्याय में हैं।

विष्णु पुराणकार हरिवंश के रचयिता की भाँति इसी लोक पर दृष्टि नहीं रखता, वह श्रीकृष्ण को परब्रह्म स्वरूप कहकर अपनी आध्यात्मिक भावना भी प्रकट कर देता है।X जड़ जगत का समस्त सौंदर्य तो रासलीला में है ही, आत्मिक सौंदर्य से भी वह वंचित नहीं है।

पद्म पुराण,[१] वायुपुराण,[२] वामनपुराण,[३] कूर्म पुराण[४] तथा गरुड पुराण,[५] में भी कृष्ण-कथा संक्षेप से आती है, परन्तु ब्रह्म वैवर्त्त के श्रीकृष्ण

X—आत्मस्वरूप रूपोऽसौ व्याप्य सर्वमवस्थितः ।। ब्रह्मपुराण ।८१-४२ ।

१—पाताल खंड, वृन्दावन माहात्म्य, अध्याय ६६ से ८३ तक। यह पुराण हरि-लीला के आध्यात्मिक सिद्धांत पक्ष की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसके उद्धरण 'गोपियाँ' शीर्षक परिच्छेद में दिये जावेंगे।

२—वायु पुराण, द्वितीय खंड, अध्याय ३४ में पहले स्यमंतक मणि की कथा दी है जो भास्कर से शक्रजित को और शक्रजित से उसके भाई प्रसेनजित को प्राप्त हुई थी। श्रीकृष्ण इस मणि को प्रसेनजित से प्राप्त करना चाहते थे, पर न पा सके। एक दिन मृगया करते हुए प्रसेनजित सिंह द्वारा मार डाले गये। ऋक्षराज जाम्बवान ने उस सिंह को मार डाला और उस दिव्य मणि को लेकर अपने बिल में प्रवेश किया। इधर वृष्णि तथा अन्धक वंशी श्रेष्ठ पुरुषों ने ऐसा विचार किया कि कृष्ण उस मणि को प्राप्त करना चाहते थे, अतः उनके लोभ में इन्होंने प्रसेनजित का वध किया है। श्रीकृष्ण अपने सहवर्गियों द्वारा लगाये गये इस मिथ्यारोप को सहन न कर सके और वन में चले गये। वहाँ उन्होंने अश्व सहित प्रसेनजित को निहत अवस्था में पड़े हुए देखा। उन्हीं के पास ऋक्षराज जाम्बवान् द्वारा मारे गये सिंह के शव को भी देखा। स्यमंतक मणि को वहां न पाकर वे ऋक्षराज के पद चिन्हों के सहारे उसकी गुहा के पास पहुँच गये। गुहा के अन्दर से उसी समय यह शब्द सुनाई दिया: "सिंह ने प्रसेन को मारा और जाम्बवान ने सिंह का वध किया। हे सुकुमार! मत रो, यह स्यमंतक मणि तेरी है।" ये शब्द गुहा के अन्दर धात्री जाम्बवान के पुत्र से कह रही थी। इन शब्दों को सुनकर श्रीकृष्ण ने उस गुहा के अन्दर प्रवेश किया और इक्कीस दिन तक जाम्बवान के साथ युद्ध करके उसे पराजित किया। इसके पश्चात् वे जाम्बवान की पुत्री जाम्बवती और स्यमंतक मणि को लेकर द्वारिका में आये और समस्त सात्वतों की सन्निधि

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

जन्म खंड तथा श्रीमद्भागवत के दशम एवं एकादश स्कन्धों में यह कथा विस्तार-पूर्वक वर्णित हुई है।

शेष टिप्पणी पिछले पृष्ठ की

में सत्राजित को वह मणि दे दी। इस प्रकार श्रीकृष्ण उस मिथ्या अभि-शस्ति से बच सके। इसके पश्चात् भोज, वृष्णि तथा अन्धकवंशीय कुन्ति-भोज, आहुक, देवक, वसुदेव आदि का वंश-विवरण दिया है। श्रीकृष्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है:—

देव देवो महातेजाः पूर्वं कृष्णः प्रजापतिः।
विहारार्थं मनुष्येषु जज्ञे नारायणः प्रभुः ॥१६२॥
देवक्यां वसुदेवेन तपसा पुष्करेक्षणः।
चतुर्बाहुः स विज्ञेयो दिव्यरूपः श्रियान्वितः ॥१६३॥
प्रकाशो भगवान योगी कृष्णो मानुषमागतः।
अव्यक्तो व्यक्त लिंगस्थः स एव भगवान् प्रभुः ॥१६४॥
अव्यक्तः शाश्वतः कृष्णो हरिर्नारायणः प्रभुः।
जायते स्मैव भगवान्नयनैर्मोहयन् प्रजाः ॥२०२॥

श्रीकृष्ण के जन्म के समय सागर कम्पित, पर्वत चलायमान और अग्निहोत्र प्रज्वलित हो उठे। कल्याणकारी पवन चलने लगा। अन्तरिक्ष प्रशान्त हो गया। ज्योतियाँ चमकने लगीं। उस समय अभिजित नक्षत्र था। जयन्ती नामकी रात्रि थी। विजय नाम का मुहूर्त था। आकाश से पुष्प-वृष्टि हो रही थी। सहस्रों गंधर्व और महर्षि मंगलमय गीतों से भगवान की स्तुति कर रहे थे।

इसी अध्याय में श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण यह दिया गया है:—

अन्वगम् न महीं देवः प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।
मोहयन् सर्व भूतानि योगात्मा योगमायया ॥२३१॥
नष्टे धर्मे तदा जज्ञे विष्णुर्वृष्णि कुले स्वयम्।
कर्तुं धर्म व्यवस्थान मसुराणां प्रणाशनम् ॥२३२॥

इसके उपरान्त रुक्मिणी, सत्या, सत्यभामा, जाम्बवती, शैब्या, कालिंदी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा आदि अप्सराओं के चतुर्दश गुणों से समन्वित १६ सहस्र श्रीकृष्ण की पत्नियों का कथन है और उनके पुत्रादि का विवरण दिया है। न रास गाया है, और न किसी प्रकार की गोप-लीला का

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

रास-लीला का उल्लेख हम हरिवंश तथा विष्णु दोनों पुराणों में दिखा चुके हैं। हरिवंशकार ने रास के स्थान पर हल्लीस शब्द का प्रयोग किया है। श्रीधर स्वामी ने रास का अर्थ स्त्री-पुरुष का परस्पर हाथ पकड़ कर गाना और

शेष टिप्पणी पिछले पृष्ठ की

उल्लेख। परन्तु आगे अध्याय ४२ में श्लोक ४५ से ५३ तक अक्षर से भी परे गोलोकवासी भगवान कृष्ण का उल्लेख है, जिन्हें लीला-विलास-रसिक, वल्लवीयूथ-मध्यग, शिखि, पिच्छ-किरीट से शोभित, खंजरीट के समान कानों तक फैले हुए विशाल मनोहर नेत्र वाले, कुंज विहारी, पीताम्बर-धारी, वेणुवादक, गायों के पीछे दौड़ने वाले, राधा-विलासी और गोलोक में क्रीड़ा करने वाले कहा गया है। यह कथन व्यास जी के उस संशय के सम्बन्ध में है, जिसे वे अक्षरब्रह्म से भी परे श्रीकृष्ण को मानने में प्रकट करते हैं। इस स्थल पर राधा तथा गोप-लीलाओं का स्पष्ट उल्लेख है।

३—वामन पुराण में केशी, मुर तथा कालनेमि के वध की चर्चा है।

४—कूर्म पुराण के पूर्वार्द्ध में अध्याय २४ के अन्तर्गत यदुवंश का वर्णन है। अध्याय २५ में श्रीकृष्ण पुत्र-प्राप्ति के लिए महादेव की आराधना करते हैं। अध्याय २७ में श्रीकृष्णात्मज साम्बादि की कथा है।

५—गरुड़ पुराण, आचार कांड, अध्याय १४४ के ११ श्लोकों में पूतना, शकट, यमलार्जुन, कालीय, गोवर्द्धन-धारण, केशी-चाणूरादि का वध, सान्दीपनि गुरु से शिक्षा-लाभ आदि सभी कथाओं का संक्षेपतः संकेत कर दिया गया है। गोपियों का तथा रुक्मिणी, सत्यभामा आदि कृष्ण की आठ पत्नियों का भी उल्लेख है, पर राधा का नाम नहीं है। इसके २३७वें अध्याय में गीता का सार भी पाया जाता है। गरुड़ पुराण के तृतीयांश ब्रह्म कांड के अध्याय १६ में हव्यवाह की कन्या नीला का श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये तप करना, अध्याय २० में भद्रा का तप और श्रीकृष्ण द्वारा मित्रविन्दा का पाणिग्रहण करना, अध्याय २१ में सूर्य-कन्या कालिंदी के तप से तोषित भगवान का कालिंदी नदी के तीर पर उसे स्वीकृत करना, अध्याय २३ में श्रीकृष्ण-भार्या जाम्बवन्ती के पूर्वजन्म की आख्यायिका का कथन तथा सोम पुत्री का विष्णु-प्राप्ति के लिए श्री शेषाचल पर तप करने का उल्लेख और अध्याय २७ में जाम्बवती के साथ श्रीकृष्ण के विवाह का वर्णन आदि कई प्रसंग आ गये हैं।

मंडली बनाकर घूमते हुए नृत्य करना लिखा है। हेमचन्द्र के अभिधान कोष में हल्लीस का अर्थ स्त्रियों का मंडल बना कर नाचना लिखा है।[1]

प्रश्न यह है कि क्या इन लीलाओं का कृष्ण के ऐतिहासिक चरित्र के साथ कोई सम्बन्ध है? महाभारत से इन लीलाओं की वास्तविकता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। सभा पर्व में शिशुपाल-वध के प्रसंग में इन लीलाओं में से कुछ की एक क्षीण झलक अवश्य मिल जाती है और द्रौपदी के चीर खींचे जाने के समय महाभारतकार श्रीकृष्ण को गोपीजन प्रिय भी कह देता है (यद्यपि कुछ विद्वान इस स्थल को मूल महाभारत का अंश स्वीकार नहीं करते), पर इन लीलाओं का जैसा घटाटोप भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में है, वैसा अन्यत्र किसी भी पुराण में दृष्टिगोचर नहीं होता। तो, इन लीलाओं का स्रोत कहाँ है? एक उलझन और भी है। भागवत के अनुसार कृष्ण का बालजीवन यशोदा और नन्द के साथ व्यतीत हुआ, जहाँ वे गोप-गोपिकाओं के साथ खेलते रहे और शिक्षा-लाभ का कोई अवसर नहीं मिला। कंस-वध के पश्चात् उग्रसेन को सिंहासनासीन करके श्रीकृष्ण बलराम के साथ अवन्तीपुर-वासी काश्य सांदीपनि मुनि के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए गये। यहीं पर उन्होंने सांगोपाँग वेद, उपनिषद्, आन्वीक्षिकी, षड्विद्या, राजनीति और रहस्य सहित धनुर्वेद का अध्ययन किया।[2] महाभारत भी उन्हें वेद-वेदांग-वेत्ता कहता है। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार कृष्ण ने घोर आंगिरस ऋषि के चरणों में बैठ कर वेद-वेदांग की शिक्षा प्राप्त की थी। कौषीतकी ब्राह्मण भी इस बात का समर्थन करता है। इस प्रकार शिक्षा लाभ के सम्बन्ध में एक दूसरे का समर्थन करने वाले चार प्रामा-

---

१—गोपीनां मंडली नृत्यबन्धने हल्लीसकं विदुः ॥

हरिवंश, पृष्ठ १६६, पाद टिप्पणी।

भास ने भी बाल-चरित नाटक के तृतीय अंक में रास के स्थान पर हल्लीसक शब्द का प्रयोग किया है, यथा:—

घोष सुन्दरि! वनमाले, चन्द्ररेखे···हल्लीसक नृत्तबन्ध उपयुज्यताम।

भास नाटक चक्रम, पृष्ठ ५३९।
[पूना ओरियंटल बुक एजेंसी, १९३७]

हल्लीसक एक प्रकार का नृत्य बन्ध है, जिसमें व्यायाम के साथ इस कलागत की रसानुकृति भी हो जाती है। रासलीला प्रकरण में इसे अधिक स्पष्ट किया जायगा।

२— भागवत, १०।४५।३३,३४

णिक ग्रन्थ हैं; पर लीलाओं का उल्लेख केवल श्रीमद्भागवत में है। ऐतिहासिक सत्य कहाँ पर है ? वास्तव में कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित इन लीलाओं ने कृष्ण-चरित की ऐतिहासिकता में एक ऐसा व्यवधान डाल रखा है जो इन लीलाओं को कवि-कल्पना-प्रसूत माने बिना उलझन को सुलझने नहीं देता।

ग्रियर्सन, कैनेडी, वैवर आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन लीलाओं से सम्बन्धित कृष्ण क्राइस्ट का रूपान्तर है। ग्रियर्सन के अनुसार ईसाइयों का एक दल ईसा की दूसरी शताब्दि में सीरिया से चलकर मद्रास प्रान्त के दक्षिण में आवाद हो गया था। इस दल के ईसाइयों ने अपनी अनेक बातें छोड़ दी थीं और हिन्दुओं की प्रथा के अनुसार सेंट थामस पर्वत पर मंदिर बनाकर ये ईसा की पूजा करने लगे थे। ईसाइयों के इस भक्ति-भाव-भरित वायुमण्डल का दक्षिण के हिन्दुओं पर प्रभाव पड़ा और उसका प्रतिफलन दक्षिण की वैष्णव आड्‌यार शाखा में सर्व प्रथम दिखाई दिया। आड्‌यार शाखा के प्राथमिक आचार्य शठकोप, यवनाचार्य अथवा यमुनाचार्य आदि निम्नवर्ग के व्यक्ति थे। अतः उच्चवर्गीय हिन्दुओं में यह प्रभाव आरम्भ में दिखाई नहीं दिया। जब ब्राह्मण वंश में उत्पन्न आचार्य रामानुज ने यवनाचार्य से दीक्षा ली और यह भक्तिपूर्ण धर्म स्वीकार कर लिया, तो उच्चस्तर के व्यक्ति भी इस धर्म के अनुयायी बन गये। कृष्ण का बंगाली उच्चारण क्रिस्टो हो ही जाता है। अतः क्राइस्ट का क्रिस्टो और क्रिस्टो का कृष्ण यह शब्द का रूपान्तर मात्र है। कुछ विद्वान वैष्णव धर्म से सम्बन्धित शेषनाग, शंख, चक्र आदि को भी आर्य जाति का नहीं मानते। इनके मतानुसार इन नामों का प्रवेश भी आर्य जाति में बाहर से हुआ है। ग्रियर्सन इस बात पर भी बल देते हैं कि वैष्णवों की दास्य-भक्ति, प्रसाद और पूतना-स्तन-पान ईसाइयत की देन है। पूतना बाइबिल की वर्जिन है। प्रसाद लवफीस्ट है। और दास्य-भक्ति पाप-पीड़ित मानवता का रुदन है। इन संकेतों से पाश्चात्य विद्वान कृष्ण को क्राइस्ट का ही अपर नाम मानते हैं। इनमें से कई संकेतों का खंडन पश्चिम के ही एक विद्वान डाक्टर ए० बी० कीथ द्वारा हो चुका है। और फिर जो बात पाश्चात्य विद्वान कहते हैं, क्या वही लौटकर उनसे नहीं कही जा सकती ? कृष्ण ही क्राइस्ट का रूपान्तर क्यों है, क्राइस्ट कृष्ण का रूपान्तर क्यों नहीं ? कृष्ण का अस्तित्व हम उपनिषद तथा ब्राह्मण काल तक दिखा आये हैं। एतद्देशीय विद्वद्वर्ग ही नहीं, पाश्चात्य विद्वान भी ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण काल ईसा से कई सौ वर्ष पहले निश्चित करते हैं, जब क्राइस्ट तो क्या, उसकी नानी का भी जन्म नहीं हुआ था। तो क्या पश्चिमी विद्वान मानेंगे कि क्राइस्ट नाम का कोई व्यक्ति नहीं

हुआ और भारत के कृष्ण की कथा ही वहाँ क्राइस्ट संत के नाम से प्रचलित हो गई? 'बाइबिल इन इंडिया' का फ्रांसीसी लेखक जैकालियट तो ऐसा ही कहता है।

पर अभी उलझन सुलझी नहीं। कृष्ण क्राइस्ट का रूपान्तर नहीं है, ठीक है, पर गोपियों की लीला क्या है? मूल महाभारत के निर्माण काल तक गोपियों की कथा प्रचलित नहीं हुई थी। फिर यह कहाँ से आ गई? अनेक पश्चिमी विद्वानों और एतद्देशीय स्व० डा० भण्डारकरके मतानुसार गोपी शब्द उस आभीर जाति से सम्बन्ध रखता है, जो सीरिया से चलकर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ईसवी सन् के पूर्व आकर बस गई थी। यही जाति सिन्ध होती हुई दक्षिण में पहुँची। परन्तु यह भी एक दुरूह कल्पना है। इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णु पुराण में आभीर वंश का उल्लेख है। वायु पुराण में आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओं ने शक और कुशनों के पूर्व दश पीढ़ियों तक सिन्ध में राज्य किया था। सिन्ध से वे उत्तर की ओर आये और मधुपुर से लेकर आनर्त तक का समस्त प्रान्त इनके अधिकार में आ गया। सम्भव है, आभीर क्षत्रियों में बाल गोपाल की पूजा प्रचलित रही हो, परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वे बाहर से आये? एक विद्वान ने आभीर शब्द को द्रविड़ भाषा का शब्द बतलाया है जिसका अर्थ गोपाल होता है। भागवत के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के पंचम अध्याय, श्लोक २० और २३ में वसुदेव आभीराधिपति नन्द को अपना भाई कहते हैं। श्रीकृष्ण नन्दजी को मथुरा से विदा करते हुए और सन्देश भेजते हुए, उपनन्द, वृषभान आदि को अपना ज्ञातीन्[1] अर्थात् सजातीय कहते हैं। आभीर स्वयं अपने आपको यदुवंशी आहुक की सन्तति मानते हैं।[2] महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ट सम्बन्ध दिखलाया गया है और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना मुख्यतः आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित हुई थी और युद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी। अतः पश्चिमी विद्वानों की यह कल्पना भी कि

१—भागवत दशम स्कन्ध। ४५।२३ (कल्याण भक्त चरितांक, संवत् २००८, के पृष्ठ १७६ पर नन्द को वृष्णि वंशी राजा देवमीढ़ के वंश में उत्पन्न हुआ लिखा है।)

२—'आहुक वंशात् समुद्भूता आभीरा इति प्रकीर्तिता।'—यदुकुल प्रकाश

आभीर बाहर से आये, यदि निराधार नहीं, तो एकदम असंदिग्ध भी नहीं कही जा सकती।[1]

यदि कृष्ण की कथा, गोपियों की लीला, बाहर से इस देश में आई होती तो ईसवी सन् के पूर्व लिखे हुए भारतीय ग्रन्थों में वह काव्य का विषय नहीं बन सकती थी। काव्य का विषय बनने के लिये कथा का जनसाधारण में कई शताब्द पूर्व से प्रचलित होना आवश्यक है।[2] गाथा सप्तशती प्राकृत भाषा का काव्य है और वह उसी की अन्तःसाक्षियों के आधार पर शालिवाहन हाल द्वारा ईसा से पूर्व प्रथम शतक में संग्रहीत माना गया है। उसमें राधा-कृष्ण की लीला कैसे आ गई।[3] महाकवि भास-रचित बालचरित्, दूत वाक्य तथा दूत घटोत्कच नाटकों में वर्णित कृष्ण का चरित्र कहाँ से कूद पड़ा? उनके बालचरित नाटक में तो पूतना, शकट, कालियदमन आदि तथा माखनचोरी जैसी बाललीलाओं के पूर्ण संकेत हैं। विद्वद्वर जायसवाल के मतानुसार भास ईसा से पूर्व कण्व वंशी नारायण राजा के सभा-कवि थे। अतः हमारी सम्मति में गोपी वल्लभ कृष्ण की लीला का स्रोत भारत से बाहर ढूँढ़ना व्यर्थ है।

१—आभीर तो बाहर से नहीं आये, पर कुछ सीथियन अवश्य बाहर से आकर इस देश में बस गये थे। सम्भव है, भागवत धर्म स्वीकार करके इन्होंने अपने आपको यहाँ की पूर्व निवासिनी आभीर जाति में मिला दिया हो। बेस नगर के एक शिलालेख में ग्रीक राजदूत हेलियोडोरस को भागवत धर्म का अनुयायी कहा गया है जो ईसा से दो शताब्द पूर्व आकर इसी देश का निवासी बन गया था। उन दिनों ऐसे अनेक व्यक्ति एवं वर्ग बाहर से आकर इस देश में बस गये थे और अपने को इसी देश की जातियों में सम्मिलित कर चुके थे। भविष्य पुराण में लिखा है कि कण्व ऋषि मिश्र देश के १० सहस्र निवासियों को भारत लाये और उन्हें क्षत्रियादि वर्णों में सम्मिलित कर दिया।

२—एक कल्पना ऐसी भी की जा सकती है कि ईसा से कई शताब्द पूर्व ही यह कथा बाह्य संपर्क या प्रभाव से इस देश में आ गई हो; पर अभी तक इसके लिये कोई दृढ़ प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है।

३—मुह मारुएण तं कण्ह गोरुअ राहिआएं अवणेन्तो।
एताणं वल्लवीणं अण्णाणवि गोरअं हरसि ॥१। ८६।
संस्कृत अनुवाद—मुख मारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकायाःअपनयन्।
एतामां वल्लवीनामन्यासामपि गौरव हरसि ॥

बहुत दिनों तक चलती रही, परन्तु बाद में उसमें व्यतिक्रम उत्पन्न हुआ। निरुक्त १।६।५ में इसका विशद वर्णन उपलब्ध होता है:—

साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात् कृत धर्मेभ्यः उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म-ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं वेदांगानि च।

अर्थात् ऋषियों को वेद-धर्म साक्षात्कृत, नितान्त स्पष्ट था। जिनको स्पष्ट नहीं था, उनको उपदेश के द्वारा वेद-धर्म का ज्ञान कराया गया। जब उपदेश द्वारा भी जनता उसे न समझ सकी, तो वेदांगों का निर्माण किया गया। वेदांगों के साथ वैदिक वाङ्मय विस्तृत हुआ। प्रभु की वाणी के साथ ऋषियों की पवित्र वाणी भी मनुष्यों की जिह्वा पर खेलने लगी। यहीं से साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ।

निरुक्त के निर्माण काल में ही वेदार्थ के कई सम्प्रदाय चल पड़े थे जिनमें नैरुक्तिक, याज्ञिक और ऐतिहासिक सम्प्रदाय प्रधान हैं। ऐतिहासिक सम्प्रदाय का भी कार्य वेद की व्याख्या करना ही था। महाभारत में लिखा है: 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'—अर्थात् इतिहास और पुराण वेद का ही उपबृंहण, वृद्धि अथवा व्याख्या करने वाले हैं। ऐतिहासिकों को सूत, वंश-वित्तम, पुराकल्पवेत्ता, पौराणिक और आथर्वण कहा गया है। महाभारत आश्व-मेधिक पर्व में लिखा है:—

इतिहासं पुराणं च गाथाश्चोपनिपत्तथा।
आथर्वणानि कर्माणि चाग्निहोत्र कृते कृतम्॥

इसी पर्व में अन्यत्र लिखा है:—

अत्र गाथा कीर्तयन्ति पुराकल्प विदो जनाः।३२।४

इसी प्रकार न्यायदर्शन के भाष्यकार महामुनि वात्स्यायन न्यायसूत्र ४।१।६२ की व्याख्या में लिखते हैं:—

ते वा खलु एते अथर्वांगिरसः एतत् इतिहास पुराणमभ्यवदन्। य एव मंत्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहास पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति॥

इन ऐतिहासिकों का कार्य प्राचीन इतिहास, गाथा आदि की रक्षा के साथ वेद की व्याख्या करना भी था। वैदिक अलंकारों को, जिनका समझना साधारण जनता के लिए दुरूह था, ये सूत गाथाओं द्वारा समझाया करते थे। श्रीमद्भागवत १।४।२८ में लिखा है:— 'भारतव्यपदेशेन

साम्नायार्थश्च दर्शितः' अर्थात् महाभारत में इतिहास के बहाने वेदों के रहस्य को ही खोलकर समझाया गया है। पुरूरवा, उर्वशी, त्रिशंकु, नहुष, इन्द्र, वृत्र, गौतम, अहल्या आदि की कथायें वैदिक अलंकारों के आधार पर ही निर्मित हुई हैं। साहित्य की यह एक विशेष दिशा है। इससे जनता का मनोरंजन भी होता है और उसे शिक्षा भी प्राप्त होती है। आजकल भी उपन्यास, नाटक, काव्यादि का निर्माण इसी प्राचीन प्रणाली के आधार पर होता है।

एक बात और थी। जब कभी दूसरों के मुकाबिले अपने धर्म में किसी बात की न्यूनता दिखाई देती, अथवा दूसरों की कोई बात मानवता की हितसाधिका जान पड़ती, तो झट उसकी पूर्ति अखिल ज्ञान के भंडार वेदों से कर ली जाती थी, और उस मानव-कल्याणकारिणी बात को वेद के नाम से ही अपना लिया जाता था। महर्षि दयानन्द ने तो आजकल के रेल, तार, वायुयान आदि सभी नवीन आविष्कारों को वेद से सिद्ध कर दिया है। सूतों का भी यही काम था।

इस प्रकार वेद में जो राधा, विष्णु, कृष्ण आदि शब्द आये हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं पदार्थों के नाम वेद के शब्दों को देखकर रक्खे गये हैं।[1] वेद के शब्द पहले हैं, ऐतिहासिक व्यक्ति बाद में हुये हैं।

आर्य जाति को अवतारों की आवश्यकता पड़ी, तो विष्णु, वामन, राम आदि वेद के शब्दों को लेकर उन पर काव्योचित कल्पना का आवरण चढ़ा दिया गया और अवतार तैयार हो गये। वे भी मनोरंजन के लिए नहीं, विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अपने व्यक्तित्व से मानवता का कल्याण करने के लिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन नामों से सम्बद्ध इतिहास सबका सब कल्पित है। राम, कृष्ण, परशुराम, व्यास आदि व्यक्ति शुद्ध रूप से ऐतिहासिक हैं। इनमें केवल अवतार-भाव कवि-कल्पना-प्रसूत है। राधा, कृष्ण और गोप शब्दों का भी ऐसा ही इतिहास है। विष्णु शब्द का वेद के अन्दर अर्थ था सर्वव्यापक ईश्वर। जब अवतार की कल्पना हुई, तो ब्राह्मण ग्रन्थों[2] और उपनिषदों में वर्णित नारायण का कृष्ण रूप में अवतार प्रदर्शित

१—सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु० १।२१

२—शतपथ ब्राह्मण १२।३।४ तथा तैत्तिरीय आरण्यक १०।११

किया गया और नारायण तथा विष्णु को भी एक में मिलाया गया।[1] कृष्ण वसुदेव के पुत्र होने के कारण वासुदेव कहलाते ही थे। अतः वासुदेव, कृष्ण, नारायण और विष्णु[2] चारों शब्दों का एक में समाहार कर दिया गया। जो कृष्ण महाभारत में वेदवेदांगवेत्ता और राजनीति-निपुण योद्धा के रूप में चित्रित किये गये हैं, छांदोग्य उपनिषद् में जो घोर आंगिरस ऋषि से अध्यात्म विद्या सीखते हैं, वे ही प्रथम सात्वत धर्म के उपदेष्टा एवं गुरु बनते हैं और बाद में भगवान का अवतार ही नहीं, साक्षात् ईश्वर या परब्रह्म कहलाते हैं।

भक्ति के द्वितीय उत्थान काल तक यही बात रहती है। भक्ति के तृतीय एवं चतुर्थ उत्थान के समय परिवर्तन होता है। वेद के गोपा और व्रज शब्दों को लेकर गोपलीला प्रारम्भ होती है। सूतों की कवि-कल्पना इस गोपलीला का कृष्ण के बाल-जीवन से सम्बन्ध स्थापित करती है। गोपलीला अध्यात्म पक्ष में मानव की चित्तरंजिनी वृत्ति का नाम है। कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला करना इसी चित्तरंजिनी वृत्ति का विकास रूप परिणाम है।

१—श्रीमद्भागवत में और महाभारत आदि पर्व अध्याय २२० श्लोक ५ में नारायण एक ऋषि का नाम आता है, जो द्वापर के अन्त में कृष्ण रूप में प्रकट हुए। इन्हीं नारायण को यज्ञपुरुष भी कहा गया है। यज्ञ का दूसरा नाम विष्णु है—"यज्ञो वै विष्णुः"।

२—ब्रह्मपुराण के अध्याय ७० में इन शब्दों का समाहार इस प्रकार प्रकट किया गया है :—

विष्णुत्वं श्रूयते यस्य हरित्वं च कृते युगे ॥७०॥
वैकुंठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च ॥७१॥
नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवोऽव्यय एव च ॥७२॥

इस सम्बन्ध में भास-रचित बालचरित का यह प्रारम्भिक श्लोक भी ध्यान देने योग्य है:—

शंखक्षीर वपुः पुरा कृतयुगे नाम्ना तु नारायणः।
त्रेतायां त्रिपदार्पित त्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः।
दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे।
नित्यं योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः।

इसमें विभिन्न नामों के समाहार के साथ उनके रंग-विकास का क्रम भी वर्णित हुआ है, यद्यपि सम्बन्धित युगों के क्रम में थोड़ा-सा अन्तर है।

किया गया और नारायण तथा विष्णु को भी एक में मिलाया गया।[1] कृष्ण वसुदेव के पुत्र होने के कारण वासुदेव कहलाते ही थे। अतः वासुदेव, कृष्ण, नारायण और विष्णु[2] चारों शब्दों का एक में समाहार कर दिया गया। जो कृष्ण महाभारत में वेदवेदांगवेत्ता और राजनीति-निपुण योद्धा के रूप में चित्रित किये गये हैं, छांदोग्य उपनिषद् में जो घोर आंगिरस ऋषि से अध्यात्म विद्या सीखते हैं, वे ही प्रथम सात्वत धर्म के उपदेष्टा एवं गुरु बनते हैं और बाद में भगवान का अवतार ही नहीं, साक्षात् ईश्वर या परब्रह्म कहलाते हैं।

भक्ति के द्वितीय उत्थान काल तक यही बात रहती है। भक्ति के तृतीय एवं चतुर्थ उत्थान के समय परिवर्तन होता है। वेद के गोपा और व्रज शब्दों को लेकर गोपलीला प्रारम्भ होती है। सूतों की कवि-कल्पना इस गोपलीला का कृष्ण के बाल-जीवन से सम्बन्ध स्थापित करती है। गोपलीला अध्यात्म पक्ष में मानव की चित्तरंजिनी वृत्ति का नाम है। कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला करना इसी चित्तरंजिनी वृत्ति का विकास रूप परिणाम है।

१—श्रीमद्भागवत में और महाभारत आदि पर्व अध्याय २२०, श्लोक ५ में नारायण एक ऋषि का नाम आता है, जो द्वापर के अन्त में कृष्ण रूप में प्रकट हुए। इन्हीं नारायण को यज्ञपुरुष भी कहा गया है। यज्ञ का दूसरा नाम विष्णु है—"यज्ञो वै विष्णुः"।

२—ब्रह्मपुराण के अध्याय ७० में इन शब्दों का समाहार इस प्रकार प्रकट किया गया है :—

विष्णुत्वं श्रूयते यस्य हरित्वं च कृते युगे ॥७०॥
वैकुण्ठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च ॥७१॥
नारायणो ह्यनन्तात्मा प्रभवोऽव्यय एव च ॥७२॥

इस सम्बन्ध में भास-रचित बालचरित का यह प्रारम्भिक श्लोक भी ध्यान देने योग्य है:—

शंखक्षीरवपुः पुरा कृतयुगे नाम्ना तु नारायणः।
त्रेतायां त्रिपदार्पितं त्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः।
दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे।
नित्यं योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः।

इसमें विभिन्न नामों के समाहार के साथ उनके रंग-विकास का क्रम भी वर्णित हुआ है, यद्यपि सम्बन्धित युगों के क्रम में थोड़ा-सा अन्तर है।

में अवश्य राधा का नाम आया है, परन्तु वह अपने वर्तमान रूप में पाँचवीं शताब्दी से पहले की रचना नहीं है। भागवत के दशम स्कंध के तीसवें अध्याय में एक ऐसी गोपी का उल्लेख अवश्य है जो कृष्ण को सर्वाधिक प्यारी थी।[1] इसका वर्णन भागवत में इस प्रकार है: रासलीला के बीच गोपियों का गर्व दूर करने के लिए जब कृष्ण अन्तर्धान हो गए तो गोपियाँ वृन्दावन के वृक्ष और लता आदि से श्रीकृष्ण का पता पूछने लगीं। इसी समय उन्होंने एक स्थान पर भगवान के चरण-चिन्ह देखे। वे आपस में कहने लगीं, अवश्य ही ये चरण-चिन्ह नन्दनन्दन श्यामसुन्दर के हैं, क्योंकि इनमें ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश और जौ आदि के चिन्ह स्पष्ट ही दीख रहे हैं। उन चरण-चिन्हों के द्वारा व्रज-वल्लभ भगवान को ढूँढ़ती हुई गोपियाँ आगे बढ़ीं। तब उन्हें श्रीकृष्ण के साथ किसी व्रज-युवती के भी चरण-चिन्ह दीख पड़े, जिन्हें देखकर वे व्याकुल हो गईं और आपस में कहने लगीं, 'जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराज के साथ गई हो, वैसे ही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर के साथ उनके कंधे पर हाथ रखकर चलने वाली किस बड़भागिनी के ये चरण-चिन्ह हैं?'[2] फिर लिखा है.—

> अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
> यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥२८॥

अर्थात् अवश्य ही सर्वशक्तिमान भगवान श्रीकृष्ण की इसने आराधना की है। तभी तो हमें छोड़ कर वे प्रसन्न हो इसे एकान्त में ले गए हैं।

भागवत के इस उद्धरण से यह तो प्रतीत होता है कि यह गोपी कृष्ण को उनकी आराधना करने के कारण बहुत प्यारी थी, परन्तु भागवतकार इसका नाम राधा नहीं बताता। सम्भव है, बाद में किसी कवि ने 'आराधितः' शब्द से राधा की कल्पना कर ली हो।[3] राधा शब्द ग्राम्य-गीतों में भागवत-निर्माण से पूर्व ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था, जैसा हम पीछे गाथा सप्तशती

१—अथर्ववेद की गोपालतापनी उपनिषद् में भी एक प्रधान गोपी की कथा है, जिसे कृष्ण अधिक प्यार करते थे, पर इसका नाम वहाँ गांधर्वी दिया हुआ है।

२—कल्याण के भागवतांक से उद्धृत।

३—बृहद् ब्रह्म संहिता, द्वितीयपाद, चतुर्थ अध्याय, श्लोक १७४ में राधा शब्द की यही व्युत्पत्ति दी है:—

> त्वया चाऽऽराधितो यस्मा दह कुञ्ज-महोत्सवे।
> राधेति नाम विख्याता सर्वलीला विधायिका॥

पूजा इसी शक्ति का प्रतीक मानी जाती है। शाक्त मत का यह प्रभाव पूर्व तथा उत्तराखंड में सर्वत्र फैल गया था। संभव है, इसी शक्ति के अनुकरण पर राधा का निर्माण हुआ हो।

भांडारकर कहते हैं कि राधा सीरिया से आये आभीरों की इष्ट देवी है। अभीरों के यहाँ बस जाने पर उनके बाल-गोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये और कुछ शताब्दियों के पश्चात अभीरों की इष्ट देवी राधा भी आर्य जाति में स्वीकार कर ली गई। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में हमें बाल गोपाल की लीला तो मिलती है, पर राधा का नाम नहीं मिलता। इस कल्पना के एक अंश का खंडन हम पीछे कर चुके हैं। कल्पना के अवशिष्ट अंश के सम्बन्ध में हमें विशेष आपत्ति नहीं है।

यह निश्चित है कि पाँचवें शताब्द तक राधा के स्वरूप की प्रतिष्ठा आर्य जाति में हो चुकी थी, क्योंकि पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् जो संस्कृत साहित्य निर्मित हुआ, उसमें राधा का उल्लेख कई स्थानों पर है। पाँचवीं या छठी शताब्दी में निर्मित देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को पुरातत्ववेत्ताओं ने राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की मूर्ति बताया है।[1] धारा के अमोघ वर्ष के ९८०, ई० के शिलालेख में राधा कृष्ण की प्रिया के रूप में वर्णित है।[2] मालवाधिपति मुंज के ९७४ और ९७९ ई० के ताम्रपत्रों में राधा-सम्बन्धी मंगलाचरण का यह श्लोक है:—

> यल्लक्ष्मीवदनेन्दुना न सुखितं, यन्नाद्रितं वारिधेः।
> वारा यन्न निजेन नाभि सरसी पद्मेन शान्तिं गतम्॥
> यच्छेषाहिफणा सहस्र मधुर श्वासैर्न चाश्वासितम्।
> तद्राधा विरहातुरं मुररिपोर्वेल्लद्वपुः पातु वः॥
>
> प्राचीन लेखमाला प्रथम भाग सं. १

धनंजय के दश रूपक के चतुर्थ परिच्छेद में [3], भोज के सरस्वती कंठाभरण में, [4] क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित में (देखो काव्यमाला पृष्ठ ८२, ८३,

---

१—गंगा पुरातत्त्वांक, पहाड़पुर की खुदाई, के० एन० दीक्षित।

२—के० एम० मुंशी—'गुजरात और उसका साहित्य,' पृष्ठ १२६

३—हेमान्तिकमिदं तवाद्य कथितं गंधे मुधा ताम्यसि।

४—गर्भाद्राः मुनिरं क्रान्ति गगने वन्याकर भ्रान्तयः।

काव्यमाला, पृष्ठ ७२८

१०) और आनन्दवर्धन[२] के ध्वन्यालोक में भी राधा का उल्लेख है। पर राधा को दार्शनिक रूप में उपस्थित करने वाले सर्वप्रथम आचार्य निम्बार्क ही प्रतीत होते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराणकार ने तो राधा की स्थापना उच्चतम रूप में कर दी है। अनेक विद्वानों के मतानुसार यह पुराण अपने वर्तमान रूप में बहुत अर्वाचीन है। इस पुराण में प्राप्त शुण्ड, गोप, ओझा, वैद्य, नगार, प्रधानी आदि शब्द बंगाल में प्रचलित जातियों के नाम हैं। बंगीय वैष्णव भक्तों पर भी इस पुराण की राधा-कृष्ण-संबंधी पूजा का सर्व प्रथम अधिक प्रभाव पड़ा। अतः ब्रह्मवैवर्त अपने वर्तमान रूप में किसी बंगाली पंडित का रचा हुआ जान पड़ता है। इसका प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं है।

इस पुराण ने भक्ति के स्वरूप को ही बदल दिया।[१] राधा-चरित की पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय भी इसी पुराण को देना पड़ेगा। बंगीय वैष्णव धर्म को इसने माधुर्य-प्रधान बना दिया और समस्त बंगाल राधाकृष्ण की केलि-कल्लोलों में अवगाहन करने लगा। जयदेव ने इसी नूतन वैष्णव धर्म का अवलम्बन करके गीतगोविन्द की रचना की। गीतगोविन्द के पश्चात् बंगला, बिहारी, हिन्दी आदि भाषाओं में इस प्रकार की रचनाओं की बाढ़-सी आ गई। महात्मा चैतन्य देव ने धर्म की इसी अभिनव धारा का आश्रय लेकर मधुर-रस-पूर्ण रागानुगा भक्ति का प्रचार किया।

इस नूतन धर्म का मूल बीज सांख्यशास्त्र के पुरुष-प्रकृतिवाद में था, जो शिव शक्ति के रूप में तन्त्रमत में स्वीकृत हुआ। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का साधना-पथ भी इसी तन्त्रमत की शक्ति को ध्येय मानकर अग्रसर हुआ। शक्तिवाद ने विद्वत्सम्प्रदाय एवं साधारण जनता दोनों को अधिक आकर्षित किया। वैष्णवों का विशिष्टाद्वैतवाद इस शक्तिवाद के सामने बंगीय भक्तों को संतुष्ट न कर सका। संभवतः इसी कारण उनकी मनस्तुष्टि के लिए ब्रह्मवैवर्तकार ने वैष्णव धर्म में शक्तिवाद का समावेश कर दिया।

अतः हमारी सम्मति में इस नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूल रूप में सांख्य की प्रकृति ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड, अध्याय १५ में लिखा है:—

१—तेषां गोपवधू विलास सुहृदो राधारहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्द राज तनया तीरे लता वेश्मनाम्॥

२—पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७०, श्लोक ४ में भी राधिका को कृष्ण वल्लभा कहा गया है। इस पुराण में राधा कृष्ण का शृंगारी वैभव भी कम नहीं है।

पूजा इसी शक्ति का प्रतीक मानी जाती है। शाक्त मत का यह प्रभाव पूर्व तथा उत्तराखंड में सर्वत्र फैल गया था। संभव है, इसी शक्ति के अनुकरण पर राधा का निर्माण हुआ हो।

भांडारकर कहते हैं कि राधा सीरिया से आये आभीरों की इष्ट देवी है। अभीरों के यहाँ बस जाने पर उनके बाल-गोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये और कुछ शताब्दियों के पश्चात अभीरों की इष्ट देवी राधा भी आर्य जाति में स्वीकार कर ली गई। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में हमें बाल गोपाल की लीला तो मिलती है, पर राधा का नाम नहीं मिलता। इस कल्पना के एक अंश का खंडन हम पीछे कर चुके हैं। कल्पना के अवशिष्ट अंश के सम्बन्ध में हमें विशेष आपत्ति नहीं है।

यह निश्चित है कि पाँचवें शताब्द तक राधा के स्वरूप की प्रतिष्ठा आर्य जाति में हो चुकी थी, क्योंकि पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् जो संस्कृत साहित्य निर्मित हुआ, उसमें राधा का उल्लेख कई स्थानों पर है। पाँचवीं या छठी शताब्दी में निर्मित देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को पुरातत्ववेत्ताओं ने राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की मूर्ति बताया है।[1] धारा के अमोघ वर्ष के ६८० ई० के शिलालेख में राधा कृष्ण की प्रिया के रूप में वर्णित है।[2] मालवाधिपति मुंज के ६७४ और ६७६ ई० के ताम्रपत्रों में राधा-सम्बन्धी मंगलाचरण का यह श्लोक है:—

> यल्लक्ष्मीवदनेन्दुना न सुखितं, यन्नाद्रितं वारिधेः।
> वारा यन्न निजेन नाभि सरसी पद्मेन शान्तिं गतम्॥
> यच्छेषाहिफणा सहस्र मधुर श्वासैर्न चाश्वासितम्।
> तद्राधा विरहातुरं मुररिपोर्वेल्लद्वपुः पातु वः॥
>
> प्राचीन लेखमाला प्रथम भाग सं १

धनंजय के दश रूपक के चतुर्थ परिच्छेद में [3], भोज के सरस्वती कंठाभरण में, [4] क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित में (देखो काव्यमाला पृष्ठ ८२, ८३,

---

१—गंगा पुरातत्वांक, पहाड़पुर की खुदाई, के० एन० दीक्षित।

२—के० एम० मुंशी—'गुजरात और उसका साहित्य,' पृष्ठ १२६

३—स्मेराधिकमिदं नयाय कथितं गये मुधा तास्यसि। [illegible]

४—[illegible]: [illegible] क्रान्ति गगने वन्याकर भ्रान्तयः।

काव्यमाला, पृष्ठ ७२८

६०) और आनन्दवर्धन [1] के ध्वन्यालोक में भी राधा का उल्लेख है। पर राधा को दार्शनिक रूप में उपस्थित करने वाले सर्व प्रथम आचार्य निम्बार्क ही प्रतीत होते हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराणकार ने तो राधा की स्थापना उनके समग्र रूप में कर दी है।[2] अनेक विद्वानों के मतानुसार यह पुराण अपने वर्तमान रूप में बहुत अर्वाचीन है। इस पुराण में आए हुए मोदक, जोला, वैद्य, गणक, अग्रदानी आदि शब्द बंगाल में प्रचलित जातियों के नाम हैं। बंगीय वैष्णव भक्तों पर ही इस पुराण की राधा-कृष्ण-संबंधी पूजा का सर्व प्रथम अधिक प्रभाव पड़ा। अतः ब्रह्मवैवर्त अपने वर्तमान रूप में किसी बंगाली पंडित का रचा हुआ जान पड़ता है। इसका प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं है।

इस पुराण ने भक्ति के स्वरूप को ही बदल दिया। राधा-चरित्र की पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय भी इसी पुराण को देना पड़ेगा। बंगीय वैष्णव धर्म को इसने माधुर्य-प्रधान बना दिया और समस्त बंगाल राधाकृष्ण की केलि-कल्लोलों में अवगाहन करने लगा। जयदेव ने इसी नूतन वैष्णव धर्म का अवलम्बन करके गीतगोविन्द की रचना की। गीतगोविन्द के पश्चात् बंगला, विहारी, हिन्दी आदि भाषाओं में इस प्रकार की रचनाओं की बाढ़-सी आ गई। महात्मा चैतन्य देव ने धर्म की इसी अभिनव धारा का आश्रय लेकर मधुर-रस-पूर्ण रागानुगा भक्ति का प्रचार किया।

इस नूतन धर्म का मूल बीज सांख्यशास्त्र के पुरुष-प्रकृतिवाद में था, जो शिव शक्ति के रूप में तन्त्रमत में स्वीकृत हुआ। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा का साधना-पथ भी इसी तन्त्रमत की शक्ति को ध्येय मानकर अग्रसर हुआ। शक्तिवाद ने विद्वत्सम्प्रदाय एवं साधारण जनता दोनों को अधिक आकर्षित किया। वैष्णवों का विशिष्टाद्वैतवाद इस शक्तिवाद के सामने बंगीय भक्तों को संतुष्ट न कर सका। संभवतः इसी कारण उनकी मनस्तुष्टि के लिए ब्रह्मवैवर्तकार ने वैष्णव धर्म में शक्तिवाद का समावेश कर दिया।

अतः हमारी सम्मति में इस नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूल रूप में सांख्य की प्रकृति ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्म खण्ड, अध्याय १५ में लिखा है:—

१—तेषां गोपवधू विलास सुहृदो राधारहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्द राज तनया तीरे लता वेश्मनाम्॥

२—पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७०, श्लोक ४ में भी राधिका को कृष्ण वल्लभा कहा गया है। इस पुराण में—राधा कृष्ण का शृंगारी वैभव भी कम नहीं है।

ममार्द्धांश स्वरूपा त्वं मूल प्रकृतिरीश्वरी । ६६।

तथा

यथा त्वंच तथाऽहञ्च भेदोहि नावयोर्ध्रुवम् ।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सती ॥५८॥
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि सन्ततम् ॥५९॥
विना मृदा घटं कर्त्तुं विना स्वर्णेन कुंडलम् ।
कुलालःस्वर्णकारश्च न हि शक्तःकदाचन ॥६०॥
तथा त्वया विना सृष्टिं न च कर्त्तुमहं क्षमः ।
सृष्टेराधार भूता त्वं बीजरूपोऽहमच्युतः ॥६१॥

इन श्लोकों में कृष्ण स्पष्ट रूप से राधा को अपना अर्द्धांश और मूल प्रकृति कहते हैं । आगे लिखा है कि कृष्ण और राधा दोनों में कोई भेद नहीं है । जैसे दूध में धवलता है, अग्नि में दाहकता है, पृथ्वी में गन्ध है, उसी प्रकार कृष्ण अपनी मूल प्रकृति राधा में रहते हैं । इसके पश्चात् लिखा है कि जैसे कुम्भकार मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बना सकता, स्वर्णकार सोने के बिना कुण्डल नहीं बना सकता, वैसे ही कृष्ण राधा के बिना सृष्टि की रचना नहीं कर सकते । राधा सृष्टि का आधार है और कृष्ण अविनश्वर बीज रूप हैं ।

महात्मा सूरदास ने भी राधा और कृष्ण में अभेद की स्थापना की है । सूरसागर की नीचे लिखी पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में विचारणीय हैं:—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु, बातनि भेद करायौ ।

तथा

गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाहीं, ये कहुँ नैंक न न्यारे ॥

जैसे ब्रह्मवैवर्तकार ने राधा को प्रकृति कहा है; वैसे ही विष्णु पुराणकार ने श्री को नित्य जगन्माता प्रकृति माना है । जैसे ब्रह्मवैवर्तकार राधा और कृष्ण में कोई भेद नहीं मानता, उसी प्रकार विष्णुपुराणकार भी श्री और विष्णु दोनों को एक कहता है । जो सम्बन्ध अर्थ और वाणी में है, धर्म और क्रिया में है, बोध और बुद्धि में है, काम और इच्छा में है, यज्ञ और दक्षिणा में है, नय और नीति में है, अग्नि और स्वाहा में है, सूर्य और प्रभा में है, चन्द्र और ज्योत्स्ना में है, वही सम्बन्ध विष्णु और श्री में है ।[1]

१— विष्णु पुराण, प्रथम अंश, अध्याय ८, श्लोक १६-२१

हमारी समझ में वेदान्त के मायावाद के मूल में भी यही प्रकृतिवाद है, जो बाद में शक्तिवाद के रूप में स्वीकार हुआ। यही शक्ति श्री और राधा है। सांख्य के प्रकृति-पुरुषवाद को ब्रह्मवैवर्तकार नीचे लिखे श्लोक में स्पष्टतः स्वीकार करता है:—

यथा त्वञ्च तथाऽहं च समौ प्रकृति पूरुषौ।
न हि सृष्टिर्भवेद्देवि द्वयोरेकतरं विना ॥२५॥

श्रीकृष्ण जन्मखंड, अध्याय ६७

जैसे सांख्यकार प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से सृष्टि-रचना मानता है, पंगु-अन्ध न्यायवत दोनों को एक दूसरे का पूरक समझता है, उसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त में राधा और कृष्ण को समान कहा गया है। दोनों में से एक के भी बिना सृष्टि-रचना सम्भव नहीं है।

सांख्य के प्रकृति और पुरुष भिन्न-भिन्न हैं। पर शक्तिवाद में शिव और शक्ति, आत्मा और आत्मा की प्रकृति भिन्न-भिन्न नहीं माने जाते। ब्रह्मवैवर्तकार ने इन दोनों मतों का सामंजस्य कर दिया है। राधा और कृष्ण, उसके मतानुसार, भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं।

ब्रह्मवैवर्तकार ने राधा शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं। एक व्युत्पत्ति में रास से रा और धा धातु के धा[1] को लेकर राधा शब्द की सिद्धि की गई है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार रा को दान वाचक और धा को निर्वाण वाचक मानकर राधा को निर्वाण-प्रदात्री कहा गया है।[2] ब्रह्मवैवर्त में राधा और कृष्ण का विवाह भी वर्णित है।

इसी ब्रह्मवैवर्त के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड अध्याय १५ के प्रथम ७ श्लोकों की कथा के आधार पर गीतगोविन्द का यह प्रथम श्लोक बना है:—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमैः।
नक्तं भीरु रयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय॥
इत्थं नन्द निदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्व कुञ्जद्रुमम्।
राधा माधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहःकेलयः॥

गीतगोविन्द में राधा का नूपुर-शिंजन रुनझुन करने लगा है।

१—रासे संभूय गोलोके सा दधाव हरेः पुरः।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिःद्विजोत्तम। ब्रह्मखण्ड, अ० ५, २६।

२—राधेत्येवं च संसिद्धा राकारो दानवाचकः।
धा निर्वाणञ्च तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्तिता॥
श्रीकृष्ण जन्मखण्ड, अध्याय १७, श्लोक २२३।

ऊपर जिस प्रकृति-पुरुषवाद, शिव-शक्तिवाद या माया-ब्रह्मवाद की एकता की ओर हमने संकेत किया है और राधा तथा कृष्ण के साथ उस वाद की सामंजस्य-परिणति का उल्लेख किया है, वह कोई नवीन स्थापना नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद १।६ में नाम-रूप-कर्म को अनात्म या माया माना गया है। यही प्रकृति है। श्वेताश्वतर उपनिषद ४।१० में :—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्।

कहकर माया को स्पष्ट शब्दों में प्रकृति मान लिया गया है और महेश्वर को माया का अधिपति। अतएव तंत्र की शक्ति भी माया या प्रकृति ही है। इस तथ्य को प्रायः सभी हिन्दी-कवियों ने ग्रहण किया है। उन्होंने शक्ति, प्रकृति लक्ष्मी, सीता, राधा में एक ही तत्व के दर्शन किये हैं। विद्यापति लिखते हैं:—

कजलरूप तुअ काली कहिये, उजल रूप तुअ बानी।
रविमंडल परचंडा कहिये, गंगा कहिये पानी॥
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिये, हर घर कहिये गौरी।
नारायन घर कमला कहिये, के जान उतपत तोरी॥

देव के नीचे लिखे कवित्त में भी यही भाव अभिव्यंजित हुआ है :—

जो सुभ बानी लसै विधि अंक, लसै जु सदा सिव अंग भवानी।
जो कमला कमलापति के संग, देव सचीश सची सुखदानी॥
देव सभा ब्रज मंदिर सुन्दर जागत ज्योति सबै जग जानी।
सिद्धि की साधिका, साधु समाधिका, सो ब्रजराज की राधिकारानी॥[1]

१—भागवत १०—२,११,१२ में भी योग माया के दुर्गा, वैष्णवी, कृष्णा, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा आदि कई नाम दिये हैं। गरुड़ पुराण, उत्तर खंड, तृतीयांश, ब्रह्मकांड, अध्याय १५ में महालक्ष्मी के अवतारों में प्रकृति, माया, जया, श्री, दुर्गा, अजा और दक्षिणा के नाम आते हैं, यथा:—

नित्याविियोगिनी देवी हरिपादैक संश्रया।
नित्यमुक्ता नित्यशुद्धा महालक्ष्मीः प्रकीर्तिता॥३॥
मूलस्य च हरेर्भार्या लक्ष्मीः सा संप्रकीर्तिता।
पुंसो हि भार्याप्रकृतिः प्रकृतेश्चाभिमानिनी॥४॥
वासुदेवस्य भार्या तु माया नाम्नी प्रकीर्तिता॥६॥

इसके पश्चात् संकर्षण की जया, विष्णु की श्री, जो सत्वभामिनी [illegible] तमोभिमानिनी कन्यका दुर्गा, नारायण की लक्ष्मी रूपा अजा और [illegible] हरि की भार्या दक्षिणा के नाम आते हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के जो श्लोक हमने पीछे उद्धृत किये हैं, उनमें सामंजस्यात्मक दृष्टि से जहाँ राधा और कृष्ण में अभेद की स्थापना की गई है, वहाँ राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति भी कहा गया है। दूसरे शब्दों में राधा के विना कृष्ण अधूरे हैं। वे अकेले कुछ भी नहीं कर सकते। जैसे मिट्टी के विना कुम्भकार अपना कार्य नहीं कर सकता, वैसे ही कृष्ण राधा के विना संसार की रचना नहीं कर सकते। यहाँ राधा साधन है और कृष्ण साधक। कुछ दिनों वाद इस भाव ने भी पलटा खाया। कृष्ण साधन वन गये और राधा साधक। कृष्ण का अस्तित्व राधा के आश्रय से है, अतः राधा ही सव कुछ है। हिन्दी के रीतिकाल का विद्यार्थी जानता है कि बिहारी ने अपनी सतसई के प्रारम्भ में, प्रथम दोहे में ही, राधा की वन्दना की है। शाक्तमत में भी शिव और शक्ति के सम्बन्ध में यही वात चरितार्थ हुई है। जो शिव माया या शक्ति के अधिपति थे, वे शक्ति के आश्रित वन गये। इस प्रकार दार्शनिक दाँव-पेचों को दूर रखकर यदि विचार किया जाय, तो ऐसा भासित होता है कि मानव हृदय की रागानुगा वृत्ति ने जहाँ विपुल वाग्विलास को जन्म दिया है, वहाँ उसने तात्विक एकता के भी दर्शन किये हैं।

हरिलीला और ब्रह्मवैवर्त पुराण

इस पुराण में हरिलीला-सम्बन्धी कुछ ऐसी सामग्री है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। अतः इस परिच्छेद में उसका उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह सामग्री इस पुराण के कृष्ण जन्मखंड के अन्तर्गत है, जो पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भागों में विभाजित है।

पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में ही नारद भगवान नारायण से पूछते हैं:—

का वा गोपांगना के वा गोपाला बालरूपिणः
का वा यशोदा को नंदः किं वा पुण्यं चकार ह ॥१,१३

हरिलीला में जो गोपांगना और बालरूप गोपाल आते हैं, वे कौन हैं? यशोदा और नन्द ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया था, जिससे श्रीकृष्ण जैसे पुत्र के उन्हें दर्शन हुये? श्रीकृष्ण की जन्म-कथा को नारद वैष्णव भक्तों का जीवन-सर्वस्व और संसार को पवित्र करने वाला कहते हैं।

पृथ्वी के भारहरण-रूप कारण से पूर्व, ब्रह्मवैवर्तकार ने श्रीकृष्णजन्म का एक यह कारण उपस्थित किया है कि जब श्रीकृष्ण गोलोक में राधा को छोड़कर विरजा के पास चले गये, तो राधा सखियों के साथ उन्हें ढूँढ़ती हुई विरजा के मन्दिर में पहुँची। द्वार पर श्रीदामा थे। उन्होंने राधा को अन्दर न जाने दिया। राधा का नाम सुनते ही विरजा ने प्राण त्याग दिये और नदी बन गई। इधर राधा के कोप-मंदिर-द्वार पर श्रीदामा के साथ श्रीकृष्ण आये तो श्रीदामा और राधा ने एक दूसरे को शाप दिया। इसी शाप के परिणाम-स्वरूप दोनों ब्रज में गोप-गोपी के रूप में उत्पन्न हुए और श्रीकृष्ण को भी ब्रज में अवतार लेना पड़ा।

चतुर्थ अध्याय में गोलोक का और पाँचवें अध्याय में राधा-मंदिर के सोलहों द्वारों का अत्यन्त वैभव-सम्पन्न वर्णन है, जो श्रीमद्भागवत में भी उपलब्ध नहीं होता। अध्याय ६ में देवों के स्तवन पर श्रीकृष्ण कहते हैं:—

सर्वे नश्यन्ति सततं प्रभवन्ति पुनः पुनः।
न मे भक्ताः प्रणश्यन्ति निःशंकाश्च निरापदः ॥५३॥
अहं प्राणश्च भक्तानां भक्ताः प्राणा ममापि च।
ध्यायन्ते ते च मां नित्यं तान्स्मरामि दिवानिशम् ॥५४॥
न मे स्थानं च वैकुंठे गोलोके राधिकान्तिके।
यत्र तिष्ठन्ति भक्ता मे तत्र तिष्ठाम्यहर्निशम् ॥५५॥

अन्य सब नष्ट होते हैं और बार-बार उत्पन्न होते हैं, किन्तु मेरे भक्त निःशंक और निरापद रहते हैं तथा कभी नष्ट नहीं होते। मैं भक्तों का प्राण हूँ और भक्त मेरे प्राण हैं। वे नित्य मेरा ध्यान करते हैं और मैं उनका दिनरात स्मरण करता हूँ। वैकुंठ, गोलोक, या राधा के समीप कहीं भी मैं स्थिर नहीं रहता। मैं तो वहीं निवास करता हूँ, जहाँ भक्त निवास करते हैं। आगे के श्लोक में भक्तों को राधा और लक्ष्मी से भी बढ़कर प्रिय कह दिया है।

इसी छठवें अध्याय के श्लोक १८३ में वसुदेव को कश्यप, देवकी को अदिति, नंद को वसु और यशोदा को वसुकामिनी का अंशावतार कहा गया है। श्लोक २१४ से २१६ तक राधा और कृष्ण का सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट किया गया है : जैसे शरीर के बिना आत्मा और आत्मा के बिना शरीर की स्थिति संभव नहीं है, जैसे दुग्ध में धवलता और अग्नि में दाहकता है, भूमि में गन्ध और जल में शीतलता है, इसी प्रकार राधा और कृष्ण की स्थिति है। जैसे उनमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही राधा और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है। जैसे मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बन सकता, इसी प्रकार कृष्ण राधा के बिना भव का निर्माण नहीं कर सकते। लगभग इसी प्रकार के शब्द अध्याय १४ के ५८ से ६१ श्लोकों तक आते हैं, जिन्हें हम विगत अध्याय में[1] उद्धृत कर चुके हैं।

अध्याय ८ में श्रीकृष्ण के जन्म-समय पर उनका रूप-वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

ददर्श पुत्रं भूमिस्थं नवीन नीरद प्रभम् ॥५७॥
अतीव सुन्दरम् नग्नं पश्यन्तं गृह शेखरम्।
शरत्पार्वणचन्द्रास्यं नीलेन्दीवर लोचनम् ॥५८॥
रुदन्तं च हसन्तं च वेणु संसक्त विग्रहम्।
हस्तद्वयं सुविन्यस्तं प्रेमवन्तं पदाम्बुजम् ॥५९॥

१—हरिलीला पुराण साहित्य (२)

उनका शरीर अगणित चन्द्र की प्रभा से शोभित था। शरत्पूर्णिमा के चन्द्र के समान उनका मुख मंडल था और प्रस्फुटित कमल के समान नेत्र थे। वे रोते थे, हँसते थे, शरीर में वंशी विराजती थी। प्रेम से परिपूर्ण उनके सुविन्यस्त हस्त और लाल कमल के समान पैर थे।

अध्याय १३ के श्लोक ५५ से ६८ तक कृष्ण शब्द की व्याख्या है, जिसके अनुसार युगभेद के आधार पर तेजराशि कृष्ण का वर्ण कलियुग में काला हुआ। वे परिपूर्णतम ब्रह्म हैं, अतः कृष्ण कहलाते हैं। कृष्णः शब्द का क अक्षर ब्रह्मवाचक है, ऋ अक्षर अनन्तवाचक, ष शिववाचक, ण धर्मवाचक, अ विष्णुवाचक और विसर्ग नर-नारायण अर्थ का वाचक है। सर्वाधार, सर्वबीज तथा सर्वमूर्ति स्वरूप होने से वे कृष्ण कहलाते हैं। इसी प्रकार कृषि निश्चेष्ट वचन अथवा निर्वाणवाचक, नकार भक्तिवाचक अथवा मोक्षवाचक और अकार प्राप्तिवाचक अथवा दातृवाचक होने से कृष्ण नाम पड़ा। ककार के उच्चारण से भक्त जन्म-मृत्यु का नाश करने वाले कैवल्य को प्राप्त करता है, ऋकार अतुल दास्यभाव और षकार अभीप्सित भक्ति देता है तथा नकार भगवान का सहवास एवं सारूप्य प्रदान करता है। ककार के उच्चारण से यम-किंकर काँप जाते हैं और ऋकार के उच्चारण से भाग जाते हैं। षकार के उच्चारण से पाप, नकार के उच्चारण से रोग और अकार के उच्चारण से मृत्यु—सभी भीरु बनकर पलायन कर जाते हैं।

इसी प्रकार इस अध्याय में श्लोक १०५ से १०९ तक राधा शब्द की व्याख्या है, जिसके अनुसार रेफ कोटिजन्मों के पापों को, आकार मृत्यु को, धकार आयु:की हानि को और आकार भव-बन्धन को दूर कर देता है। अथवा रेफ अविचल दास्य-भक्ति, धकार सहवास और आकार तेजराशि देता है। इसी अध्याय में श्रीकृष्णजन्म की पूरी कथा भी कह दी है।

अध्याय १४ के प्रारम्भ में यशोदा के स्नानार्थ यमुना चले जाने पर श्रीकृष्ण द्वारा गृह में स्थित तथा पूजा के लिए शकट में रखे हुए दधि, दूध, घी, मट्ठा, मक्खन और मधु के खा पी जाने का वर्णन है। यशोदा जब लौट कर आई तो क्रोध में भरी हुई वेत्र लेकर कृष्ण के पीछे दौड़ी। माँ को थकी हुई जानकर कृष्ण भी ठहर गये और परिणामतः एक वृक्ष में वस्त्र द्वारा बाँध दिये गए। यह वृक्ष यमलार्जुन था, जो श्रीकृष्ण के स्पर्शमात्र से ही टूटकर गिर गया। जैसे सूर ने "नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ"—शीर्षक पद में यशोदा का नन्द पर कोपाभिव्यंजन किया है, वैसे ही इस अध्याय में नन्द क्रोध में रक्त-पंकज-

लोचन होकर यशोदा से कहते हैं: "यदि पुत्र ने दधि आदि खा लिया, तो क्या हुआ ? यदि वृक्षपात से बालक का कुछ अनिष्ट हो जाता, तो घर में रखी वस्तुयें किस काम आतीं ? मैं अपने बच्चे को लेकर तीर्थ करने जाता हूँ अथवा तुम्हीं घर से चली जाओ। शतकूपों से अधिक वापी, शतवापियों से अधिक सरोवर, शत सरोवरों से अधिक यज्ञ, और शत यज्ञों से भी अधिक बढ़कर पुत्र-जन्म माना गया है। फिर यह पुत्र तो वृद्धावस्था में प्राप्त हुआ है। तप और दान का फल जन्मान्तर में मिलता है, पर सत्पुत्र तो इस लोक और परलोक दोनों में ही सुखदायक है। पुत्र से बढ़कर बंधु न हुआ है और न होगा।" (श्लोक २३ से २७ तक)।[1]

अध्याय १५ के प्रारम्भिक श्लोकों में लिखा है कि एक दिन नन्द कृष्ण के साथ वृन्दावन गये और भांडीर वन में गौओं को चराने लगे। इसी बीच में श्रीकृष्ण ने अपनी माया से आकाश को मेघाच्छन्न कर दिया। झंझावात दारुण वज्र जैसा शब्द करता हुआ बहने लगा। वृष्टिधारा से पादप काँपने लगे। नन्द ने सोचा, इस बच्चे (कृष्ण) को घर कैसे पहुँचाऊँ। इतने में राधा वहाँ आ गई और नन्द ने उसे कृष्ण को घर पहुँचाने के लिये कहा।[2]

राधा कृष्ण को लेकर चली और इसी भांडीर वन में एक अत्यन्त सुन्दर मंडप के नीचे ब्रह्मा ने उन दोनों का विवाह करा दिया, जिसमें सभी विधि-अनुष्ठान किये गये—हवन हुआ, सात प्रदक्षिणायें हुईं, पाणिग्रहण हुआ, वेदोक्त सप्त मंत्रों से सप्तपदी का पाठ हुआ और दोनों ने एक दूसरे के गले में पारिजात पुष्पों की माला डाली। (श्लोक १२२ से १२८ तक)।

अध्याय १६ में बकासुर, प्रलम्ब, केशि आदि के वध की कथा है। श्लोक ८५ से ८७ तक राधा के ध्यान करने का उल्लेख करते हुए कवि राधा को रासेश्वरी, रम्यरासोल्लासरसोत्सुक, रास-मंडल-मध्यस्थ, रासाधिष्ठातृ, देवता, रासेश्वरोरःस्थलस्थ, रसिका, रसिकप्रिया, रमा, रमणोत्सुका और शरद्राजीवराजि-प्रभा-मोचन-लोचना जैसे शृंगारी तथा साहित्यिक विशेषणों से अलंकृत करता है।

१—हरिवंशकार ने केवल एक श्लोक में (विष्णु पर्व ७,३५) इसी प्रसंग में, इसी अवसर पर, नन्द द्वारा यशोदा की गर्हणा कराई है : "ततो यशोदां गर्हन्वै नन्द गोपो विवेश ह।"

२—इसी कथा के आधार पर गीत गोविन्द का प्रथम श्लोक बना है जिसका उल्लेख विगत अध्याय में हो चुका है।

अध्याय १७ में वृन्दावन का वर्णन है और राधा के सोलह नामों की व्याख्या के साथ स्तोत्र है। यहीं पर राधा को कृष्ण-पत्नी तथा कृष्ण के वामांग में स्थित लिखा है:—

कृष्ण वामांग संभूता परमानन्द रूपिणी।
कृष्णा वृन्दावनी वृन्दा वृन्दावन विनोदनी ॥२२१॥
रासेश्वरस्यपत्नीयं तेन रासेश्वरी स्मृता ॥२२४॥

अध्याय १६ में कालियनाग-दमन लीला के अन्तर्गत सुरसा नागिनी ने श्रीकृष्ण की इस प्रकार स्तुति की है—

सकलभुवननाथ प्राणनाथं मदीयं न कुरु वधमनन्त प्रेमसिंधो सुबंधो।
अखिल भुवन वन्धो राधिका प्रेमसिंधो पतिमिह कुरुदानं मे विधातु विधातः ॥१८॥
त्रिनयन विधिशेषाः षण्मुखश्चास्यसंधैः स्तवनविषयजाड्यात्स्तोतुमीशान वाणी।
न खलु निखिल वेदाः स्तोतुमन्येऽपि देवाः स्तवनविषयशक्ताः सन्ति संतस्तवैव ॥१९॥

जब श्रीकृष्ण कालियदमन के पश्चात् यमुना से निकले, तो गोप तथा गोपियाँ प्रसन्न होकर उनकी ओर देखने लगे। श्रीकृष्ण ब्रह्मतेज से जाज्वल्यमान हो रहे थे। शिर पर मोर के पंखों का मुकुट था, अधरों पर वंशी थी। यशोदा ने उन्हें देखते ही छाती से लगा लिया और नन्द, रोहिणी आदि ने उनका मुख चूमकर गोद में उठा लिया। इसी समय सहसा दावाग्नि भड़क उठी, जो श्रीकृष्ण की अमृत दृष्टि पड़ते ही दूर हो गई।

अध्याय २० में ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-बालक-हरण का प्रसंग है। अध्याय २१ में इन्द्र-यज्ञ-भंजन और गोवर्द्धन-धारण की लीला है। अध्याय २२ धेनुकासुर-वध का वर्णन है।

अध्याय २७ में[1] गोपी-वस्त्रापहरण तथा अध्याय २८ में रास-क्रीड़ा आख्यान है। रास-लीला के सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्तकार लिखता है:—

१—इस अध्याय के श्लोक २१ से ३२ तक दुर्गा, शिवा, माया आदि की व्याख्यामयी व्युत्पत्तियाँ दी हैं। ब्रह्मवैवर्तकार इस प्रकार की व्युत्पत्ति में अत्यन्त व्युत्पन्न, कुशल और अभ्यस्त है।

कथा पुराण साराणां रास यात्रा हरे रहो ।
हरिलीलाः पृथिव्यां तु सर्वाःश्रुति मनोहराः ॥२८,४

इस रास-लीला में नौ लाख गोपियाँ तथा अठारह लाख गोप संयुक्त हुये थे, जिनका अत्यन्त नग्न शृंगार वर्णित हुआ है। इस शृंगार में कपूर सहित ताम्बूल, चंदन, अगरु, कस्तूरी आदि द्रव्य, पुष्पमालायें, मुक्तकेश, विच्छिन्न भूषण, कंकण-किंकिणी-वलय-नूपुर आदि के शब्द, आश्लेषण, जल-क्रीड़ा आदि कामशास्त्र की सभी सामग्री विद्यमान है।

अध्याय ५२ और ५३ में राधा और माधव का गोपियों के साथ भांडीरादि वनों में विहार-वर्णन तथा पुनः रासलीला का प्रसंग है।[1] इस रास-लीला में समस्त स्वर तथा ३६ रागिनियाँ आकर सहयोग देती हैं। पूर्वोक्त प्रकार की शृंगार-सामग्री इस स्थल पर भी है। अध्याय ५२ के श्लोक ३८ और ३९ में कृष्ण से राधा की श्रेष्ठता इन शब्दों में प्रतिपादित हुई है:—

राशब्दोच्चारणादेव स्फीतो भवति माधवः ।
धा शब्दोच्चारतः पश्चात् धावत्येव न संशयः ॥३८॥

रा शब्द के उच्चारण से ही श्रीकृष्ण कामराग से स्फीत हो जाते हैं और धा शब्द कहते ही राधा के पीछे दौड़ने लगते हैं। अतः भक्तों को चाहिये कि प्रथम प्रकृति अर्थात् राधा का नाम लें, उसके पश्चात् पुरुष अर्थात् कृष्ण का। वैष्णव सम्प्रदाय में इसी कारण आगे चलकर राधा के महत्व की स्थापना हुई।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के उत्तरार्द्ध अध्याय, ६४, ६५ में कंस धनुर्यज्ञ में भाग लेने के लिये राजाओं को निमंत्रण भेजता है। अक्रूर कृष्ण को बुलाने के लिये गोकुल जाते हैं। अध्याय ६९ में राधा-कृष्ण की क्रीड़ा का पुनः पूर्व जैसा शृंगारी वर्णन है। अध्याय ७० में अक्रूर गोकुल पहुँच कर समस्त व्रज को श्रीकृष्णमय देखते हैं और इन शब्दों में श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं—

राधारमणरूपाय, राधारूप धराय च ।६१।
राधाराध्याय राधायाः प्राणाधिकतराय च ।६२।
राधा प्राणाधिदेवाय विश्वरूपाय ते नमः ।६३।

अक्रूर कृष्ण और बलराम को मथुरा ले जाने के लिये उद्योगशील है, यह देखकर राधा कुपित होती है और गोपियों को भेजकर उसका रथ-भंग कराती

१—सूरसागर में भी रासलीला का प्रसंग एक से अधिक बार आया है और उस पर ब्रह्मवैवर्त का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

है। गोपियाँ अक्रूर को क्रूर कहती हैं और अपने कंकण तथा करों द्वारा उसे भी वस्त्र-विहीन तथा सर्वांग में क्षत-विक्षत कर देती हैं। श्रीकृष्ण राधा को समझाते हैं और दूसरे दिन बलराम, नन्द तथा अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं। इसके पश्चात् अध्याय ७२ में कृष्ण की कृपा से कुब्जा सुन्दरवती बनती है। कृष्ण कुब्जा के घर जाते हैं। श्लोक ५६ से ६४ तक कुब्जा के साथ शृंगार-रमण का वर्णन है और कुब्जा को पूर्व जन्म की शूर्पणखा बताया है। कृष्ण कृत धनुर्भंग, गजमल्ल आदि को मारना, कंस-वध, उग्रसेन को राज्यपद पर प्रतिष्ठित करना आदि का सामान्य वर्णन है।

अध्याय ७३ में नन्द कृष्ण को छोड़कर व्रज जाते हुए अत्यन्त विरह-कातर हो जाते हैं। उस समय श्रीकृष्ण उन्हें इस प्रकार आध्यात्मिक बोध देते हैं ;—

अहमात्मा च साक्षी च निर्लिप्तः सर्व जीविषु ।४६।
जीवो मत्प्रतिबिम्बश्च इत्येवं सर्व सम्मतम् ।
प्रकृतिर्मद्विकारा च साप्यहं प्रकृतिःस्वयम् ॥४७॥
अहं सर्वस्य प्रभवः सा च प्रकृतिरीश्वरी ॥५१॥

इसके पश्चात् गीता के १०वें अध्याय की भाँति अक्षरों में मैं अकार हूँ, तेजस्वियों में सूर्य हूँ, पौराणिकों में सूत हूँ आदि कहते हुए लिखते हैं:—

अहं च सर्व भूतेषु मयि सर्वं च सन्ततम् ॥
यथा वृक्षे फलान्यैव फलेषु चांकुर स्तरोः ॥९४॥

मैं सब भूतों में हूँ और सब मुझमें हैं, जैसे वृक्ष में फल होते हैं और फलों में वृक्ष का अंकुर।

नन्द व्रज जाकर यशोदा और राधा के विरहजन्य शोक को निवृत्त करते हैं और यशोदा की प्रेरणा से पुनः कृष्ण के पास मथुरा पहुँच जाते हैं।

अध्याय ९० के अन्त में नन्द कृष्ण से एक बार कुछ दिनों के लिये गोकुल हो आने के लिये कहते हैं, जिससे यशोदा, रोहिणी, राधा, गोप तथा गोपियों को आश्वासन प्राप्त हो। अध्याय ९१ के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण नन्द से कहते हैं कि वे उद्धव को गोकुल भेज रहे हैं, जो सबको जाकर समझा देंगे। उद्धव श्रीकृष्ण की आज्ञा से शोकविनाशी आध्यात्मिकज्ञान के द्वारा व्रजवासियों को प्रबोध देने के लिये चल देते हैं।

अध्याय ९२ में उद्धव यशोदा और रोहिणी के पास पहुँच जाते हैं। वे उद्धव को आसन, जल, दुग्ध और मधु प्रदान करती हुई नन्द, बलराम और

श्रीकृष्ण का कुशल समाचार पूछती है । उद्धव सबको समाश्वासन देकर चन्द्र-मण्डल के समान वर्तुलाकार, केवड़े कदली स्तम्भों से सुशोभित, स्निग्ध वनों और चन्दन-पल्लवों से युक्त, सुगन्धित द्रव्यों से परिसंस्कृत रास-मण्डल के पास पहुँचे । वह रास ३ करोड़ गोपियों से रक्षित और सेवित था । इसमें ३ लाख सुन्दर, रम्य, रसिक रति-मन्दिर थे । उद्धव वहाँ से यमुना को दक्षिण में छोड़-कर मालती वन में पहुँचे । फिर नन्दन, चम्पक, पुष्पिका, केतकी, माधवी, नलिका, पलाश, कर्णिका, शालताल, तिताल, रसाल, मन्दार आदि काननों की प्रदक्षिणा करते हुए सुन्दर कुन्द वन का उन्होंने दर्शन किया । इसके पश्चात यशोदा के बनाये हुए मार्ग से बदरीवन में पहुँचे । फिर श्रीफल, करवीर, तुलसी आदि वनों को देखते हुए उन्होंने कदली वन में प्रवेश किया । वहीं अत्यन्त निर्जन, रम्य स्थान में राधिका का आश्रम था । यह आश्रम रत्नेन्द्रसार से रचित, रत्न स्तम्भों से सुशोभित, कलश और पताकाओं से परिष्कृत था । इसके सिंहद्वार पर रत्न-कपाट लगे थे । द्वार के ऊपर विचित्र वृन्दावन बना था । उद्धव उस द्वार को सामने देखकर अन्दर प्रविष्ट हुए । फिर दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें द्वार का उल्लंघन करके वे छठवें द्वार पर पहुँचे, जहाँ भीतियों पर राम-रावण-युद्ध के मनोहर चित्र बने हुए थे । विश्वकर्मा ने वहाँ विष्णु के दशा-वतार, कृत्रिम रास-मण्डल तथा यमुना-जल-केलि के चित्र भी अंकित कर दिये थे । वह छठवाँ द्वार सहस्र गोपिकाओं से रक्षित था, जिनके हाथों में हीरक-भूषित रत्नदण्ड थे । इनमें प्रधान माधवी गोपी ने उद्धवके आगमन की सूचना राधा की प्रिय सखियों को दी, फिर शंखध्वनि करके उद्धव को उत्तम आभ्यन्तर धाम में राधा के पास पहुँचा दिया ।

राधा की दशा का वर्णन करते हुए ब्रह्मवैवर्तकार लिखता है:—

> ददर्श पुरतो राधां कृशां चन्द्रकलोपमाम् । ६०।
> सुपक्व पद्मनेत्रां च शयानां शोक मूर्छिताम्।
> रुदन्तीं रक्तवदनां क्लिष्टां च त्यक्त भूषणाम् ।६१।
> निश्चेष्टां च निराहारां सुवर्ण-वर्ण-कुंडलाम्।
> शुष्कताधरकंठां च किञ्चिन्निश्वास संयुताम् ।६२।

उद्धव ने देखा, राधा कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि में चन्द्र की क्षीण कला के समान क्षीण, लाल नेत्र किये, शोक-मूर्छित अवस्था में पड़ी हुई है । उसका मुख रक्तवर्ण है । वह क्लेश से पूर्ण, निश्चेष्ट, निराहार और आभूषणों का परित्याग किये हुए रो रही है । उसके ओष्ठ और कण्ठ सूख गये हैं तथा

साँस बहुत धीरे-धीरे चल रही है। राधा को देखते ही उद्धव के रोमांच खड़े हो गये। उन्होंने भक्तिपूर्वक राधा को प्रणाम किया। अध्याय ९३ में लिखा है कि उद्धव के स्तवन को सुनकर राधा ने आँखें खोलीं, देखा—कृष्ण की आकृति का एक पुरुष सामने खड़ा है। राधा ने उसका नाम और आने का प्रयोजन पूछा। उद्धव ने अपना नाम बताया और कहा : "मैं क्षत्रिय हूँ, भगवान श्रीकृष्ण का पार्षद हूँ, और उनका सन्देश लेकर आया हूँ।" राधा उद्धव से पूछने लगीः "उद्धव, वही यमुना है, वही सुगन्धित पवन है, वही कोकिल का आलाप है, रम्य क्रीड़ा कानन, उद्यान, सरोवर सब कुछ वही हैं—सारा विभव वही है और यह दुरन्त, दुखद, पापिष्ठ मन्मथ भी वही है, पर मेरे प्राणनाथ कहाँ हैं?"

राधा 'हा! कृष्ण, हा! कृष्ण' कहती हुई मूर्छित हो गई। उद्धव ने उसे सचेत किया और कहा, "नन्द श्रीकृष्ण के उपनयन के पश्चात् ही उन्हें लेकर यहाँ आवेंगे।" उद्धव यहाँ राधा को माता कहकर सम्बोधित करते हैं। राधा भी उन्हें वत्स कहती है।

राधा उद्धव को अपनी कष्ट-कथा सुनाती हुई जब पुनः मूर्छित हो गई, तो उद्धव ने उसे सचेत करते हुए कहा:—

त्वमेव राधा त्वं कृष्णस्त्वं पुमान् प्रकृतिः परा।
राधा माधवयोर्भेदो न पुराणे श्रुतौ तथा॥ अ० ९४ श्लोक ७

राधा को मूर्छित देखकर माधवी कहने लगी: "अरी कल्याणी राधा, तू उस चोर कृष्ण का स्मरण क्यों करती है? वह गोप-वेश बालक किसी राजा का पुत्र भी तो नहीं है।" मालती ने कहाः "राधा, तू अत्यन्त निर्लज्ज है। विश्व की युवतियों के यश का क्षय कर रही है? अपनी भावना को अन्दर ही रख।" पद्मावती, चन्द्रमुखी, शशिकला, सुशीला, रत्नमाला आदि ने भी समझाया, पर पारिजाता ने श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व का वर्णन करते हुए माधवी पर कटाक्ष कर दिया। माधवी ने कहा, "उद्धव, इन्होंने मेरे वाक्य को समझा ही नहीं। वास्तव में—

स्वेच्छया सगुणो विष्णुः स्वेच्छया निर्गुणो भवेत्।
भुवो भारावतरणे गोपवेशः शिशुर्विभुः॥ ९४। ६२

ऐसे ईश्वर को जब सिद्ध आदि भी नहीं जानते, तो मैं कैसे जान सकती हूँ।" गोपियों की इस प्रकार की बातें सुनकर उद्धव भक्ति-विह्वल हो उठे। उनके शरीर में पुलकावली खड़ी हो गई। आँखों से आँसू गिरने लगे। गोपियों के प्रेम के सामने अपने प्रेम को तुच्छ समझते हुए भक्ति गद्गद कंठ से वे कहने लगे:—

धन्यं यशस्यं द्वीपानां जम्बूद्वीपं मनोहरम्।
यत्र भारतवर्षं च पुण्यदं शुभदं ।। ६४।७५ तथा
गोपी पादाब्जरजसा पूतं परम निर्मलम्।
अध्याय ६४, श्लोक ७७

ततोऽपि गोपिका धन्या मान्या योषित्सु भारते।
नित्यं पश्यन्ति राधायाः पादपद्मं सुपुण्यदम् ।।
अध्याय ६४, श्लोक ७८

धन्य है जम्बूद्वीप और जम्बूद्वीप में भारतवर्ष, जो गोपियों के चरण-कमल की रज से पवित्र है। गोपियाँ भी धन्य हैं, जो राधा के पुण्यप्रद पादपद्मों का नित्य दर्शन करती हैं।[1] मैं भी धन्य हूँ, जो गोकुल आया और गोपियों से हरि-भक्ति प्राप्त करके कृतकृत्य हो गया।

ब्रह्मवैवर्त में उद्धव को भ्रमर कहकर संबोधित नहीं किया गया। उद्धव अपनी ओर से यहाँ बहुत थोड़ा, न के बराबर, कहते हैं। राधा की सखियाँ ही कुछ व्यंग्य आपस में कर लेती हैं और ज्ञान की बातें कहती हैं। उद्धव से उन व्यंग्यों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

ब्रह्मवैवर्त में श्रीमद्भागवत की भाँति स्तुतियों की भरमार है। सूर को शृंगार की सम्पत्ति ब्रह्मवैवर्त से ही मिली है। जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि भी इस सम्बन्ध में इसी पुराण के आभारी हैं। ब्रह्मवैवर्त में गोपियों के घरों में घुसकर माखनचोरी करना, पनघट प्रस्ताव जैसे प्रेम के प्रसंग और भ्रमरगीत जैसे उपालम्भ और व्यंग्योक्तियों से पूर्ण वाक्य नहीं मिलते।

१— इसी भाव का अभिव्यंजन माधव भट्ट के नीचे लिखे श्लोक में है —
धन्येयं धरणी ततोऽपि मधुरा तत्रापि वृन्दावनम्।
तत्रापि व्रजवासिनो युवतय स्तत्रापि गोपांगनाः ।।
तत्राचिन्त्य गुणैक धाम परमानन्दात्मिका राधिका।
लावण्याम्बुनिधि स्त्रिलोक रमणी चूड़ामणिः का मन ।।

हरिलीला और श्रीमद्भागवत

पावन भक्तिभाव तथा रमणीय रसों की आकर श्रीमद्भागवत में भक्ति का चतुर्थ उत्थान प्रारम्भ होता है। इसमें अनेक स्थानों पर भगवान के अवतार और सृष्टि-रचना को लीला-विनोद का नाम दिया गया है। लीला के लिये कहीं चेष्टा और कहीं क्रीड़ा शब्द प्रयुक्त हुआ है। भागवतकार ने एक भी स्थान पर अपने पाठकों को इस भ्रम में नहीं पड़ने दिया कि श्रीकृष्ण परमेश्वर नहीं हैं। उसने स्थान-स्थान पर स्तुतियों का समावेश करके तथा अन्य पात्रों की उक्तियों द्वारा उनके परमब्रह्मत्व को अभिव्यंजित किया है[1] और हरि तथा विष्णु को ब्रह्मा एवं शिव जैसे देव कोटि के तत्वों से सदैव पृथक रखा है।[2] यही प्रवृत्ति सूरसागर में भी दृष्टिगोचर होती है।

जो परब्रह्म है, उसे सौंदर्य का निधान होना ही चाहिये। श्रीकृष्ण जब देवकी के गर्भ से प्रकट हुये, तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पूर्व दिशा में सोलहों कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो गया हो। उनके नेत्र कमल के समान कोमल और विशाल थे; वक्षस्थल पर अत्यन्त सुन्दर सुवर्णमयी रेखा (श्रीवत्स का चिन्ह) थी। वर्षाकालीन मेघ के समान परम सुन्दर श्यामल शरीर था। घुँघराले बाल थे। उनके अंग-अंग से अनोखी छटा छिटक रही थी और कांति-प्रभा से सूतिकागृह जगमगा रहा था। वे परम सुन्दर और परम मधुर थे। भागवतकार ने इस स्थान पर उनके चार हाथ, जिनमें वे क्रमशः शंख, गदा, चक्र और कमल लिये हुये थे, गले में झिलमिलाती हुई कौस्तुभ मणि, शरीर पर फहराते हुए पीताम्बर, वैदूर्य मणि के किरीट, स्वर्ण कुण्डल, कमर में चमचमाती करधनी, बाहों में बाजूबन्द और कलाइयों में कंकण आदि का भी वर्णन किया है, जिनके बिना भी स्वाभाविक सौंदर्य का चित्रण हो सकता था। पर जो कवि-कल्पना दैवी भाव को धरा-धाम पर उतार लाई है, उसके लिये इन

१—दशम स्कन्ध, ८-४५।३-१३, २४, २५

२—दशम स्कन्ध, २-४२। ६-२०।२४-१२

गुँथे हुए थे। उनकी मधुर चितवन और मनोहर मुस्कान देखकर लोग अपने आपको निछावर कर रहे थे। श्रीकृष्ण मुरली बजा रहे थे। गोप उनका कीर्ति-गान कर रहे थे। वंशी की ध्वनि सुनते ही गोपिकायें बाहर निकल आईं और उन्होंने अपने नेत्ररूप भ्रमरों से श्रीकृष्ण के मुख-कमल का मकरन्द-रस पान करके दिन भर की वियोग-ज्वाला को शान्त किया। कालिय-दमन के पश्चात् नाग कन्याओं ने जो श्रीकृष्ण की स्तुति की है, वह विष्णु पुराण की भाँति मधुर तो नहीं, पर दार्शनिक तत्वों से अवश्य ओत-प्रोत है। सत्रहवें और उन्नीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण का गोपों और गायों को दावानल से बचाना और यह कहकर कि "डरो मत, आँखें बंद कर लो," स्वयं दावानल को पी जाना, एक अत्यन्त आकर्षक एवं शिक्षाप्रद रूपक की सृष्टि खड़ी करता है। इस रूपक की व्याख्या सूर के हरिलीला वर्णन में की जायगी।

दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में शरद और वर्षा के अलंकृत वर्णन हैं, जिनके अनुकरण पर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित मानस में वर्षा और शरद का वर्णन किया है। इक्कीसवें अध्याय में वेणुगीत है। शरद ऋतु में वन-राजि विकच सुमनों से शोभायमान थी, सरोवर-सरितायें और पार्वत्य प्रान्त निर्मल आभा से सम्पन्न थे। श्रीकृष्ण ने गौओं को चराते हुए अपनी बाँसुरी पर मधुर तान छेड़ी। वंशी की यह मोहक ध्वनि भगवान के प्रति प्रेम-भाव को जगाने वाली थी। व्रज की गोपिकाओं ने जब यह मादक ध्वनि सुनी तो उन्हें श्रीकृष्ण की चेष्टायें याद आ गईं। उनका मन हाथ से निकल गया और वे दर्शन की आकांक्षा से श्रीकृष्ण के पास पहुँच गईं। इस स्थल पर भागवतकार ने मुरली पर जो कल्पनायें की हैं, वे सूरसागर की भाँति मधुर, शृंगारमयी एवं अद्‌भुत हैं। एक गोपी कहती है:—"यह वंशी तो बड़ी धृष्ट है। न जाने अपने किस पूर्व जन्म के पुण्य के परिणामस्वरूप यह श्रीकृष्ण के अधरामृत का पान कर रही है। मुरली को अपने रस से पुष्ट करने वाले सरोवर भी उसकी ध्वनि सुनकर खिले हुए कमलों के रूप में पुलकित हो रहे हैं, मोर मतवाले होकर उसकी ताल पर नाचते हैं, मृग एवं मृगियाँ श्रीकृष्ण को प्रेमभरी आँखों से देखने लगती हैं, गायें दोनों कान खड़ी करके मानों दोने में उस मधुर संगीतामृत का पान करती हैं, बछड़े दूध पीते-पीते मुरली-रव से विस्मय-विमुग्ध हो खड़े हो जाते हैं—वे न दूध का घूँट उगल पाते हैं, न निगल पाते हैं, पक्षी किसलय-संयुक्त शाखाओं पर चुपचाप बैठे हुए उस त्रिभुवन-मोहक संगीत को सुनते रहते हैं, नदियों का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है, और वे भँवरों के बहाने अपने हृदय की तीव्र मिलनाकांक्षा को प्रकट करने

[illegible]

[illegible] सभी आचार्यों का इस विषय में एक मत है।

इसके पश्चात् इन्द्र का निरादर और गोवर्द्धन धारण की कथायें आती हैं। इन्द्र की पूजा क्यों नहीं करनी चाहिये, इसके उत्तर में श्रीकृष्ण के कहे हुए ये शब्द मननीय हैं : "मनुष्य को चाहिये कि पूर्व संस्कारों के अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल धर्मों का पालन करता हुआ, कर्म का ही आदर करे। जिसके द्वारा मनुष्य की जीविका सुगमता से चलती है, वही उसका इष्टदेव होता है। जैसे अपने विवाहित पति को छोड़कर, जार पति का सेवन करने वाली व्यभिचारिणी स्त्री कभी शान्ति लाभ नहीं करती, वैसे ही जो मनुष्य अपनी आजीविका चलाने वाले एक देवता को छोड़कर किसी दूसरे की उपासना करते हैं, उनसे उन्हें कभी सुख नहीं मिलता।"[1] (२४—१८,१९)
भगवान की लीलाओं का एक उद्देश्य मानव को कर्तव्य का निर्देश करना भी है। इस कथा का यही आशय है। गोवर्द्धन-धारण भी, हमें आपत्तियों के आने पर किस धैर्य और दृढ़ता के साथ कार्य करना चाहिये, इस बात की शिक्षा देता है। यदि सुख की अवस्था अधिक दिन नहीं ठहरती, तो दुःख की अवस्था भी अधिक दिन नहीं ठहर सकती। वह भी एक दिन विनष्ट होगी ही। ब्रजवासियों को आँधी-पानी के तूफान ने व्याकुल कर दिया, तो इस तूफान को व्याकुल एवं ध्वस्त करने की शक्ति भी एक सर्व-नियामक सत्ता में है। फिर निराशा कैसी? मानव को आत्मस्थ होकर अपना कार्य करना चाहिये।[2]

हरिलीला में रास को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भागवतकार ने रास-लीला का तन्मयता पूर्वक वर्णन किया है और उसकी आध्यात्मिकता का भी

१—कल्याण भागवतांक पृष्ठ ७२५। २—दशम स्कंध २५–२६, २७।

स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। भगवान ने चीरहरण के समय ही गोपियों को रासलीला का संकेत दे दिया था। अब उन्हें निमित्त बनाकर रसमयी रास-क्रीड़ा करने का संकल्प किया। संकल्प के जाग्रत होते ही चन्द्रदेव ने प्राची दिशा के मुखमंडल पर अपने शीतल करों से लाल रोली-केशर मल दी। अनन्तर चन्द्रमंडल पूर्णिमा की विभावरी में पीयूष की वर्षा करने लगा। समस्त वन-प्रान्तर अनुराग की लालिमा से अनुरंजित हो उठा। श्रीकृष्ण का वंशी-वादन प्रारम्भ हुआ। गोपियों का मन पहले से ही श्यामसुन्दर के वशीभूत था, अब तो उनकी सारी वृत्तियाँ—भय, संकोच, धैर्य, मर्यादा—छिन गईं। उनकी विचित्र गति हो गई। वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-सम्बन्धी समस्त कार्यों को छोड़कर श्रीकृष्ण के पास पहुँच गईं। उनका प्राण, मन और आत्मा श्रीकृष्ण द्वारा अपहृत हो चुका था। उनके अशुभ संस्कार भस्म हो चुके थे। किसी-किसी गोपी ने घर के ही अन्दर अपने पाप और पुण्य रूप कर्म के परिणाम से बने हुए गुणमय शरीर का परित्याग कर दिया और भगवान की लीला में सम्मिलित होने के योग्य अप्राकृत शरीर प्राप्त कर लिया। इस शरीर से भोगे जाने वाले कर्म-बन्धन तो ध्यान के समय ही छिन्न भिन्न हो चुके थे।[1]

भागवतकार लिखता है : "भगवान जो अपनी लीला प्रकट करते हैं, उसका प्रयोजन यही है कि जीव उसके सहारे अपने परम कल्याण की सिद्धि करें।" इसके लिये भगवान से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध हो जाना चाहिये। इस सम्बन्ध से अपनी वृत्तियाँ भगवान के साथ संयुक्त हो जाती हैं—वे भगवन्मय बन जाती हैं।

जो गोपियाँ श्रीकृष्ण के पास पहुँचीं, उन्हें वे पातिव्रत धर्म का उपदेश देने लगे। पर, पराभक्ति में प्रवेश करने के समय धर्म-नियम कहाँ रहते हैं? अतः गोपिकायें कहने लगीं : "तुम्हारी त्रिलोकाभिराम मूर्ति और वंशी की तान को सुनकर जब अर्धचेतन एवं अचेतन जगत—गो, हरिण, वृक्षादि—पुलकित एवं प्रभावित हो उठते हैं, तो चेतन जगत का ऐसा कौन-सा प्राणी है, जो लौकिक एवं वैदिक आर्य मर्यादा से विचलित न हो जाय?"

रासलीला के इस स्थल के वर्णन में भागवतकार ने आलिंगन, नीवी, स्तन, नखक्षत आदि कुछ शब्दों का ऐसा प्रयोग किया है, जो सामान्य जनवर्ग में अश्लीलता एवं दुराचार का प्रचार कर सकते हैं, परन्तु वह तुरन्त ही सँभल भी गया है और समस्त प्रसंग को आध्यात्मिक क्षेत्र में ढालकर पाठकों की

१—दशम स्कन्ध अध्याय २९ श्लोक १०, ११

[illegible] करते हैं ।

रास-मग्न गोपियों को [illegible] अभिमान होने लगा कि भगवान के साथ रमण करने के कारण वे सर्वश्रेष्ठ हैं, तो श्रीकृष्ण उनका गर्व भंग करने के लिये अन्तर्धान हो गये । भागवतकार ने दशम स्कन्ध के तीसवें अध्याय में गोपियों की कृष्ण के विरह में व्याकुल एवं दयनीय दशा का अत्यन्त मर्मस्पर्शी एवं हृदय-द्रावक चित्रण किया है । इकतीसवें अध्याय में गोपिकाएँ विरहावस्था में जो करुण गीत गाती हैं, वह भी करुणा एवं भाव-व्यंजना की दृष्टि से अनुपम है । इस करुण रुदन से अभिमान का भी मान गलित एवं द्रवित हो गया, [illegible] की [illegible] ने गर्व की [illegible] को छार-छार कर दिया । आत्मा फिर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गई और परमात्मा ने उसे अपना दर्शन देकर कृतार्थ कर दिया । श्रीकृष्ण प्रगट हो गये और गोपियों को सांत्वना देते हुये कहने लगे : "मैं तो तुम्हारे पास ही था ।" अब महा रास प्रारम्भ हुआ । जैसे नन्हा-सा शिशु निर्विकार भाव से अपनी परछाईं के साथ क्रीड़ा करता है, वैसे ही रमा-रमण ब्रजसुन्दरियों के साथ विहार करने लगे ।[2] भगवान का संस्पर्श पाते ही गोपिकायें प्रेम और आनन्द से विह्वल हो गईं । वे अपने शारीरिक शृंगार को सँभालने में असमर्थ हो गईं । भागवतकार महारास का शृंगारमय वर्णन करने के उपरान्त हमें फिर सम्हाल लेता है और कहता है : "प्रभु सत्यकाम हैं । यह लीला, प्रेम-भाव उनके अन्दर अवरुद्ध है, उनके वश में है ।" (१०-३३-२६)

श्रीकृष्ण, कुछ काल उपरान्त, मथुरा पहुँचे । कंस जैसे आततायी को मारकर अपने माता-पिता का उद्धार किया और महाराज उग्रसेन को फिर सिंहासन पर बैठाया । जब बाल-लीलाओं की स्मृति जाग्रत हुई, तो अपने सखा उद्धव को गोपियों के पास समाचार लाने के लिये भेजा । भागवत में

१—दशम स्कन्ध २९-४६

२—दशम स्कन्ध अध्याय ३३, श्लोक १७ ।

उद्धव के कथन अत्यन्त संयत और आश्वासन-प्रद हैं। गोपियाँ एक भ्रमर को सम्बोधन करके कुछ जलीकटी बातें उसे अवश्य सुना देती हैं,[1] परन्तु सूर-सागर जैसी व्यंग्य और उपालम्भ से भरी उक्तियाँ उसमें दिखाई नहीं देतीं। यह प्रसंग भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध है। अपने अनन्य प्रेम-भाव को प्रकट करती हुई एक गोपी भ्रमर से कहती है: "भ्रमर! हम सच कहती हैं। एक बार जिसे जिसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता। इसी प्रकार कृष्ण से प्रेम करके, अब यदि हम चाहें भी, तो उनसे प्रेम करना नहीं छोड़ सकतीं। भगवान की लीला-रूप-सुधा की कुछ बूँदें भी जिन्हें प्राप्त हो जाती हैं, उनके रागद्वेषादि सब द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।" "जैसे कृष्णसार मृग की पत्नी भोली-भाली हरिणियाँ बधिक की वीणा का विश्वास कर लेती हैं और उसके जाल में फँसकर मारी जाती हैं, वैसे ही हम उस कपटी कृष्ण की बातों में आकर कामव्याधि से मारी गईं।"

विरह व्यथित गोपियों के पास उद्धव कई महीने रहे और उन्हें श्रीकृष्ण की लीलायें सुना-सुनाकर आश्वासन और आनन्द देते रहे। वे स्वयं गोपियों की श्रीकृष्ण में तन्मयता देखकर प्रेम से भर गये और उनके समीप ही रह कर वृन्दावन की कोई लता या पादप बन जाने की आकांक्षा करने लगे। प्रेम की साक्षात् प्रतिमा व्रजांगनाओं की चरण-धूलि का निरन्तर सेवन करने के लिये वे लालायित हो उठे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में हरिलीला की वह समस्त सामग्री मूलरूप में विद्यमान है जिसको आधार बनाकर सूरसागर के भव्य-भवन का निर्माण हुआ। इस भवन में भावुक कलाकार सूर की कान्त कल्पना ने अनेक नवीन रंग भरे हैं और भावप्रवणता की रत्न-राजि ने उसे जगमगा दिया है।

१—दशम स्कन्ध, अध्याय ४७, श्लोक १२-२१

हरिलीला और तंत्र साहित्य

विविध देवोपासना की पद्धति जिन ग्रंथों में प्रतिपादित है, वे तन्त्र ग्रंथ कहलाते हैं। ये तन्त्र तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं: समय-मत, कौल-मत और मिश्र-मत। समय-मत या समयाचार वाले तन्त्र वैदिक मार्ग का अनुसरण करते हैं। वशिष्ठ संहिता इन्हीं के अन्तर्गत है। महामाया तन्त्र, शंबर तन्त्र आदि ६४ तन्त्रों को कौल-तन्त्र या कौल-मत कहा जाता है। कौल-मार्ग तथा वेद-मार्ग दोनों का अनुसरण करने वाले तन्त्र मिश्र-मत में परिगणित किये जाते हैं।

तन्त्र साहित्य का प्रभाव बौद्ध एवं जैन दोनों मतों पर पड़ा। बौद्धों की वज्रयान शाखा ने विशुद्ध रूप से तन्त्र-मत को आगे बढ़ाया। जैनियों ने ॐ और ह्रीं (प्रणव और माया) जैसे बीजाक्षरों को शक्ति तन्त्रों से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया।[1] बौद्ध तन्त्रों का प्रभाव सिद्ध योगियों तथा नवनाथों पर भी पड़ा।

शैव-शाक्त-तन्त्र शिव और शक्ति को प्रधान उपास्य देव मानकर चले हैं। वामन पुराण (६।८६—९१) में शैवों के चार सम्प्रदाय लिखे हैं: शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। कालदमन को यामुनाचार्य ने कालामुख नाम दिया है।[2] इन सम्प्रदायों के मूल ग्रन्थों को शैवागम नाम से अभिहित किया गया है। इन तन्त्रों के तीन भेद हैं: (१) शिव तन्त्र द्वैत परक है; (२) रुद्रतंत्र द्वैताद्वैत परक है और (३) भैरव तन्त्र अद्वैत परक है। काश्मीर देश में प्रचलित शैवागम प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक दर्शन के नाम से प्रख्यात है।

शाक्त तन्त्र संख्या में अधिक हैं, पर शाक्त-पूजा पद्धति के नितान्त गोपनीय होने के कारण, वे बहुत कम प्रकाशित हुये हैं। शाक्तों के सात्त्विक आगमों को तन्त्र, राजस को यामल और तामस को डामर कहा जाता है।

१—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५४४।

२—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५४५।

कुलार्णव तन्त्र के तृतीय उल्लास में इन्हीं चार साधनाओं का वर्णन है, जिनमें मंत्र-योग, भक्ति योग, कर्म-योग और ज्ञान-योग की चर्चा है।

शैव दर्शन में शिव, शक्ति और बिन्दु—ये तीन रत्न माने जाते हैं। इन्हीं को कर्ता, करण और उपादान भी कहते हैं। शक्ति शिव की इच्छा शक्ति है। बिन्दु शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का है। शुद्ध बिन्दु को महामाया और अशुद्ध को माया कहा गया है। बिन्दु से ही जगत की उत्पत्ति होती है।

शिव को पति कहते हैं। वही परमेश्वर हैं। जीव परमेश्वर के ही स्फुलिंग रूप हैं। इनकी संज्ञा पशु है, क्योंकि ये कार्यकरण आदि कला से बद्ध और परवश हैं। महेश्वर सर्वशक्तिमान, अनुग्रह शक्ति के आधार और जीवों के पालक हैं। पशु (जीव) पाश (मल-कर्म आदि) से बद्ध होकर परतन्त्र हो जाता है और परमेश्वर के प्रसाद (अनुग्रह) से ही मुक्तिलाभ करने में समर्थ होता है। शिव नित्य मुक्त हैं, परन्तु मुक्त जीव शिवत्व से सम्पन्न होकर भी परमेश्वर के अधीन रहते हैं। मल के अपनयन और मोक्ष की प्राप्ति का एक ही साधन है—परम शिव की अनुग्रह शक्ति जिसे तांत्रिक भाषा में "शक्ति पात" कहते हैं।[1]

महेश्वर के हृदय में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उनके दो रूप हो जाते हैं: शिव तथा शक्ति। जैसे मिठास के बिना मधु और ज्योत्स्ना के बिना चन्द्र की स्थिति नहीं है, वैसे ही शक्ति के बिना शिव की।[2] न तो शिव शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित है।

त्रिकदर्शन के साधना-पथ में न कोरे ज्ञान की प्रधानता है और न केवल भक्ति की। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामंजस्य है।

जैसे शैव-तंत्र शिव को परम तत्व कहते हैं, वैसे ही शाक्त-तंत्र शक्ति को, परन्तु वस्तुतः तत्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है, न शक्ति की; प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को ही परम शिव और पराशक्ति कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो शिवतत्व तथा शक्तितत्व है, वही त्रिपुरामत में कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और वही वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा हैं।

१—कल्याण साधनांक, प्रथम खंड, पृष्ठ ८६।८७

२—यह वैसी ही उक्ति है जैसी ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्मखंड, अध्याय १५, श्लोक ५८-६१ में कृष्ण और राधा के सम्बन्ध में कही गई है।

इसी आधार पर उसमें इष्ट देवों की भी कल्पना की गई है और इन इष्ट देवों की सिद्धि के लिये जो यंत्र बनाये गये हैं, वे भी उसी रूप के हैं।

सुविख्यात श्रीयन्त्र[1] भगवती त्रिपुरसुन्दरी का यन्त्र है। इसे यंत्रराज अथवा सर्वश्रेष्ठ यंत्र भी कहते हैं। इस यंत्र में समग्र ब्रह्मांड की उत्पत्ति और उसका विकास दिखलाया गया है। यंत्र के भीतरी वृत्त में एक केन्द्रस्थ बिन्दु है और उसके चारों ओर नौ त्रिकोण हैं। इनमें से पाँच त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी और चार अधोमुखी हैं, जो क्रमशः शक्ति और शिव के द्योतक हैं। ब्रह्मांड में यही सौर जगत का भी रूप है, जिसमें सूर्य केन्द्रस्थ बिन्दु है और नौ त्रिकोण नवग्रह हैं। मानव शरीर में भी इसी प्रकार की प्रक्रिया दिखलाई देती है और रामलीला का रूपक तो इसी मंडलाकार यन्त्र को चरितार्थ कर रहा है।

अतएव जैसा अन्य अनेक विद्वानों का मत है, हम भी उपर्युक्त विवरण से इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तंत्रवाद के आदि नाथ परम शिव और परा शक्ति हरिलीला के कृष्ण और राधा ही हैं। पद्मपुराण, विष्णुपुराण, महाभारत आदि में शिव और कृष्ण की एकता सम्बन्धी कई श्लोक मिलते हैं।[2]

१—कल्याण, शक्ति अंक, पृष्ठ ५६२-६५

२—शिवाय विष्णु रूपाय विष्णवे शिव रूपिणे।
शिवस्य हृदये विष्णुः विष्णोश्च हृदये शिवः॥
एक मूर्ति स्त्रयो देवा ब्रह्मा विष्णु महेश्वराः॥
त्रयाणामन्तरं नास्ति गुणभेदाः प्रकीर्तिताः॥

पद्मपुराण, भूमिखंड २

इसी सम्बन्ध में पद्मपुराण, पाताल खंड, अध्याय ७३, श्लोक ५१ भी देखने योग्य है। विष्णुपुराण, ५।३३।४६ में भी लिखा है:—

अविद्या मोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः।
वदन्ति भेदं पश्यन्ति चावयोरन्तरं हर॥

ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्ण जन्मखंड, उत्तरार्ध, ७३।५३ में इस एकता का प्रतिपादन इन शब्दों में हुआ है: "चतुर्भुजोऽहं वैकुंठे शिवलोके शिवः स्वयम्।" वायुपुराण, अध्याय २५, श्लोक २० से २५ तक महादेव के वाक्यों में यह एकता अत्यन्त स्पष्ट रूप से कथित हुई है:—

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

हरिलीला और आधुनिक विज्ञान

आधुनिक विज्ञान अपनी प्रयोग-परीक्षाओं से निकलकर आज चिन्तन की जिस अवस्था में पहुँचा है, वह भारतीय मनीषा के बहुत कुछ निकट है। हमारे यहाँ प्रकृति को अजा कहा गया है। जो अजा है, वह अविनाशी भी है। विज्ञान भी मैटर को अविनश्वर (Indestructible) कहता है। उसके दो नियम (Law of conservation of energy and conservation of matter) शक्ति संरक्षण और द्रव्य संरक्षण भी इसी ओर संकेत करते हैं। विज्ञान द्रव्य की तीन अवस्थायें मानता है: गैसीय (Gaesic), तरल (Liquid) और ठोस (Solid)। यह तीनों अवस्थायें हमारे यहाँ वायु, जल और पृथ्वी के रूप में प्रकृति का परिणमन कहलाती हैं। तैत्तिरीय उपनिषद की ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रथम अनुवाक में इस परिणमन का प्रकार इस प्रकार दिया है:—

शेष टिप्पणी पिछले पृष्ठ की

प्रकाशंचाप्रकाशंच जंगमं स्थावरंच यत्।
विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम् ॥२०॥
अहमग्निर्भवान् सोमो भवान् रात्रि रहं दिनम्।
भवान् तमहं सत्यं भवान् क्रतुरहं फलम् ॥२१॥
भवान् ज्ञानमहंज्ञेयं यज्जपित्वा सदा जनाः।
मां विशन्ति त्वयि प्रीते जना सुकृतिकारिणः ॥२२॥
आत्मानं प्रकृतिं विद्धि मां विद्धि पुरुषं शिवम्।
भवानर्द्धं शरीरं मे त्वहन्तव यथैव च ॥२३॥
वाम पार्श्वमहम् मह्यं श्यामं श्रीवत्सलक्षणम्।
त्वंचवामेतरं पार्श्वं त्वहं वै नीललोहितः ॥२४॥
त्वंच मे हृदयं विष्णो तव चाहं हृदि स्थितः।
भवान् सर्वस्य कार्यस्य कर्ताऽहमधिदैवतम् ॥२५॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः॥

पाश्चात्य विज्ञान आकाश जैसी अवस्था को अभी स्वीकार नहीं कर सका है, पर उसकी गैसिक-अवस्था वायु और अग्नि की सम्मिलित अवस्था का स्वरूप जान पड़ती है। अन्य दो अवस्थायें स्पष्ट हैं।

विज्ञान विश्व की घटनाओं के मूल में सन्निहित नियमों की खोज करता है। वह हमें बताता है कि अमुक घटना कैसे घटित होती है और वह क्यों किन्हीं विशेष नियमों से बाध्य है। रासायनिक प्रक्रिया में स्थिर (constant), गुणिक (multiple) तथा अन्योन्य (reciprocal) अनुपात (proportion) के जो तीन नियम निर्धारित किये गये हैं, उनसे विज्ञान इस परिणाम पर अवश्य पहुँचा है कि द्रव्य अणु रूप है। भारत का कणाद ऋषि तथा यूनान का डेमोक्रीटस इसी मत को मानता है। पाश्चात्य देशों में यह डाल्टन की ऐटौमिक थ्यौरी के नाम से आजकल प्रख्यात है।

विज्ञानवेत्ता अणु (molecule) से भी सूक्ष्म परमाणु (atom) को मानते हैं। हमारे ऋषियों की मान्यता भी यही है। आधुनिक रसायन शास्त्री लगभग ९४ मूल तत्व स्वीकार करता है और उन्हें आठ परिवारों में विभाजित करता है। भौतिक शास्त्र के अनुसार प्रत्येक मूलतत्व विशिष्ट परमाणुओं का ही संघात है। परमाणु पहले अटूट समझे जाते थे, परन्तु जब रेडियमधर्मी परमाणु स्वयं टूटने वाले सिद्ध हुए, तो वैज्ञानिकों ने सोचा कि परमाणु तोड़े भी जा सकते हैं। अब अवस्था यह है कि सभी प्रकार के परमाणु कृत्रिम उपायों से तोड़े जा सकते हैं। एटम बम और हाइड्रोजन बम का निर्माण इसी सिद्धांत के आधार पर हुआ है।

यदि परमाणु तोड़ा जा सकता है, तो उसके अन्दर कौन-सी सामग्री उपलब्ध होती है? दूसरे शब्दों में परमाणु का निर्माण किन तत्वों से हुआ है? इस प्रश्न पर भी वैज्ञानिकों ने विचार किया। सन् १९११ में रूथरफोर्ड ने और सन् १९१३ में बोर ने यह बताया कि परमाणु के दो भाग हैं: एक केंद्रीय और दूसरा केन्द्र-बाह्य। केन्द्रीय भाग (nucleus) में परमाणु के आयतन (volume) का अत्यन्त नगण्य अंश रहता है, परन्तु वह धनात्मक वैद्युत तत्व से ओतप्रोत है। केन्द्र-बाह्य भाग (extra-nuclear part) में कई ऋणात्मक वैद्युत तत्व या ऋणाणु (electrons) होते हैं, जो केन्द्रीय भाग

से चारों ओर निश्चित कक्षाओं में परिभ्रमण करते हैं। ये केन्द्रीय धनात्मक विद्युत तत्त्व के समान अनुपात में रहते हैं, जिससे परमाणु विद्युत-समावस्था (electro-neutral) में बना रहता है।

१९३१-३२ के आस-पास क्यूरी, जूलियट और चाडविक ने, जो खोज की, उसके अनुसार अब परमाणु (atom) में नीचे लिखे तत्त्व माने जाते हैं:—

केन्द्रीय भाग—यह धनाणुओं (protons) और उदासीनाणुओं (neutrons) से मिलकर बना है, जो इसे आवश्यक भार (mass) और व्यापृत शक्ति (charge) देते हैं।

केन्द्र बाह्यभाग—परमाणु विद्युत-समावस्था में रहता है। अतएव इसके केन्द्र-बाह्य भाग में ऋणाणुओं (electrons) की संख्या ऐसी रहती है, जो केन्द्रीय धनाणुओं की संख्या के समानअनुपात में हो।

वैज्ञानिकों ने एक ऐसे तत्त्व की भी खोज की है, जिनमें धनाणुओं की-सी व्यापृत शक्ति (positive charge) और ऋणाणुओं (electrons) के समान भार (mass) होता है। इनका नाम Positrons है जिन्हें धनाणु-ऋणाणु कह सकते हैं। वैज्ञानिक इन सबसे भी अधिक सूक्ष्म अवस्था वाले तत्वों की कल्पना कर रहे हैं, जिन्हें वे Photons या प्रकाशाणु कहते हैं। ये अज्ञेय हैं।

ऊपर लिखी आधुनिक वैज्ञानिक खोज की मीमांसा में सबसे अधिक आवश्यक तथ्य की बात यह है कि विज्ञानवेत्ता परमाणु का रूप सौर जगत की सूक्ष्म आकृति के समान अनुभव करने लगे हैं। सौर जगत (solar system) का केन्द्र (nucleus) सूर्य है और इस सूर्य के चारों ओर ग्रह और उपग्रह परिभ्रमण कर रहे हैं। इन ग्रहों और उपग्रहों की कक्षा (orbit) निश्चित है। इसी प्रकार परमाणु के केन्द्र (nucleus) के चारों ओर ऋणाणु (electrons) चक्कर काटते हैं और उनकी कक्षा भी निश्चित है। प्रत्येक ऋणाणु अपनी ही कक्षा में घूमता है, दूसरे की कक्षा का अतिक्रमण नहीं करता। इन ऋणाणुओं को, इसी कारण ग्रहीय ऋणाणु भी (Planetary electrons) कभी-कभी कहा जाता है।

वैज्ञानिकों की यह खोज हमारे ऋषियों की उस दिव्य तात्विक दृष्टि का समर्थन करती है, जिसने पिंड में ब्रह्मांड के दर्शन किये। "यत्पिंडे तत् ब्रह्मांडे"—यह उक्ति हमारे साधकों के चिन्तन की सतत सहचरी रही है। जैसे आज का वैज्ञानिक विभिन्न परमाणुओं के अन्दर विभिन्न धनाणुओं, उदासीनाणुओं और

ऋणाणुओं की कल्पना करता है, वैसे ही हमारे ऋषि विभिन्न योनीय पिंडों के निर्माण में पृथक-पृथक तत्वों की अनुभूति करते रहे हैं। ८४ लाख योनियों की कल्पना, आज के वैज्ञानिक प्रकाश में असम्भव नहीं जान पड़ती। और यदि कहीं असम्भव हो भी, तो अकेली मानव योनि, एक रूपा होते हुए भी, कितने विभिन्न उपादानों से बनी है ! जैसे परमाणुओं की समान आकृति होते हुए भी उनके निर्माण-तत्व पृथक-पृथक हैं (हाइड्रोजन परमाणु के केन्द्रीय भाग में एक धनाणु (proton) और उसके चारों ओर चक्कर लगाने वाला एक ग्रहीय ऋणाणु; सोडियम परमाणु के केन्द्रीय भाग में ११ धनाणु और १२ उदासीनाणु (neutrons) तथा ११ ऋणाणु उसकी परिक्रमा करने वाले) वैसे ही मानव की एकरूपता होते हुए भी उसके निर्माण तत्वों में विभिन्नता है। हरिलीला में इसी कारण गोप और गोपियाँ एक स्तर के नहीं हैं। राधा श्रीकृष्ण के जितनी निकट हैं, उतनी चन्द्रावली नहीं। अन्य गोपियाँ जो कात्यायनी का व्रत करती हैं, कृष्ण से और भी दूर हैं। तैत्तिरीय उपनिषद की ब्रह्मानन्दवल्ली के द्वितीय अनुवाक से लेकर पंचम अनुवाक तक एकरूपता में इस विभिन्न-स्वरूपता का इस प्रकार उल्लेख हुआ है:—

"तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एवं। तस्य पुरुष विधतामन्वयं पुरुषविधः।"

निश्चय ही इस अन्नरसमय मानव शरीर से भिन्न उसके भीतर रहने वाला प्राणमय आत्मा है। उससे यह अन्नरसमय शरीर व्याप्त है। यह प्राणमय आत्मा निश्चय ही पुरुष के आकार का है। उस अन्नरसमय आत्मा की पुरुष-तुल्य आकृति में अनुगत होने से ही यह पुरुष के आकार का है। इसी प्रकार प्राणमय शरीर के अन्दर मनोमय पुरुष है और वह प्राणमय शरीर में व्याप्त है। यह मनोमय शरीर भी पुरुष के ही आकार का है। मनोमय के अन्दर विज्ञानमय और विज्ञानमय के अन्दर आनन्दमय आत्मा है। यह भी उसी प्रकार एक में दूसरा व्याप्त और पुरुष के समान आकार वाला है।

पुरुष की भिन्न रूपता उसके कर्मों पर अवलम्बित है। कर्म प्रकृति के सत, रज, तम गुणों पर अवलम्बित हैं और गुण परमाणुओं पर। इसी कारण सबके शरीर एक जैसे परमाणुओं को आकर्षित नहीं कर पाते। विभिन्न योनियों, विभिन्न शरीरों और विभिन्न स्वभावों का यही कारण है।

परमाणु और सौर जगत तथा पिंड और ब्रह्मांड की समरूपता का समर्थन ऐतरेय उपनिषद के इस वाक्य से भी होता है:—

"अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत, आदित्यश्चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्......"

यह शरीर भी ब्रह्मांड का ही छोटा रूप है। ब्रह्मांड की अग्नि यहां वाणी है, जो मुख में प्रविष्ट है, वायु प्राण है, आदित्य चक्षु है, दिशायें श्रोत्र हैं, ओषधि वनस्पतियां रोम हैं......इत्यादि। इस प्रकार जो कुछ ब्रह्मांड में है, वह सब सूक्ष्म रूप से शरीर में है। यहां रूपक अलंकार नहीं है, प्रत्युत ऋषि ने तात्विक-स्थिति का वर्णन किया है।

यही क्यों, जैसी स्थिति सौर मंडल की है, वैसी ही परमाणु की है और वैसी ही इस शरीर की है। जो परमाणु का केन्द्र (nucleus) और सौरमंडल का सूर्य है, वही शरीर का आत्मा है। जैसे परमाणु में प्रोटोन (धनाणु) ऋणाणुओं (electrons) को सम्हाले हुए हैं और सूर्य सौरमंडल के ग्रह उप-ग्रहों को सम्हाले हुए है, वैसे ही आत्मा मन, बुद्धि, इन्द्रियादि को सम्हाले हुए है। और यदि आर्य ऋषियों की वाणी को आदर दे सकें, तो आगे बढ़कर यह भी कह सकते हैं कि परमात्मा इस निखिल ब्रह्मांड को सम्हाले हुए है। जब परमाणु, शरीर और सौर जगत में एक ही नियम कार्य कर रहा है, तो निखिल ब्रह्मांड में क्यों नहीं ? वेद ने इसी हेतु प्रभु को जगत और तस्थुष अर्थात् चर-अचर-रूप समग्र विश्व का आत्मा कह दिया है। विज्ञान की एकस्वरूपता तथा समान व्यवस्था की खोज एक दिन उसके मुख से इन नियमों के नियामक प्रभु को भी स्वीकार करा लेगी।

हाँ, तो परमाणु के अन्दर, सौर जगत के अन्दर और इस शरीर के अन्दर जो एक को केन्द्र मानकर अन्य अनेक परिभ्रमण कर रहे हैं, वह कृष्ण को केन्द्र बनाकर गोपियों का नृत्य करना नहीं तो और क्या है ? रासलीला का यही तो रूप है।

आज का मानव प्रकृति में इतनी बुरी तरह फँस गया है कि उसे आत्मा की सुध भी नहीं रही। पर प्रकृति के अन्तस्तल का उद्घाटन वैज्ञानिक की प्रयोगशाला से बाहर निकल कर अनेक मनीषियों को फिर आत्मतत्व की ओर उन्मुख कर रहा है। मार्ग तो दो ही हैं: चाहे अन्दर से बाहर चलो और चाहे बाहर से अन्दर; चाहे आत्मा को पहिचान कर प्रकृति को पहिचान लो और चाहे प्रकृति को पहिचान कर आत्मा को। गति और प्रतिगति (process and counter-process) दोनों गन्तव्यस्थल तक पहुँचा देंगी।

हमारे ऋषि अध्यात्मप्रिय थे। उन्होंने देखा कि जो अध्यात्म में हो रहा है, वही अधिदैव और वही अधिभूत में भी है। वे अधिभूत को पकड़ कर अधिदैव और अध्यात्म के द्रष्टा नहीं बने थे, प्रत्युत जीवन में उन्होंने सर्वप्रथम अध्यात्म को पकड़ा था और उसी के सहारे वे समस्त बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त कर सके थे। यही कारण है कि उनकी कृतियों में जड़ पदार्थ से लेकर चेतन सत्ता तक, सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक की समस्त घटनाओं, स्थितियों, संघर्षों और विकास क्रमों का एक ही स्थान पर सजीव वर्णन उपलब्ध हो जाता है।

आज विज्ञान प्रकृति को पकड़कर प्रतिगति के द्वारा फिर उन्हीं तथ्यों का उद्‌घाटन करने जा रहा है जो हमारी आध्यात्मिक संस्कृति ने एक दिन इस विश्व के समक्ष प्रस्तुत किये थे।

हरिलीला पर एक विहंगम दृष्टि

वैदिक, पौराणिक, तांत्रिक तथा आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य का आधार लेकर हमने पीछे, जिस [illegible] में वर्णित हरिलीला के साथ सामञ्जस्य प्रदर्शित किया है, उसके विषय में कई बातें विचारणीय हैं। हरिलीला में भगवान का सौन्दर्य, लीला रूप सृष्टि की रचना, पोषण रूप अनुग्रह (जो जीवों को विमुक्ति की ओर प्रेरित करके उनमें स्वाधीन भगवान को जागृत करता है), प्रकृति एवं स्थिति के उभय क्षेत्रों में रास का व्यापक रूप आदि कई ऐसे प्रमुख तत्त्व हैं, जिन्हें दृष्टि में रखकर हमने प्रथम प्राचीन साहित्य का मंथन किया और आधुनिक विज्ञान की खोजों पर भी कुछ विचार प्रस्तुत किये। उपर्युक्त तथ्यों के सम्बन्ध में जो विवेचन हो सका है, उसका निश्चित परिणाम, पुराकालीन साहित्य तथा आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के समन्वय में है। विज्ञान सृष्टि में जिस पराकोटि की व्यवस्था के दर्शन करता है, वह अपने आप उत्पन्न नहीं हो सकती। उसके मूल में एक परम व्यवस्थित मस्तिष्क है, चेतना है। व्यवस्था सौंदर्य का अपर नाम है। अतः यह चेतना सुन्दर है—ऐसी मान्यता प्रत्येक वैज्ञानिक की हो सकती है। वेद, पुराण तथा तन्त्र मुक्तकण्ठ से इसे स्वीकार कर ही रहे हैं। प्रभु का पोषणरूप अनुग्रह हमारे विकास का परम आधार है, इसे हम अपने प्राचीन साहित्य से तो सिद्ध कर ही आये हैं, वैज्ञानिक भी अब, अंधकार में टटोलते हुए, किसी से प्रकाश पाने के लिये छटपटा उठे हैं†। रासलीला का व्यापक रूप सौर जगत, परमाणु, निखिल ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के अवयवों के अंशों से निर्मित देहधारियों के शरीर में स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित हो रहा है। रही चरितों तथा गाथाओं की बात—वह बहुत कुछ कवि-कल्पना पर आश्रित है—पर है उद्देश्य एवं प्रयोजन से परिपूर्ण।

यह सत्य है कि ब्रह्मवैवर्तकार की विरजा सम्बन्धी कथा न भागवत में है और न पद्म आदि अन्य पुराणों में। ब्रह्मवैवर्तकार और पद्म पुराण के राधा-भवन-सम्बन्धी वर्णन भी भागवत में उपलब्ध नहीं होते। गोपिकाओं की

---

† "If we are to obtain more solid assurances, it cannot come to the mind of man groping feebly in the dim light of unassisted reason, but only by a communication made directly from this supreme Mind to the finite mind of man." (Science & religion—by seven men of science, Lecture by Dr. Fleeming).

संख्या और उनके नाम भी सर्वत्र समान नहीं हैं। इसी प्रकार के अन्य कथा-सम्बन्धी वैपरीत्य प्रभूत मात्रा में हैं, पर जो प्रमुख तत्वों से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री है, उसकी एकता विभिन्न आभूषणों में ओत-प्रोत स्वर्ण की एकता के सदृश ही है। कथायें भी रूपक हैं, जो विभिन्न आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादन करती हैं।

वास्तव में हरिलीला आत्म-शक्ति की विभिन्न क्रीड़ाओं का चित्रण है। राधा, कृष्ण, गोपी आदि सब अन्तःशक्तियों के प्रतीक हैं। मानव किस प्रकार पार्थिवता से सम्बद्ध हो आशाओं के पाश में आवद्ध होता है, फिर किस प्रकार प्रेय से श्रेय की ओर बढ़कर अपना परम कल्याण प्राप्त करता है, हरिलीला के वर्णन में इसी का सजीव चित्र खींचा गया है।

गो का अर्थ है इन्द्रिय। अतः गोप या गोपी का अर्थ हुआ इन्द्रियों की रक्षा करने वाला। जैसे बाह्य इन्द्रियाँ आन्तरिक मनोवृत्तियों के स्थूल रूप हैं, वैसे ही गोपिकायें इन मनोवृत्तियों की प्रतीक हैं, जो बाह्योन्मुख से अन्तर्मुख होने के लिये, अन्तरात्मा या भगवान कृष्ण का सामीप्य प्राप्त करने के लिये कात्यायनी का व्रत रखती हैं और यमुना-स्नान करती हैं। यह व्रत भी प्रेरणा-शक्ति का तथा स्नान क्रिया-शक्ति का द्योतक है। बाह्य पूजा–विधान अन्दर की भावना-शक्ति को प्रकट करता है। इस प्रकार साधक एक विशेष दिशा में प्रेरित होकर, भावना-शक्ति के सहारे क्रिया-शक्ति में अवगाहन करने लगता है। इसका परिणाम होता है भेद-भाव से मुक्ति पाना। गोपिकायें भी लोक-लज्जा आदि पाशों से मुक्त हो जाती हैं। कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं, जो वंशी-ध्वनि से, आदि संगीत-स्वरों से, गोपियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एक मन, एक प्राण होकर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती हैं, वैसे ही गोपियाँ वंशी-ध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। इसके पश्चात् रासलीला का नृत्य आता है, जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों को कृष्ण-सामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहम्मन्यता का स्फुरण करता है। अतः पूर्ण मग्नता की अवस्था नहीं आ पाती। आत्म-प्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे ही कृष्णरूपी आत्मज्योति अन्तर्हित होती है, आत्ममग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहंकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य-प्राप्ति के लिये इसी हेतु आवश्यक मानी गई है। अहंकार के नष्ट होते ही, पार्थक्य के समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनोवृत्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं, गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं। यही है आत्मा का पूर्णानन्द में लीन होना। भारतीय संस्कृति का यही चरम लक्ष्य है।

पंचम अध्याय

सूरदास और पुष्टिमार्ग

सूरदास और पुष्टिमार्ग

१

सिद्धान्त पक्ष

परब्रह्म—शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों है। प्रकृतिजन्य, निश्चेतन शारीरिक गुणों से हीन होने के कारण निर्गुण और आनन्दात्मक स्वीय दिव्य धर्मों से युक्त होने के कारण वह सगुण कहलाता है।[1] सत्, चित, और आनन्द—यह तीन उसके प्रमुख गुण अथवा धर्म हैं। इन्हीं के कारण उसे सच्चिदानन्द स्वरूप कहते हैं। शुद्धाद्वैतवादी इसी को परब्रह्म कृष्ण का नाम देते हैं। यह कृष्ण अपनी शक्ति से सदैव संयुक्त रहते हैं। अतः इन्हें श्रीकृष्ण कहा जाता है।

आचार्य वल्लभ के मतानुसार परब्रह्म युक्ति से अगोचर तथा समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं।[2] वे अणु से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् हैं। वे सर्वव्यापक, अचल और कूटस्थ होते हुए भी चल, अंदर होते हुए भी बाहर, निकट होते हुए भी दूर, फल-प्रदाता होते हुए भी एक रस और सर्व समर्थ हैं। सूरदास भी परब्रह्म श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यही धारणा रखते हैं, यह उनकी नीचे लिखी पंक्तियों से स्पष्ट है:—

१—अच्छर, अच्युत, निराकार, अविगत है जोई।
आदि अन्त नहिं जाहि, आदि अन्तहिं प्रभु सोई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७६३)

१—ब्रह्मणि प्रापिता एव धर्मा निषिध्यन्ते, अप्राकृता एव बोध्यन्ते, अन्यथा तद्बोधनमेव न स्यात्। अणुभाष्य ४-४-१६ पृष्ठ १४१८

२—अणुभाष्य १-१-४ पृष्ठ १३६ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—"सर्वभवन समर्थत्वात् विरुद्ध सर्व धर्माश्रयत्वेन······ब्रह्मणो युज्यते। १-२-२४ के अणुभाष्य पृष्ठ ३४८ पर लिखते हैं:—नहि विरुद्ध धर्माश्रयत्वम् भगवद् व्यतिरिक्ते संभवति सर्वभवन सामर्थ्या भावात्।

२—अविगत आदि अनन्त अनूपम, अलख पुरुप अविनाशी।
पूरन ब्रह्म, प्रकट पुरुपोत्तम, नित निज लोक विलासी॥
सूरसारावली १

३—कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर, हरत विलम्ब न लावै।
ताकों लिये नन्द की रानी नाना रूप खिलावै॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ७४४)

४—कबहुँक अहुठ परग करि वसुधा, कबहुँक देहरि उलंघि न जानी।
कबहुँक सुर मुनि ध्यान न पावत, कबहुँ खिलावत नन्द की रानी॥
कबहुँक अखिल लोक उदरहि में, कबहुँ मेखला उदर समानी।
कबहुँक आरि करत माखन की, कबहुँक भेप दिखाइ विनानी॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ७६२)

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में परब्रह्म का आध्यात्मिक स्वरूप अक्षर ब्रह्म है, जिसे परब्रह्म का धाम[1] और ज्योतिरूप ओंकार भी कहा जाता है। इसी अक्षर ब्रह्म के सतधर्म से जगत, चित से जीव और आनन्द से अन्तर्यामी का आविर्भाव होता है।[2] यही स्रष्टा, पालक और संहर्ता कहलाता है।[3] ब्रह्म, शिव,

---

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ३-३-३३ के भाष्य में पृष्ठ १०८६ पर लिखते हैं:—एतेन अक्षरस्य पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वम् निश्चीयते। अतः पुरुषोत्तम अपने धाम अक्षर ब्रह्म से भी ऊपर है। इतोऽपि अक्षरातीतः पुरुषोत्तमः इति अवगम्यते। पुनः ३-३-४७ के भाष्य में पृष्ठ ११३४ पर इसी आशय को प्रकट करते हुए लिखते हैं:—धामपदं पुरुषोत्तमस्य अक्षरं ब्रह्म सहजं स्थानम् इति। ३-३-५४ के भाष्य में पृष्ठ ११५२ पर इसी अक्षर ब्रह्म रूपी धाम को आचार्य जी ने व्यापी वैकुण्ठ कहा है।

२—विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।
आनंदांश स्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः॥ निबन्धतत्वदीप प्रकरण।
तथा ब्रह्मसूत्र २-३-४३ के अणुभाष्य, पृष्ठ ७५२-७५३ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—विस्फुलिंगा इवाग्ने हि जड़+जीवा विनिर्गताः। सर्वतः पाणि पादान्तात् सर्वतोऽक्षि शिरो मुखात्॥ निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः। सदंशेन जडा पूर्वे चिदंशेनेतरेऽपि।

३—कूर्म पुराण उत्तरार्द्ध अध्याय ४, श्लोक २१, २२, और २३ में परब्रह्म
शेष अगले पृष्ठ पर

और विष्णु, प्रकृति-पुरुष और नारायण सब इसी के अंशरूप हैं। परब्रह्म का आधिदैविक स्वरूप पुरुषोत्तम के नाम से प्रख्यात है। यही परब्रह्म का सगुण लीला रूप है।[1] इसमें अनन्त नित्य गुण और अपरिमित आनन्द है। इसे अक्षर ब्रह्म से भी उत्तम कहा जाता है। परब्रह्म का भौतिक स्वरूप जगत है। आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म को जगत का समवायि कारण माना है। अणुभाष्य १-४-२३ पृष्ठ ५३६-५३७ पर आप लिखते हैं:—"अतो ब्रह्मरूपेण सत्यस्य जगतो ब्रह्मैव समवायि कारणम्......न प्रकृतिः।"

जीव—आचार्य शंकर के विरुद्ध वैष्णव सम्प्रदाय में जीव को सत्य माना गया है, क्योंकि वह ब्रह्म का चिदंश है। अग्नि के विस्फुलिंगों की भाँति जीव अनेक हैं। सूरदास ने पंचम स्कन्ध के चतुर्थ पद में जीव के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है:—

जिय करि कर्म जन्म बहु पावै। फिरत-फिरत बहुतै श्रम आवै॥
तनु स्थूल अरु दूबर होइ। परआतम को ऐ नहिं दोइ॥
तनु मिथ्या क्षण भंगुर मानों। चेतन जीव सदा थिर जानों॥
जीवकों सुख दुख तनु संग होई। जोर विजोर तन के संग सोई॥
देह अभिमानी जीवहिं जानें। ज्ञानी जीव अलिप्त करि मानें॥
जीव कर्म करि बहु तन पावै। अज्ञानी तिहि देखि भुलावै॥

गत पृष्ठ की शेष पाद टिप्पणी

की सृजन शक्ति को ब्रह्मा, पालक शक्ति को नारायण जगन्नाथ और संहार शक्ति को काल रुद्र कहा गया है। सूर ने भी त्रिदेवों की एकता सिद्ध की है:—

विष्णु रुद्र विधि एकहि रूप, इन्हें जान मत भिन्न स्वरूप।४।४
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६६)

विष्णु विधि रुद्र मम रूप ये तीनिहूँ दक्ष सों वचन यह कहि सुनायौ॥४।५
सूरसागर (ना०प्र०स० ४००)

१—सूर ने प्रभु का लीलारूप इस प्रकार प्रकट किया है:—

वेद उपनिषद् यश कहै निर्गुणहि बतावै।
सोइ सगुण होइ नंद की दाँवरी बँधावै॥ सूरसागर
वृन्दावन गोवर्धन कुंजन यमुना पुलिन सुदेस।
नित प्रति करत विहार मधुर रस स्यामा स्याम सुवेस॥ सारावली१०१०

ज्ञानी सदा एकरस जानैं। तन के भेद भेद नहिं मानैं॥
आत्म सदा अजन्म अविनासी। ताको देह-मोह बड़ फाँसी॥

इस पद में सूरदास ने जीव को शरीर से पृथक् माना है। शरीर स्थूल और कृश होता रहता है, परन्तु जीवात्मा सर्वदा एकरस बना रहता है। शरीर विनश्वर है। जीवात्मा अजन्मा और अविनाशी है। जीवात्मा कर्म करने वाला है। कर्म ही उसे विविध शरीर धारण करने के लिए बाध्य करते हैं। अज्ञान में ग्रसित जीव इन शरीरों (योनियों) को देख कर भ्रम में पड़ जाता है और समझता है कि आत्मा इन्हीं रूपों का है, परन्तु ज्ञानी ऐसा नहीं समझता। वह आत्मा को शरीर से पृथक् और अलिप्त अनुभव करता है। जीवात्मा का वह स्वरूप वेद, उपनिषद और श्रीमद्भागवत के अनुसार ही वर्णन किया गया है। यद्यपि जीव उतना ही सत्य और नित्य है जितना स्वयं ब्रह्म, फिर भी जीव ब्रह्म नहीं है, वह गीता के शब्दों में—"ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः"—ब्रह्म का सनातन अंश और उसका सेवक है। जीव अणु रूप है, विष्णु विभु रूप। जीव की शक्तियाँ सीमित हैं, ब्रह्म की असीम।[1]

ये जीव शुद्ध, संसारी और मुक्त तीन प्रकार के हैं। शुद्ध जीव ब्रह्म रूप ही हैं और ऐश्वर्यादि आनन्दात्मक धर्मों से युक्त हैं। ये भगवान की नित्य लीला में नित्य भाग लेने वाले हैं।[2] माया में बद्ध जीव संसारी हैं, जो ऐश्वर्यादि धर्मों के तिरोहित हो जाने से दीन, दुखी एवं पराधीन हो जाते हैं। जब ये भक्ति आदि साधनों द्वारा भगवत्कृपा से अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब मुक्त कहलाते हैं।[3] सूर के शब्दों में शुद्ध जीव गोपियों के रूप में भगवान के

१— आचार्य वल्लभ ने ३-३-२६ के अणुभाष्य, पृष्ठ १०५३ पर जीव और ब्रह्म का भेद इस प्रकार प्रकट किया है:— भगवदानन्दादी नाम् पूर्णत्वात् जीवानन्दादीनाम् अल्पत्वात् नाम्नैव समैः धर्मैःकृत्वा ब्रह्मसाम्यम् जीवे उपचर्यते। साम्यमुपैति इति। वस्तुतस्तु न एतैरपि धर्मैःसाम्यम् इति भावः।

२— आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ४-३-१७ के भाष्य में पृष्ठ १३८२ पर लिखते हैं:— तथा प्रति अनुग्रह वशात् स्वान्तः स्थितमपि भक्तं प्रकटी कृत्य तत्स्नेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वलीलारसानुभवं कारयति इति स भक्तो ब्रह्मणा पर ब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान्कामान् अश्नुते इति।

३—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ३-३-३३ के भाष्य में पृष्ठ १०८६ पर लिखते हैं:— वस्तुस्तु पुरुषोत्तम प्राप्तिरेव मुक्तिः इति भावः।

साथ नित्य विहार करते हैं[1] और अनेक तथा विभिन्न होते हुए भी प्रभु के साथ एक रूप होते हैं।[2] संसारी जीव व्यामोहिका माया में फँसे हुए आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं[3] और जब तक भगवान का भजन नहीं करते, तब तक सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाते।[4] मुक्त जीव आवागमन के चक्र से छूट कर पूर्ण पुरुषोत्तम में लीन हो जाते हैं।[5]

गरुड़ पुराण, उत्तर खंड के धर्मकांड, अध्याय ४६ में जीवों का वर्णन इसी से मिलता-जुलता पाया जाता है। इस स्थल के कुछ श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

> नानाविध शरीरस्थाः अनन्ता जीवराशयः।
> जायन्ते च म्रियन्ते च तेषामन्तो न विद्यते ॥३॥
> स्वयं ज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात्परः।
> निर्गुणः सच्चिदानन्दः तदंशा जीव संज्ञकाः ॥७॥
> अनाद्यविद्योपहता यथाग्नौ विस्फुलिंगकाः।
> देहाद्युपाधि सम्भिन्नास्ते कर्मभिरनादिभिः ॥८॥
> सुख दुःख प्रदैः पुण्य पापरूपैर्नियन्त्रिताः ॥९॥
> चतुरशीति लक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम्।
> न मानुषं विनाऽन्यत्र तत्वज्ञानन्तु लभ्यते ॥१३॥

चौरासी लाख योनियों में केवल मानव-योनि ही ऐसी योनि है, जिसमें तत्व ज्ञान की प्राप्ति द्वारा मुक्ति संभव है। अग्नि के स्फुलिंगों की भाँति जीव अनेक हैं और सच्चिदानन्द ब्रह्म के ही अंश हैं। अविद्या-माया के वश में पड़कर सुख-दुख-प्रद, पुण्य-पाप रूप कर्म-जाल में फँसे हुए ये तब तक भ्रमण करते रहते हैं, जब तक माया से छूट नहीं जाते।

जीव-ईश्वर की एकता—जीवात्मा और परमात्मा का प्रेम-सम्बन्ध नित्य है, इस तथ्य का निरूपण सूर ने नीचे लिखी पंक्तियों में किया है:—

१— गोपिन मंडल मध्य विराजत निशि दिन करत विहार। सारावली ४

२— सहस रूप बहु रूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय। सारावली १०००

३— जिय करि कर्म जन्म बहु पावै, फिरत फिरत बहुतै श्रम आवै।

सूरसागर (ना०प्र०स० ४११)

४— जब लगि भजै न चरन मुरारी। तब लगि होइ न भव जल पारी॥

५— जाइ समाइ सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै। २।७

सूरसागर (ना०प्र०स० ३५४)

समुझि री नाहिन नई सगाई।
सुनि राधिके तोहि माधौ सों प्रीति सदा चलि आई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३४३४)

यहाँ राधा जीव का प्रतीक है और माधव परमात्मा का। दोनों का सम्बन्ध (सगाई) सर्वदा से चला आता है। यही बात वेद के "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" शब्दों द्वारा प्रकट की गई है। परन्तु अन्त में सूर ने जीव, ईश्वर और प्रकृति को आचार्य वल्लभ के अनुसार एक ही कह दिया है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव और प्रकृति ईश्वर के ही चित् और सत्‌रूप अंश हैं। जैसे आग से चिनगारी अलग नहीं, समुद्र से बूँद भिन्न नहीं, बूँद और चिनगारी सत्य होते हुए भी समुद्र और अग्नि के ही अंश हैं, इसी प्रकार जीव और प्रकृति सत्य होते हुए भी परमात्मा के ही अंश हैं। अतः तीनों एक ही हैं। जीवों के हीन, तेजस्वी आदि विभिन्न रूप वैसे ही हैं, जैसे अग्नि की छोटी और बड़ी चिनगारियाँ, परन्तु अग्नि और चिनगारी में जैसे स्वरूपगत कोई भेद नहीं है, वैसे ही जीव और ब्रह्म में स्वरूपगत अभेदत्व है। इस सम्बन्ध में सूर की नीचे लिखी पंक्तियाँ देखिये—

(१) प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायौ।

सूरसागर (ना०प्र०स०२३०५)

(२) को माता, को पिता, बन्धु को, यह तो भेंट भई।

सूरसागर (ना०प्र०स० २३०६)

(३) गोपी ग्वाल, कान्ह दुइ नाहीं, ये कहुँ नेंक न न्यारे।

सूरसागर (ना०प्रा०सा० २२२३)

(४) सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥

११०१, सारावली॥

सूर ने और भी कई स्थानों पर जीव तथा ईश्वर की एकता प्रतिपादित की है। ईश्वर ही जन्म लेकर जीव कहलाता है:—

(५) जब ते जग जन्म लियो जीव है कहायो॥६५॥ प्रथम स्कन्ध

सूरसागर (ना०प्र०स० १२४)

(६) पहिले हौं ही हो तब एक।
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक॥

सो हौं एक अनेक भाँति करि शोभित नाना भेष।
ता पाछे इन गुणनि गाए तें हौं रहिहौं अवशेष ॥२। ३८॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३८१)

(७) सूर सिंधु की बूंद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी ॥८२॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ७०६)

(८) जैसे सरिता सिन्धु में मिली जु कूल विदारि।
नाम मिट्यो सलिलै भई तब कौन निवेरै बारि ॥८२॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २२५८)

(९) राधा हरि आधा आधा तनु एकै द्वै ब्रज में ह्वै अवतरि ।३२॥
सूरसागर (न०प्र०स० २३११)

(१०) सूर स्याम नागर इह नागरि एक प्राण तन द्वै द्वै ।८१।
सूरसागर (ना०प्र०स० २५२१)

(११) ब्रह्मरूप द्वितीया नहिं कोऊ तब मन त्रिया जनायो। २६।
सूरसागर (ना०प्र०स० २३०५)

माया—आचार्य शंकर ने माया को अनिर्वचनीय शक्ति कहा है। इसी माया से अभिभूत ब्रह्म का नाम ईश्वर है। ईश्वर ही सृष्टि रचना करता है। ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष और तटस्थ है; अतः इस मिथ्या संसार के मूल में माया ही है। वैष्णव सम्प्रदाय में भी माया मानी गई है, परन्तु वह सांख्य की प्रकृति के समान है। प्रकृति सत, रज, तम की साम्यावस्था का नाम है। यह त्रिगुणात्मिका है। इसी से इस त्रिगुणात्मक संसार या प्रपंच की उत्पत्ति हुई है। आचार्य वल्लभ ने जगत को ईश्वर के सत अंश से उत्पन्न होने के कारण सत्य और 'मेरे तेरे पन' के संसार को मिथ्या कहा है। जगत और संसार में उन्होंने भेद किया है। संसार नष्ट हो जाता है, परन्तु जगत प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता, उसका केवल तिरोभाव होता है और प्रलय के पश्चात्, रचना के समय, वह पुनः आविर्भूत हो जाता है। संसार का नाश भक्ति आदि साधनों से होता है। आचार्य वल्लभ ने माया के दो भेद किये हैं: व्यामोहिका और करण (भागवत सुबोधिनी भाष्य २, ७, ४७)। सूर ने भी माया का यही रूप स्वीकार किया है। सूरसागर के तृतीय स्कन्ध के चौदहवें पद में देवहूति कपिल से माया का स्वरूप पूछती है। कपिल उत्तर देते हैं:—

माया को त्रिगुणातम जानों। सत रज तम ताको गुण मानों॥
जड़ स्वरूप सब माया जानों। ऐसो ज्ञान हृदय में आनों॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३९४)

अतः सूरसागर में माया जड़ प्रकृति ही का रूप है। यह माया भगवान के आधीन है, उनकी दासी है, जैसा नीचे लिखी पंक्तियों से प्रकट होता है:—

सो हरि, माया जा वस माहीं।१४। सूरसागर (ना०प्र०स० ३६४)
माया हरि पद माँहि समावै। सूरसागर (ना०प्र०स० ४६०५)
परम पुरुष अवतार माया जिनकी है दासी।
सूरसागर (ना०प्र०स० २२३६)
सेवत जाहि महेश शेष सुर माया दासी।
सूरसागर (ना०प्र०स० ४८२८)

गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार माया का रूप इस प्रकार है:—

गो गोचर जहँ लगि मनु जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुण बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताके॥

यह विद्या-माया ही आचार्य वल्लभ की करणरूप माया है और अविद्या माया व्यामोहिका माया है। व्यामोहिका भगवान के चरणों की दासी है, परन्तु संसारी जीवों को मोहित करने वाली और नियति-चक्र की परिचालिका है। करण रूप माया जगत की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का चक्र चलाने में सहायक होती है। आचार्य वल्लभ के शब्दों में "माया सर्वभवन सामर्थ्यम्। शक्तिर्वा काचित् अप्रयोजिका, तामपि करणत्वेन स्वीकृत्य इदम् सर्वमेव जगदुत्पादयति पालयति नाशयति च।" भागवत सुबोधिनी भाष्य १०। ५७। १५।

माया-निर्मित संसार की विविध दृश्यावलि एवं प्रपंच-प्रसार अपने मोहक एवं मादक रूप द्वारा जीवात्मा को ममत्व-पाश में जकड़ देता है। यही वह ग्रन्थि है, जो जीव को गृह, धन, पुत्र, कलत्रादि के प्रेम में बाँध देती है।[1] यही वह प्रेयपथ है जिस पर चलकर आत्मा परमात्मा से, श्रेयपथ से दूर हो जाता है। इस लिये सूर ने माया को अनेक बार मोहिनी[2], भुजंगिनी[3]

१—ममेति बध्यते जन्तुर्न ममेति प्रमुच्यते।
गरुड पुराण, ४६। ४३ उत्तरखंड, धर्मकाण्ड

२—कूर्म पुराण उत्तरार्द्ध अ०४, श्लोक १८ में लिखा है:—
अहमेव हि संहर्ता विस्रष्टा परिपालकः।
माया वै मामिका शक्तिर्माया लोक विमोहिनी॥

३—अज्ञान तिमिरान्धानां त्वमेव परमाञ्जनम्।
मायाव्याल गृहीतानां विषवैद्यस्त्वमेव हि॥बृहद ब्रह्म सं० २।२६

नटनी आदि के रूप में प्रकट किया है। लोभ, मोह, क्रोध, छल कपट, दंभ, पाखंड आदि इसी के विभिन्न रूप हैं।

कुछ उदाहरण लीजिये:—

माया नटिनी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।
द्वार द्वार लोभ लागि लै डोलति नाना स्वाँग करावै॥
तुमसों कपट करावति प्रभुजू मेरी बुद्धि भ्रमावै।
मन अभिलाष तरंगिनि करि करि मिथ्या निशा जगावै॥
सोवत सपने में ज्यों संपति त्यों दिखाइ बौरावै।
महा मोहिनी मोहि आत्मा मन करि अघहि लगावै॥
ज्यों दूती पर वधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ४२)

कठिन जु ग्रन्थि परी माया की तोरी जाति न झटके।

सूरसागर (ना०प्र०स० २६२)

माया विषम भुजंगिनि कौ विष उतर्यौ नाहिन तोई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३९५)

हरि तेरी माया को न विगोयो।
नारद मगन भये माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयो।
शंकर को चित हर्यो कामिनी सेज छाँड़ि भुव सोयो॥२९।

सूरसागर (ना०प्र०स० ४३)

तुम्हरी माया महा बली जिन जग बश कीनों।
नेकु चितै मुसुकाइ सबन को मन हरि लीनों॥३०॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ४४)

यह है माया, जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों तक को अपने रूप-जाल में फाँस लेती है; जीवात्मा जिसके वशीभूत होकर अपने घर से दूर हो जाता है और आपत्तियों के बीहड़ वन में बिलखता हुआ घूमता है।[1] मन में पाप की उत्पत्ति माया से ही होती है। इसी माया को सूर ने अविद्या[2] और तृष्णा भी कहा है। सर्वभक्षक गौ का रूपक बाँधकर सूर लिखते हैं:—

१—मुक्तिद्वारं मुखं तेषां पिनद्धमजया हरेः।
न ते पश्यन्ति विभ्रान्ताः संसारध्वान्तवर्त्मनि ॥बृहद् ब्रह्म-संहिता।२।२६

२—कूर्मपुराण उत्तरार्द्ध अ०४ श्लोक १६ में लिखा है:—
ममैव च परा शक्तिर्या साऽविद्येति गीयते।
नाशयामि च तां मायां योगिनां हृदिसंस्थितः॥

माधव जू नैंकु हटकौ गाइ।
निसि वासर यह भरमत इत उत अगह गही नहिं जाइ ॥
छुधित बहुत अघात नाहीं, निगम द्रुम दल खाइ।
अष्ट दश घट नीर अँचवै तृषा तऊ न बुझाइ ॥
छहू रस हू धरति आगे वहै गंध सुहाइ।
और अहित अभक्ष भक्षत गिरा वरनि न जाइ ॥
व्योम नद धर शैल कानन इते चरि न अघाइ ॥
ढीठ निठुर न डरत काहू त्रिगुन हैं समुहाइ ॥
हरै खल बल दनुज मानव सुरनि सीस चढ़ाइ।
रचि-विरचि मुख भौं छवीली चलति चितहिं चुराइ ॥
नील खुर तिमि अरुण लोचन श्वेत सींग सुहाइ।
दिन चतुर्दश खेल खूँदति सो यह कहाँ समाइ ॥
नारदादि सुकादि मुनि जन थके करत उपाइ।
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सूर सकत चराइ ॥३५॥ प्रथम स्कन्ध
सूरसागर (ना०प्र०स० ५६)

माधव, अपनी इस गौ (तृष्णा, माया-प्रकृति) को थोड़ा-सा हटक दो। दिन-रात यह इधर-उधर घूमा करती है और ऐसी भागने वाली है कि पकड़ में तो कभी आती ही नहीं। यह बड़ी भूखी है, कभी तृप्त नहीं होती। वेद रूपी वृक्ष के पत्तों को खा जाती है। अष्टादश पुराण रूपी घड़ों का जल पी जाती है, फिर भी इसकी पिपासा शान्त नहीं होती। षड्दर्शन रूपी रसों को अपने सम्मुख रख लेती है, जिनसे सुहावनी गन्ध निकलती है। इसके अतिरिक्त यह अहितकारी अभक्ष्य पदार्थों को भी खा जाती है, जिनका वाणी द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। आकाश, नदी, पृथ्वी, पर्वत, वन आदि सभी स्थानों पर चरती फिरती है, फिर भी तृप्त नहीं होती। इतनी धृष्ट है, इतनी निष्ठुर है कि किसी से डरती ही नहीं। अपने तीन गुणों के साथ सामने ही बढ़ती जाती है और अपने शिर पर चढ़ाकर देव, मानव, राक्षस, दुष्ट सबको दूर लिये जा रही है। यह छबीली माया मुख, भ्रू आदि को बना-बनाकर मानव मन को आकर्षित करती रहती है। इसके तमोगुण रूपी नीले खुर हैं, रजोगुणरूपी लाल नेत्र हैं, सतोगुणरूपी श्वेत सींग हैं। चौदहों भुवनों में दिन-रात खेल खेलती और घूमा करती है। यह क्या किसी एक स्थान पर स्थिर रह सकती है? नारद, शुकदेव आदि मुनीश्वर जिसका उपाय करते-करते थक गये, उसे मैं कैसे चरा सकता हूँ?

हरि इच्छा करि जग प्रगटायो ।
अरु यह जगत जदपि हरि रूप है तऊ माया कृत जानि ।।[1]

काल—आचार्य वल्लभ ने काल, कर्म आदि को अक्षर ब्रह्म का रूप कहा है:—"स्वभावः कर्म कालाश्च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा ।" (निबंध) प्राचीन ग्रंथों में काल की उपमा शेषनाग से दी गई है । काल-व्याल का रूपक प्रसिद्ध है । सूरदास ने भी काल का इसी रूप में वर्णन किया है । जैसे सर्प सबको खा जाता है और भयावह है, उसी प्रकार काल के गाल में सब समा जाते हैं, सभी उससे भयभीत रहते हैं, भगवान का अनुग्रह ही इससे बचा सकता है । जिसने भगवद्भक्ति नहीं की, प्रभु की सर्व-शक्तिमती अनुकम्पा का आश्रय ग्रहण नहीं किया, वह बार-बार काल-व्याल द्वारा डसा जाता है । सूरसागर की नीचे लिखी पंक्तियों में यही भाव प्रकट किया गया है:—

सूरदास भगवन्त भजन बिनु कालव्याल ले आपु डसायौ ॥१-२०६
सूरसागर (ना०प्र०स० ११७)

इहि कलिकाल व्याल मुख ग्रासित सूर शरण उबरै ॥१-५८॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ११७)

कहीं-कहीं तो सूर ने काल की अग्नि से उपमा दी है; जैसे:—

अजहूँ चेत मूढ़ चहुँ दिशि तें काल अग्नि उपजत झुकि झरहरि ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३१२), प्रथम स्कन्ध ॥१६४॥

काल अग्नि सबही जग जारत । तुम कैसे कै जिअन विचारत ।
सूरसागर (ना०प्र०स० २८४)

काल को समुद्र, नदी और भँवर भी कहा जाता है; इनमें फँसकर प्राणी बच नहीं सकता । काल भी इसी प्रकार सबके लिए मृत्यु रूप है । यह

१—श्वेताश्वतरोपनिषद के १,६ तथा ४,५ और बृहद् ब्रह्म संहिता (जो नारद पांचरात्र के अन्तर्गत है) के १,८ में इसी माया को अजा कहा गया है । जीव इसी दुस्तर अजा से मोहित होकर दुख में तथा अज्ञान में पड़ता है । श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, उत्तरार्द्ध, अ० ५७ श्लोक १५ में भी माया और अजा पर्यायवाची अर्थ में आये हैं:—

य इदं मायया विश्वं सृजति अवति हन्ति च ।
चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताऽजया ॥

आचार्य वल्लभ ने इसके भाष्य में अजा का अर्थ प्रकृति किया है: 'तत्रहेतुः अजया प्रकृत्या मोहिता इति' ।

वह धारा है, जिसमें पड़कर सभी डूब जाते हैं। यमुना में निवास करने वाले काली नाग की भी कुछ ऐसी ही गाथा है। विष्णु पुराण में इसको तीन फनों वाला लिखा है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन प्रकार के दुःख ही इन काल के तीन फन हैं। हरिवंश पुराण में इसके पाँच फन लिखे हैं, जिन्हें हम योग दर्शन में वर्णित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम के पाँच प्रकार के क्लेशों का नाम दे सकते हैं। श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध १६,२८ में इसे 'शतैक शीर्णः' अर्थात् एक सौ एक या सौ फन वाला कहा गया है और लिखा है कि इसके अनेक स्त्री, पुत्र और पौत्र थे। सूरसागर में भी इसी प्रकार का वर्णन है। काल के सौ फन उसके नाना प्रकार के अमंगलजनक रूप हैं! आपत्तियाँ, बाधायें, विघ्न आदि उसके अनेक स्त्री-पुत्रादि हैं। काल की गति सर्प की ही भाँति कुटिल है। इसकी विषमयी फूत्कार से वही त्राण पा सकता है, जो मंगलमय भगवान के कल्याणकारी पाद-पद्मों का आश्रय ग्रहण किये हुए है।

अथर्ववेद ११।५३।८ में काल को सबका शासक कहा गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद १०।८।४ में काल की उपमा चक्र से दी गई है, जिसमें १२ अरे, ३ नाभिस्थान और ३६० शंकु हैं। यह वर्णन निश्चित रूप से समय का ही है। इसमें ३ अरे ३ ऋतुयें हैं; १२ अरे महीने हैं और ३६० शंकु दिन-रात हैं। वर्ष, युग, चतुर्युगी, मन्वन्तर, कल्प आदि सबकी गणना काल के ही अन्तर्गत है। सूरसागर के द्वादश स्कन्ध में इसका वर्णन नीचे लिखे अनुसार है —

रहँट घरी ज्यों जग व्यवहार। उपजत बिनसत बारम्बार॥
उतपति प्रलय होत जो भाइ। कहौं सुनो सो नृप चितलाइ॥
राजा प्रलय चतुर्विध होइ। आवत जात चहूँ में लोइ॥
युग परलय तो तुमसों कही। तीन और कहिबे कूँ रही॥
चतुर्युगी बीते इकहत्तर। करै राज तब लगि मन्वन्तर॥
चौदह मनु ब्रह्मादिन माहीं। बीतत तासो कल्प कहाहीं॥
रात होइ तब परलय होई। निशि मर्यादा दिन सम होई॥
प्रात भये जब ब्रह्मा जागै। बहुरो सृष्टि करन को लागै॥
दिन सौ तीन साठ जब जाहीं। सो ब्रह्मा को बरस कहाहीं॥
वर्ष पचास परारध गये। प्रलय तीसरी या विधि लए॥
बहुरौ ब्रह्मा सृष्टि उपावै। जब लौं परारध दूजौ आवै॥
शत सम्बत भये ब्रह्मा मरै। महाप्रलय नित प्रभु जू करै॥४॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ४६३५)

इस पद में सूर ने स्नेह-पर्व की उपमा द्वारा संसार के [illegible] का वर्णन किया है, जो बारम्बार उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है। प्रलय चार प्रकार की हैं: युग प्रलय, कल्पान्त प्रलय, परार्द्ध प्रलय और महाप्रलय। प्रत्येक युग और मन्वन्तर के बाद की प्रलय युगप्रलय कहलाती है। एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगियों का होता है। ऐसे १४ मन्वन्तर जब बीत जाते हैं, तो एक कल्प समाप्त हो जाता है। यह एक कल्प ब्रह्मा का एक दिन है। इसके बाद इतने ही समय की रात्रि आती है, जिसे कल्पान्त प्रलय कहते हैं। इसके बाद फिर दिन होता है। इसी प्रकार एक कल्प के दिन और एक कल्प की रात्रि जैसे जब ३६० दिन निकल जाते हैं, तो ब्रह्मा का एक वर्ष होता है। ऐसे पचास वर्ष बीत जाने पर एक परार्द्ध होता है। इसके अन्त में होने वाली तीसरी परार्द्ध प्रलय कहलाती है। जब ब्रह्मा के १०० वर्ष पूरे हो जाते हैं, तो महाप्रलय होती है। दिन और रात्रि के समान सृष्टि की रचना और प्रलय का यह चक्र बराबर चलता रहता है। काल का यह रात्रि अथवा संहार (प्रलय) वाला रूप ही प्राणियों को अधिक भयंकर प्रतीत होता है। मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए इसी हेतु उन्नत प्राणी प्रयत्न किया करते हैं। पर गीता के सिद्धान्त के अनुसार—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवम् जन्म मृतस्य च"—जन्म के पश्चात् मरण और मरण के पश्चात् जन्म अवश्यम्भावी है।

सृष्टि—सूरसागर में श्रीमद्भागवत के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति का भी वर्णन पाया जाता है। यह सृष्टि या जगत आचार्य वल्लभ के मतानुसार अक्षर ब्रह्म के सदंश से उत्पन्न हुआ है। यह सत अंश प्रकृति या माया है, जो सत, रज, तम तीनों गुणों वाली है। प्रलय में इन तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है, परन्तु सृष्टि होते ही इनकी अवस्था विषम हो जाती है। एक प्रकृति है, दूसरी विकृति। मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादि प्रकृति के ही विकृत रूप हैं। सूरसागर में इनकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार लिखा है:—

माया को त्रिगुणातम जानों। सत, रज, तम ताको गुण मानों ॥
तिन प्रथमै महतत्व उपाज्यो। तातें अहंकार प्रकटायो ॥
अहंकार कियो तीन प्रकार। मन तें ऋषि मन सात रुचार ॥
रज गुण ते इन्द्रिय बिस्तारी। तम गुण तें तन्माया सारी ॥
तिन तें पाँच तत्व प्रकटायो। इहि सबको इक अंड बनायो ॥
अंड सु जड़ चेतन नहिं होई। तब हरि पद माया मन पोई ॥
ऐसी विधि विनती अनुसारी। महाराज बिनु शक्ति तुम्हारी ॥

यह अंडा चेतन नहिं होई। करी कृपा हरि चेतन सोई॥
तामें शक्ति आपनी धारी। चक्षुरादिक इन्द्री विस्तारी॥
चौदह लोक भये ता माहीं। ज्ञानी तिहि बैराट कहाहीं॥
आदि पुरुष चैतन्य कों कहत। जो है तिहूं गुनन ते रहित॥
जड़ स्वरूप सब माया जानौ। ऐसो ज्ञान हृदय में आनो॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६४ पृष्ठ १३४)

आदि पुरुष चेतन और तीनों गुणों से रहित है। माया जड़ और त्रिगुणात्मिका है। इसी माया से प्रथम महत्तत्व उत्पन्न होता है। महत्तत्व से अहंकार प्रकट होता है, जो तीन प्रकार का है। (सूरदास ने यहाँ इन तीन प्रकारों का वर्णन नहीं किया। श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध, २६ वें अध्याय के १८वें श्लोक के पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। यह वर्णन द्वितीय स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में भी है, और भी कई स्थानों पर है, जहाँ अहंकार को वैकारिक, तैजस और तामस तीन प्रकार का कहा गया है।) वैकारिक अहंकार से सात और चार अर्थात् ११ (१ मन और १० सुरि अर्थात् इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता) उत्पन्न हुए। तैजस अथवा राजसिक अहंकार से दश इन्द्रियाँ और तामस अहंकार से पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नाम के पाँच महाभूत प्रकट हुए। (परन्तु अभी ये परस्पर संगठित नहीं थे। भगवान की प्रेरणा से इन सबने संगठित होकर व्यष्टि-समष्टि रूप पिण्ड और ब्रह्मांड की रचना की।) इनसे जो ब्रह्मांड रूपी अंडा बना, वह जड़ था। भगवान ने कृपा-पूर्वक उस अंड में अपनी शक्ति स्थापित की और चक्षु आदि इन्द्रियों का विस्तार किया। इसी से १४ लोक उत्पन्न हुए। ज्ञानी पुरुष इसी को विराट कहते हैं।

इसी से मिलता-जुलता वर्णन सूरसागर के द्वितीय स्कन्ध के अंत में भी आता है:—

जो हरि करै सो होइ कर्ता नाम हरी।
ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब त्यों सब सृष्टि करी॥
आदि निरंजन, निराकार कोउ होत न दूसर।
रचौं सृष्टि विस्तार भई इच्छा इक औसर॥
त्रिगुण तत्व ते महातत्व, महातत्व ते अहंकार।
मन इन्द्रिय शब्दादि पंची ताते किये विस्तार॥
शब्दादिक ते पंचभूत सुन्दर प्रकटाये।

पुनि सबको रचि अंड आप में आप समाये ॥
तीन लोक निज देह में राखे करि विस्तार ।
आदि पुरुष सोई भयो जो प्रभु अगम अपार ॥
नाभि कमल ते आदि पुरुष मो कों प्रकटायो ।
खोजत युग गये बीति नाल को अंत न पायो ॥
तिन मो सों आज्ञा करी रचि सब सृष्टि उपाइ ।
स्थावर जंगम, सुर असुर, रचे सबै मैं आइ ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३७८)

इस पद में ऊपर की पंक्तियों में अंड की उत्पत्ति तक का वर्णन पूर्व जैसा ही है । आदि में निर्गुण ब्रह्म है । उसके अन्दर सृष्टि-रचना की इच्छा हुई और त्रिगुणात्मिका प्रकृति से महत, अहंकार, मन, इन्द्रिय, पंचतन्मात्रा और पंच-महाभूत निर्मित हुए । इनसे ब्रह्मांड रूपी अंडा बना । आदि पुरुष भगवान ने उसमें प्रवेश किया । तीनों लोक उसी के गर्भ में रहते हैं । इसी आदि पुरुष की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ । कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई । आदि पुरुष ने ब्रह्मा को सृष्टि रचना की आज्ञा दी और उसने स्थावर-जंगम, सुर-असुरमयी सृष्टि का निर्माण किया । ब्रह्मा की उत्पत्ति का यह क्रम भी श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध, अध्याय २० तथा और भी कई स्थानों पर दिये हुए वर्णन के अनुसार है ।

सूरदास इस पद में ब्रह्म और जगत में द्वित्व का अनुभव नहीं करते । जैसे दर्पण में अपना ही प्रतिबिंब परिलक्षित होता है, वैसे ही सृष्टि में ब्रह्म प्रति-बिंबित हो रहा है । "आप में आप समाये" शब्दों से भी यही ध्वनि निकल रही है । वैष्णव धर्म के प्रायः सभी आचार्यों ने अद्वैतवाद का खंडन किया था, परन्तु इस वाद में इतना प्रबल आकर्षण था कि वह खंडन करने वालों के पीछे बराबर लगा ही रहा । आचार्य मध्वभट्ट को छोड़कर सभी आचार्यों के वादों के पीछे अद्वैतवाद का पुछल्ला लगा हुआ है । विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत अद्वैत-तवाद के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं । आचार्य शंकर के अद्वैत और वल्लभ के शुद्धाद्वैत में इतना ही अन्तर है कि शंकर ब्रह्म को माया से अभिभूत कर देते हैं और इस जगत को मिथ्या मानते हैं, परन्तु वल्लभ माया को भगवान की दासी मानते हैं, जो उन्हें अभिभूत नहीं कर सकती । वे जगत को भी ब्रह्म के सदंश से उत्पन्न होने के कारण सत्य मानते हैं, जिसका आविर्भाव और तिरोभाव तो होता रहता है, पर नाश नहीं होता, क्योंकि वह सत्य है । संसार या प्रपंच या तेरे-मेरे-पन का भाव विविध साधनों से नष्ट हो जाता है । यह विनश्वर है, मिथ्या है ।

जिस क्रम का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर किया है, उसका उल्लेख मनुस्मृति अध्याय १ के ९ वें श्लोक में भी है:—

तदंडम भवद्धैमं सहस्रांशु सम प्रभम्।
तस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः॥

अर्थात् भगवान की इच्छा से वह बीज स्वर्णाभा-युक्त अंड बन गया। उसी से समस्त लोकों को जन्म देने वाले स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुए। परन्तु यहाँ भागवत और सूरसागर की भाँति विष्णु की नाभि और उससे उत्पन्न कमल का वर्णन नहीं है। मनुस्मृति में इसी हिरण्यगर्भ से समस्त भौतिक जगत की उत्पत्ति बतलाई गई है, यही हिरण्यगर्भ वेद का ज्येष्ठ हिरण्यगर्भ है। अथर्ववेद ११।४३।८ में "काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्" कहा गया है। अर्थात् प्रभु अपना ज्ञानमय तप नियत काल में ही करते हैं, ज्येष्ठ हिरण्यगर्भ को नियत काल पर ही प्रादुर्भूत करते हैं और उसके बाद ब्रह्म (वेद) का प्रकाश भी नियत काल आने पर ही होता है। वेद के इस मंत्र के अनुसार सृष्टि-रचना में तपरूप इच्छा, उससे हिरण्यगर्भ और उससे ब्रह्म का प्रादुर्भाव—ऐसा क्रम प्रतीत होता है। यही क्रम सूरसागर के ऊपर उद्धृत पद में है। ऐतरेय उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में भी सृष्टि-रचना का यही क्रम व्यक्त हुआ है।

इस हिरण्यगर्भ रूप अंड में परमात्मा ही बीज की स्थापना करता है, इस तथ्य का उल्लेख अथर्ववेद के नीचे लिखे मंत्र में भी पाया जाता है:—

हिरण्य गर्भं परमं अनत्युद्यं जना विदुः।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चत् हिरण्यं लोके अन्तरा॥ अ० १०।७।२८

अर्थात् मनुष्य समझते हैं कि हिरण्यगर्भ ही अनतिक्रमणीय, सबसे परे की वस्तु है, परन्तु उसमें हिरण्य (तेजोमयवीर्य) का सिंचन आरम्भ में इस लोक के अन्दर जगदाधार परमेश्वर ने ही किया है।[1]

इसी हिरण्यगर्भ से आगे चलकर अन्य अनेक पौराणिक कल्पनाओं का प्रादुर्भाव हुआ है।

१—श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १४, श्लोक ३ और ४ में इसी स्थिति को इस प्रकार वर्णन किया गया है:—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्व योनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिः अहं बीज प्रदः पिता॥

कर्म और भाग्यवाद—गीता ने "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" कहकर निष्काम कर्म का उपदेश दिया था, जिसके अनुसार कर्म के विपाक अर्थात् परिणाम के सम्बन्ध में हमें निश्चिन्त रहना चाहिये। इस कर्म-विपाक का हमारे भावी कर्मों पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। कर्म का चक्र कुछ ऐसा जटिल है कि वह बड़े-बड़े ज्ञानियों की भी समझ में नहीं आता। एक ओर जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, दूसरी ओर कर्म-विपाक का अंकुश उसके शिर के ऊपर है। कर्मों द्वारा जो संस्कार बनते हैं, वे फिर उन्हीं कर्मों में मनुष्य को प्रेरित किया करते हैं। इस प्रकार एक जैसे कर्म करते रहना मनुष्य के स्वभाव में सम्मिलित हो जाता है। कभी दूसरी दिशा में जाना भी चाहे, तो नहीं जा सकता। इसीलिए गीता कहती है: "अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते।" वास्तव में मनुष्य स्वतंत्र इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। जो संस्कार बन चुके हैं, कर्मों का जो विपाक भाग्य अथवा प्रारब्ध के रूप में निश्चित हो चुका है, उन सबका सम्मिलित समुदाय मानव-जीवन को प्रभावित करता रहता है और विविध योनियों में आत्मा के अवतरित होने का कारण बनता है। भगवान की यह भी बड़ी कृपा है कि भोग-योनियों में जाकर जीवात्मा के ऐसे अनेक संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इन योनियों में कर्म का बाहुल्य नहीं, संकोच हो जाता है। इस संकोच के कारण पूर्व जन्मों की वासनायें क्षेत्र न मिलने के कारण, अंकुरित नहीं हो पातीं और परिणामतः दबकर नष्ट हो जाती हैं। भोग योनियों के बाद फिर मानव-योनि मिलती है। फिर वही चक्र चलता है। अतः सन्तों ने कहा है, भगवान की शरण ग्रहण किये बिना उद्धार नहीं हो सकता:—

बिनु हरि भक्ति मुक्ति नहिं होइ। कोटि उपाय करौ किन कोइ॥

कर्मपथ का यह पार्श्व प्रबल प्रभाव रखता है। भाग्य अथवा प्रारब्धवाद ने हिन्दुओं के हृदय में घर कर लिया है। हम इस तथ्य में प्रगाढ़ विश्वास रखते हैं कि जो कुछ होता है, भगवान की इच्छा से होता है। सूरदास लिखते हैं:—

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनो पुरुपारथ मानत अति झूठौ है सोइ॥
साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल ये सब डारहु धोइ।
जो कछु लिखि राखी नंदनंदन मेटि सकै नहिं कोइ॥१-१४२॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २६२)

भावी काहू सों न टरै।
मुनि वशिष्ठ पंडित अति ज्ञानी रचि रचि लगन धरै।
तात मरन, सिय हरन, राम वन, वपु धरि विपति भरै॥

फिर अर्जुन, हरिश्चन्द्र आदि के उदाहरण देते हुए लिखते हैं :—

भावी के वश तीन लोक हैं, सुर, नर, देह धरै।
सूरदास प्रभु रची सो ह्वै है को करि सोच मरै ॥ १-१४४॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २६४)

धर्मपुत्र तू देख विचार। कारन करनहार करतार॥
नर के किये कछू नहिं होई। कर्ता हरता आपुहि सोई ॥१-१४१॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २६१)

श्री गुपाल तुम कहौ सो होई।
तुम ही कर्त्ता तुम ही हर्ता तुमसे और न कोई।
सूरसागर (ना०प्र०स० ४६१७)

परन्तु यह भाव पराधीन हिंदू जाति को सांत्वना दे सकता था, वल नहीं; इसके अतिरिक्त इस भाव से यह भी ध्वनि निकलती थी कि हम यवन-प्रभुत्व को मानने के लिए विवश हों। जब विधि का विधान ही ऐसा है, तो उसे कौन टाल सकता है ? यवन-यश, पठान-प्रतिष्ठा, मुगल-महिमा कर्म-विपाक द्वारा प्रभु ने निश्चित कर रखी है, तो उसे कौन दूर करने में समर्थ है ? भाग्यवाद का यह विषाक्त प्रभाव दूसरे की सत्ता मानने के लिए वाध्य कर देता है। अतः जाति को जर्जर होने से बचाने के लिए इसके स्थान पर किसी अन्य अस्त्र के उपयोग की आवश्यकता थी। सिद्ध आचार्यों की दृष्टि इस आवश्यकता पर पड़ी और समय के अनुसार उन्होंने आर्य जाति का मुख निवृत्ति-पथ से हटाकर प्रवृत्ति-पथ की ओर मोड़ दिया। सूरसागर में निवृत्ति-परक तथा भाग्यवाद के गीत गाने वाले पद थोड़े ही हैं। उसके नवम तथा दशम स्कन्ध प्रवृत्तिपरक गाथाओं एवं जीवन-चित्रों से ओत-प्रोत हैं। उनमें भगवान की आह्लादक लीलाओं के गान हैं, जो किसी भी निराश हृदय में आशा का संचार कर सकते हैं, जीवन के प्रति ममत्व को जाग्रत एवं विकसित करने की शक्ति रखते हैं और जिनसे उत्थान की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है।

अपुनरावृत्ति—मोक्ष की भावना सभी आस्तिक सम्प्रदायों में पाई जाती है। मानव-मन एक ऐसी स्थिति की कभी न कभी अवश्य इच्छा करने

लगता है, जहाँ जाकर उसे रोग शोक, हर्ष-संघर्ष तथा उत्कंठा [illegible] में छुट-कारा मिले। यह स्थिति गीता[1] के शब्दों में परागति तथा परमधाम है। वेद[2] ने इसे परमपद, अमृत और तृतीय धाम कहा है। इस स्थिति में पहुँचकर आत्मा पुनरावृत्ति के चक्कर में नहीं पड़ता। उपनिषदों में "न च पुनरावर्तते" कहकर इसी बात की ओर संकेत किया गया है। गीता भी "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" कहकर इसी पक्ष का समर्थन कर रही है। वेद ने भी इस अवस्था को अक्षित अर्थात् स्थायी और अविनश्वर माना है। यों प्रवाह का चक्र तो चलता ही रहता है, पर इस परम गति के लिए प्राणी लालायित रहता ही है। सूर ने भी इस स्थिति का वर्णन नीचे लिखे पदों में किया है:—

चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निशा होत नहिं कबहूँ वह सायर सुख जोग ॥१-१८४

सूरसागर (ना०प्र०स०३३७)

चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना विकसाहिं।
सूर क्यों नहिं उड़ि चलो जहाँ बहुरि उड़िबो नाहिं ॥१-१८५

सूरसागर (ना०प्र०स० ३३८)

सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये ॥२,२

सूरसागर (ना०प्र०स० ३४६)

जाइ समाइ सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै॥२-७

सूरसागर (ना०प्र०स० ३५४)

निष्कामी बैकुंठ सिधावै। जन्म मरन तिहि बहुरि न आवै ॥३-१७

सूरसागर (ना०प्र०स० ३६४)

इन पदों में सूरदास ने इस परम-पद वाली स्थिति को बैकुण्ठ और हरि-पद का नाम दिया है तथा निधि, सरोवर एवं समुद्र के रूपकों द्वारा उसे अभिव्यक्त किया है। इस अवस्था में पहुँच कर जीवात्मा जन्म-मरण के पाशों से मुक्त हो जाता है। यह वह स्थिति है, जहाँ सूर्य के न होते हुए भी लाखों सूर्यों का सा प्रकाश होता रहता है। अन्धकारमयी रात्रि तो एकदम विलीन

१—ततो याति परांगतिम ।१६।२२। तथा ६-४५ गीता
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। १५-६ गीता।
२—तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। ऋग० १।२।७।२०।
तृतीये धामन्नध्यै रयन्त। यजु० ३२।१०।
अमृते लोके अक्षिते। ऋ० ६।११३।७।

वीतराग सुज्ञान योगिन भक्त जनन निवास।
निगम वाणी मेटि कहि क्यों सकै सूरजदास ॥६८॥ पृष्ठ ५४६
सूरसागर (ना०प्र०स० ४६४३)

गोपियाँ कहती हैं: उद्धव, तुम्हारे वेद-वचन तो प्रामाणिक हैं, पर हमारा मन उन्हें प्रामाणिक मानने में आनाकानी करता है। तुम्हीं बताओ, वेद के अविनाशी, अलख, अगोचर प्रभु का ध्यान कैसे किया जाय ? कृष्ण का कमल के समान खिला हुआ मुखमंडल, उसमें खंजन पक्षी की तरह खेलते हुये दोनों नेत्र, इस मुद्रा के सम्मुख तुम्हारी योग की मुद्रा क्या आकर्षण रखती है ? तुम जिस ईश्वर का ध्यान करना बतलाते हो, वह हमारा कृपालु केशव तो जान नहीं पड़ता, जो अपनी अधर-सुधा (वचनामृत) का पान कराकर अब विरक्त बना हुआ हमारे लिए ज्ञान का संदेश भेज रहा है। वह कृष्ण हमारे नेत्रों के सम्मुख था, तुम्हारा कृष्ण नेत्रों के पीछे हृदय में समाया हुआ है। यदि इस हृदयस्थ कृष्ण में कुछ भी सहृदयता, सहानुभूति और समवेदना का अंश होता, तो वह हम पीड़ितों की पीड़ा का अनुभव करके हृदय से बाहर आकर बोलने लगता। पर जिसका कोई रूप नहीं, रेखा नहीं, उसका मूँठ के समान स्मरण करके कोई कैसे भुलावे में पड़े ? सम्भव है, वीतराग, ज्ञानी एवं योगी भक्तजनों के शरणस्थल उस निराकार प्रभु का ध्यान कर सकें, पर हमारा सर्वस्व तो खंजन नयन, कमलमुख वाला कृष्ण ही है, ज्ञानध्यानवाला कृष्ण नहीं। तुम्हारी वाणी वेद की वाणी है। उसे हम कैसे मेट सकती हैं ?

यह है वैष्णव सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त-हृदय की असमंजसमयी अवस्था, जिसमें वह वेदाज्ञा का उल्लंघन भी नहीं करना चाहता, पर साथ ही उसे स्वीकार करने में भी अपने को असमर्थ पाता है। व्यंजना शक्ति का प्रयोग कीजिये, तो पद से स्पष्ट वेद-निन्दा झलक रही है, पर वेद की मोहिनी कुछ ऐसी है, जो शत्रु तक को अपने आकर्षण-पाश में बाँधे हुए है, वैष्णव तो फिर भी उसके अपने हैं।[1]

कृष्ण-भक्ति में रागानुगा भक्ति की प्रधानता है, जिसमें लोक तथा वेद दोनों प्रकार की मर्यादायें लुप्त हो जाती हैं। राम-भक्ति मर्यादा की रक्षा करने वाली है। वह लौकिक तथा वैदिक आदेशों का उल्लंघन नहीं करती। सूर-

---

१—वैष्णव धर्म का प्रसिद्ध पुराण, ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्ण जन्मखंड के अध्याय ८७ में वेद की प्रशंसा नीचे लिखे शब्दों में करता है:—

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

सागर में अनेक स्थानों पर इस मर्यादा-भंग की प्रशंसा की दृष्टि से देखा गया है। कुछ उदाहरण लीजिए:—

सबनै परम मनोहर गोपी।
नंदनंदन के नेह मेह जिन लोक लीक लोपी ॥८७॥ पृष्ठ ४६८।
सूरसागर (ना०प्र०स० ४७६६)

यमुना के तट खेलति हरि संग राधा सहित सब गोपी हो।

× × × ×

लोक वेद कुल धर्म केत की नेंक न मानत कानी हो ॥ २०॥ पृष्ठ ४३३
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४७८)

सखी री काहेहि दोष न दीजै।
जो कछु करि सकिये सोई या मुरली को अब कीजै॥

× × × ×

लोक वेद कुल छाँड़ि आपनो जोइ जोइ कही सो मानी॥३३॥ पृष्ठ ४२३
सूरसागर (ना०प्र०स० १६३०)

जबहीं बन मुरली श्रवण परी।
चकृत भई गोप कन्या सब काम धाम बिसरी॥
कुल मर्यादा वेद की आज्ञा नेकहु नाहिं डरी ॥८६॥ पृष्ठ ३२६
सूरसागर (ना०प्र०स० १६१८)

शेष पिछले पृष्ठ से आगे

वेद प्रणिहितोधर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ॥५६॥
वेदो नारायणः साक्षात्सर्वपूज्यो व्यवस्थया।
तस्मात् शास्त्राणि सर्वाणि पुराणानि च संति वै ॥६०॥

वेद में जो कुछ कहा गया है, वही धर्म है। जो कुछ उसके विपरीत है, वह अधर्म है। वेद साक्षात् नारायण हैं। उन्हीं से समस्त शास्त्र और पुराण निकले हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध का द्वितीय अध्याय भी देखने योग्य है, जिसमें वेद की मान्यता प्रतिपादित हुई है। गरुड़ पुराण, आचार कांड की निम्नांकित पंक्तियाँ भी वेद की महत्ता प्रकट करती है:—

वेदा स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥६३,४॥
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयस्करः परः ॥६४,२६॥

नैनन सिखवत हारि परी।

× × × ×

सूर स्याम मिलि लोक वेद की मर्यादा निदरी ॥ पृष्ठ ३३५।

सूरसागर (ना०प्र०स० ३००४)

नैना कह्यौ मानत नाहिं।

लोक लज्जा, वेद मारग तजत नहीं डराहिं ॥पृष्ठ ३३२।

सूरसागर (ना०प्र०स० २६६६)

नैना कह्यौ न मानैं मेरो।

लोक वेद, कुल कानि न मानें अतिही रहैं अनेरो ॥पृष्ठ ३३२।

सूरसागर (ना०प्र०स० २८८३)

जैसे वर्षा के दिनों में पगडंडियाँ तथा अन्य वन-मार्गादि लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण-भक्ति की इस रस-वर्षा में कुल-धर्म, लोक-धर्म, वेद-धर्म आदि सभी मार्ग लुप्त हो रहे थे। वासुदेव-मत प्रारम्भ में जो वेद-बाह्य समझा जाता था, उसका कारण इस मत के इसी प्रकार के वाक्य रहे होंगे।[1] परन्तु बाद में तो उसे आचार्यों ने भी वेद-शास्त्र-सम्मत बनाने की भरसक चेष्टा की।[2] सूरदास ने अपने मत के समर्थन में कई स्थानों पर वेद, उपनिषद् आदि का साक्षी रूप में उल्लेख किया है। नीचे लिखी पंक्तियाँ देखिये:—

अशरन शरनी भवभय हरनी वेद पुराण बखानी ॥४१॥पृष्ठ ३४६।

सूरसागर (ना०प्र०स० १६७३)

मनवांछित सबहिनु फल पायौ वेद उपनिषद् साखी ॥५६॥पृष्ठ ३५६

सूरसागर (ना०प्र०स० १७६०)

१—सूरसागर (ना०प्र०स० ४५१६) में भी लिखा है:—

ऊधौ कोउ नाहिंन अधिकारी।

लै न जाहु यह जोग आपनों कत तुम होत दुखारी ॥

यह तौ वेद उपनिषद मत है महा पुरुष व्रत धारी।

हम अवला अहीरि व्रजबासिनि नाहीं परत सँभारी ॥

२—भागवत, दशम स्कन्ध, उत्तरार्द्ध, अ० ५८ श्लोक ३२ के सुबोधिनी भाष्य में आचार्य वल्लभ वेद-सम्मत भक्ति को मान्यता देते हुए लिखते हैं:— "स्वरूपतः फलतः साधनतश्च इयं भक्तिः सत्या इति। अतएव वेदविरुद्ध-मतेषु अधमेषु कर्मविहीनेषु भक्तिः सत्या न भवति इति द्योतितम्········ इति शास्त्रे अनुक्ता भक्तिः न भक्ति रिति।"

आर्य मर्यादा का अन्तिम लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही है। ज्ञान, कर्म, उपासना, लोक-धर्म तथा वेद-धर्म सब उसी तक ले जाने वाले सोपान हैं। जब वह प्राप्त हो गया, तो आत्मा ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ आगे और पीछे की किसी भी वस्तु के अस्तित्व का भान नहीं रहता। न वहाँ लोक रहता है, न वेद। सूर ने ऊपर के पदों में इसी स्थिति का निर्देश किया है।

सूर का सिद्धांत इस सम्बन्ध में कुछ ऐसा भी मालूम पड़ता है कि जो जिसमें अनन्य भाव से अनुरक्त हो गया, उसे छोड़कर फिर वह अन्यत्र नहीं जाना चाहता।

जाहि जो भजै सो ताहि रातै। कोऊ कछु कहै सब निरस बातैं ॥
ता बिना ताहि कछु नाहिं भावै। और तो जोरि कोटिक दिखावै ॥
प्रीति कथा वह प्रीतिहि जानै। और करि कोटि बातैं बखानै ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६२२)

अर्थात् चाहे सहस्रों बातें कही जायँ, पर भगवद्भक्त के लिए तो प्रेम ही प्रेम की कथा है। वेद पढ़कर भी यदि भगवद्भक्ति न आसकी, तो वेद पढ़ने से क्या लाभ? और वेद के बिना पढ़े भी यदि कोई प्रभु-भक्ति में निरत है, तो उसका जीवन सार्थक है।

राम और कृष्ण की एकता—यद्यपि पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म माने जाते हैं, पर सूर राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं समझते थे। कई स्थानों पर उन्होंने कृष्ण के स्थान पर राम का ही नाम लिखा है, जैसे:—

जा बन राम नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि पीजै।

सूरसागर (ना०प्र०स० ३४०)

राम भक्त वत्सल निज बानो। १।११।

सूरसागर (ना०प्र०स० ११)

जौ तू राम नाम चित धरतो। १।१७६।

सूरसागर (ना०प्र०स० २६७)

कलि में राम कहै जो कोइ, निश्चय भव जल तरिहै सोइ।१२,३

सूरसागर (ना०प्र०स० ४६३४)

कहा कमी जाके राम धनी।१।२४।

सूरसागर (ना०प्र०स० ३६)

जबते रसना राम कह्यौ,
मानों धर्म साधि सब बैठ्यौ पढ़िबे में धों कहा रह्यौ।
सार कौ सार, सकल सुख को सुख हनूमान शिव जानि कह्यौ ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३५१)

राम नाम विनु क्यों छूटौगे चन्द गहे ज्यों केत ।
सूरदास कछु खर्च न लागत राम नाम मुख लेत ॥१।१७५॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २६६)

बड़ी है राम नाम की ओट । इत्यादि,
सूरसागर (ना०प्र०स० २३२)

ऐसे पदों के अतिरिक्त उन्होंने कृष्णचरित से पूर्व नवम स्कन्ध में राम-गाथा का गायन किया है। कृष्ण के अतिरिक्त उन्होंने गोपियों द्वारा शिव, सूर्य, देवी, गौरी आदि की पूजा भी कराई है, त्रिवेणी, काशी, वेद आदि की स्तुतियाँ लिखी हैं, यद्यपि इस पूजा, स्तुति आदि का उद्देश्य अन्त में कृष्ण की ही प्राप्ति है। तुलसी ने भी गणेश, हनुमान, शिव आदि की स्तुति राम-भक्ति पाने के लिए की है। इस सम्बन्ध में सूरसागर, दशम स्कन्ध के ८०५ से लेकर ८०८ संख्या तक के पद दर्शनीय हैं। सूरसागर को विना पढ़े ही अथवा पक्षपात-वश इस युग के समालोचकों ने सूर पर साम्प्रदायिकता का जो दोषारोपण किया है, वह निराधार है।

सूर ने अन्य अवतारों का भी वर्णन किया है, पर राम और कृष्ण का वर्णन करते हुए तो वे इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें दोनों में कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता।

गोस्वामी तुलसीदास में राम-कृष्ण-समत्व की ऐसी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। किंवदन्ती है कि उन्होंने मथुरा में कृष्ण-मूर्ति के दर्शन तब तक नहीं किये, जबतक उसने धनुर्धर राम का रूप धारण नहीं कर लिया। राम की स्तुति में उन्होंने कृष्ण अवतार की घटनाओं का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, यद्यपि काल-दोष को बचाते हुए, सामान्य रूप से वे उसमें समाविष्ट हो सकती थीं, फिर दिक्कालानवच्छिन्न ब्रह्म की स्तुति में काल-दोष कैसा? सूरसागर में कृष्ण की स्तुति कई स्थानों पर है, जिसमें सूर ने राम और कृष्ण दोनों को एक ही मान कर गुण-कीर्तन किया है, एक उदाहरण लीजिये:—

जय माधव गोविन्द मुकुन्द हरि, कृपासिन्धु कल्याण कंस-अरि,
प्रणत पाल केशव कमला-पति, कृष्ण कमल-लोचन अनन्यगति ॥
श्रीराम चन्द्र राजीव नैन वर, शरण साधु श्रीपति सारँगधर ॥
खर-दूषण-त्रिशिरा- शिर-खंडन, चरण-चिन्ह-दंडक-भुअ-मण्डल
रघुपति प्रबल पिनाक विभञ्जन, जगहित जनक-सुता-मन-रंजन ॥

गोकुल-पति गिरिधर-गुन-सागर, गोपी-रमन रास-रति-नागर
करुणामय कपि-कुल-हितकारी, वालि-विराध-कपट-मृग-हारी ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ११६२)

इसी प्रकार जब यशोदा कृष्ण को पालने में झुलाती हुई राम-कथा सुनाने लगी, तो सीता-हरण प्रसंग आते ही कृष्ण की निद्रा भंग हो गई। वे चौंक कर उठ बैठे और लक्ष्मण का नाम लेकर धनुष-बाण माँगने लगे। यशोदा यह देख कर भ्रम में पड़ गई, सूर लिखते हैं:—

रावण हरण कर्‌यौ सीता को सुनि करुणामय नींद बिसारी।
सूर स्याम कर उठे चाप कों, लछिमन देहु, जननि भ्रम भारी ॥७२॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ८१६)

जिस प्रकार तुलसीदास ने महाभारत की उक्तियों को लेकर शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया था, सूर ने भी कुछ-कुछ ऐसी ही चेष्टा की है, जैसे:—

सूरदास के हृदय बसि रह्यौ श्याम शिव को ध्यान ॥७८८॥

विद्यापति[1], चन्दवरदायी[2], तुलसीदास[3], आदि कई कवियों ने विष्णु और शिव की एक ही छन्द या पद में एक साथ श्लेष अथवा रूपक अलंकार के द्वारा स्तुति की है, सूर ने नीचे लिखे पद में उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा कृष्ण को महेश के वेश में चित्रित किया है:—

बरनों बाल वेष मुरारि।
थकित जित तित अमर मुनि गन नन्द लाल निहारि ॥
केश शिर बिनु पवन के चहुँ दिशा छिटके झारि।
शीश पर धरे जटा मानों रूप कियो त्रिपुरारि ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ७८७)

आगे की पंक्तियों में तिलक और केशर बिन्दु को महादेव का तृतीय नेत्र, कण्ठ में नील मणि के कठुला को गरल, अंभोज माल को कपाल-माला, कुटिल हरि नख (व्याघ्र नख) को द्वितीया का निष्कलंक चन्द्र आदि माना है। इसी प्रकार नीचे लिखे पद में भी कृष्ण को महादेव बना दिया है:—

१—विद्यापति पदावली पद स० २३२

२—पृथ्वीराज रासो, प्रथम समय छन्द ८

३—विनय पत्रिका पद स०४९

सखी री नन्दनन्दन देखु।
धूरि धूसर जटा जूटल हरि किये हर भेषु ॥
नील पाट पुरोई मनि गन फनिग धोखे जाइ।
खुन खुना करि हँसत मोहन नचत डौरू वजाइ॥४९॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ७८८)

सूर अपने जीवन के प्रारम्भ में शिव के उपासक थे, उसे छोड़कर वैष्णव सम्प्रदाय में आये और अन्त में आचार्य वल्लभ से दीक्षा ग्रहण की। शिव की पूजा का उन्होंने वर्णन किया है, पर उसे अन्त में भगवत्प्राप्ति का साधन ही माना है, शिव उनके लिए गोस्वामी तुलसीदास की भाँति पूज्य देव कोटि में थे, ब्रह्म नहीं।

सूरदास और पुष्टिमार्ग

सेवा पक्ष

मानव दुख से निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिये सदा सचेष्ट रहता है, पर अपनी चेष्टा में सदैव सफल नहीं होता। दुख के सम्यक निदान और तद्नुकूल उपचार के ज्ञात होने पर भी कष्ट पीछा नहीं छोड़ता—साथ लगा ही रहता है। इसका एकमात्र कारण है—ज्ञान के अनुसार कर्म न करना। सूरदास के शब्दों में दुख का कारण अपनी ही कुमति और अहंकार-जन्य दोष हैं।[1] इन दोषों को दूर करने का साधन एक नहीं है। मानव बुद्धि ने ऐसे अनेक साधनों की कल्पना की है, जो दुख दूर करने में समर्थ हैं। सूर के अनुसार:—

> योग न यज्ञ ध्यान नहिं सेवा संत संग नहिं ज्ञान।
> सूरदास अब होत विगूचन भजले सारंग पान ॥१-२८२
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० ३०४)

योग, यज्ञ, ध्यान, सेवा, सत्संग, ज्ञान औरभगवान का भजन—इन सभी साधनों से दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होती है। पर ये सब सुकर नहीं हैं। योग, यज्ञ, ध्यान और ज्ञान की साधना तो इस युग में अत्यन्त कठिन है और यदि किसी प्रकार साधना में उत्तीर्ण हो भी गये, तो उसका फल अक्षय नहीं होता। यज्ञादि कर्मों से स्वर्ग (सुख विशेष) की प्राप्ति होती है, पर पुण्य क्षीण होने पर वहाँ से गिरकर पुनः मर्त्य लोक में आना पड़ता है।[2]

१—यह सब मेरीयै कुमति।
अपने ही अभिमान दोष दुख पावत हौं मैं अति।१।१७८

सूरसागर (ना०प्र०स० ३००)

२—बहुरि कह्यौ सुरपुर कछु नाहिं। पुण्य क्षीण तिहि ठौर गिराहिं ॥१।१६६

सूरसागर (ना०प्र०स० २६०)

क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति। गीता, ६-२१

ज्ञानादि के द्वारा ज्योति रूप ओंकार या अक्षर ब्रह्म तक ही पहुंच हो पाती है।[1] परब्रह्म पुरुषोत्तम में पूर्ण विलय हो जाने की अवस्था इन साधनों से प्राप्त नहीं होती। वह तो भगवत्कृपा साध्य है। भगवद्भक्ति, प्रभु में अहैतुकी श्रद्धा और प्रीति ही उसे सिद्ध कराने में क्षम है।[2]

आचार्य वल्लभ के मतानुसार भगवद्भक्ति सेवा का मार्ग है। अन्य साधनों की क्लेशकारिता की अपेक्षा भक्ति का पथ, सेवा का मार्ग, सुगम

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ३-३-२९ के अणुभाष्य पृष्ठ १०६४-६५ पर लिखते हैं:—ज्ञान मार्गे स्वक्षरज्ञानेन (मोक्षः)······भक्तिमार्गीयस्य ज्ञान नैरपेक्ष्यम् अपि उच्यते।······ज्ञानिनो अक्षरे, भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयात्। भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से निरपेक्ष है। ऐसा भी कहा जाता है। ज्ञानी अक्षर ब्रह्म में तथा भक्त पुरुषोत्तम में विलय प्राप्त करते हैं। पुनः ३-३-३३ के भाष्य में पृष्ठ १०८८ पर आप लिखते हैं:—तेन ज्ञान मार्गीयाणां न पुरुषोत्तम प्राप्तिः इति सिद्धम्। परन्तु प्रेम और भक्ति से उत्पन्न पुरुषोत्तम का ज्ञान अवश्य साधन रूप है जिससे मोक्ष प्राप्त होता है। इस तथ्य का उद्घाटन आचार्य जी ने ३-४-२५ के अणुभाष्य पृष्ठ १२१७ पर तथा ३-३-२९ के अणुभाष्य पृष्ठ १०६४ पर इस प्रकार किया है:—तत्र प्रेम भक्तिजं तस्य ज्ञानमेव साधनम् इति एतत् विदुरमृतास्ते भवन्ति इति श्रुति सहस्त्रैः प्रतिपाद्यते। तथा भक्ति मार्गे पुरुषोत्तम ज्ञानेनैव मोक्ष उच्यते। पृष्ठ १०६५ पर पुनः लिखा है:—भक्तिमार्गे तत्वतः भगवद् ज्ञानमेव प्रवेश साधनम् इति मन्तव्यम्।

२—कर्मिणां न गतिश्चात्र नाना देवैक सेविनाम्।
योगिनामपि नैवास्ति नाना सिद्ध्यभिकांक्षिणाम्॥
मामेव शरणं जाताः सर्वभावेन सिन्धुजे।
अतीत्य दुस्तरां मायां केवलाः सेवकाहि वै॥ बृहद् ब्रह्म संहिता २।१८,१९

३-३-३२ के अणुभाष्य पृष्ठ १०८१ पर लिखा है:—मुक्तिस्तु भक्त्या एव इति भावः। तथा तत्र निरूपधि प्रीतिरेव मुख्या नान्यत्। १-१-११ अणुभाष्य पृष्ठ १६१

कर्मज्ञानोपासनाख्यः साध्योपाया: प्रकीर्तिताः।
सिद्धोपायस्तु चरमे निर्दिष्टः कृपया मया॥७।६ बृहद् ब्रह्म संहिता।

इस प्रकार हरि-कृपा सिद्ध उपाय है और ज्ञान, कर्म, उपासना नाम के साध्य उपायों से श्रेष्ठ है।

है । गुरु-सेवा, सन्त-सेवा और प्रभु-सेवा—इस पथ के तीन सोपान हैं । प्रथम दो सोपानों का पर्यवसान प्रभु-सेवा में ही होता है । संत साधक या भक्त का नाम है । सूर ने भक्त और भगवान में अन्तर नहीं किया । दोनों को एक ही समझा है ।[1] गुरु और भगवान भी उनकी दृष्टि में एक हैं । नीचे हम इन तीनों के संबंध में सूरसागर के अनुसार विचार प्रकट करते हैं ।

गुरु की महिमा—उपनिषद काल से लेकर अब तक भारतीय साधना में गुरु का महत्व बराबर स्वीकृत होता आया है । गरुड़ पुराण, उत्तरखंड, द्वितीयांश धर्मकांड, अध्याय ४६ में लिखा है:—

मुक्तिदा गुरु वागेका विद्याः सर्वाः विडम्बिकाः ।८६।
तस्मात् ज्ञानेनात्मतत्वं विज्ञेयं श्री गुरोर्मुखात् ।।१०१।।

गुरु-वाणी ही मुक्तिदायिनी है । अन्य सब विद्यायें विडम्बना हैं, अतः गुरु के श्री मुख से ही आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । सन्त सम्प्रदायों ने गुरु और भगवान में कोई अन्तर ही नहीं समझा । कबीर लिखते हैं : "गुरु गोविन्द तौ एक हैं, दूजा यहु आकार ।" श्वेताश्वतर उपनिषद के अन्तिम श्लोक में : "यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरो"—कहकर गुरु और ईश्वर का सादृश्य स्थापित किया गया है । सूरदास की धारणा भी गुरु के सम्बन्ध में इसी प्रकार की थी । सूर की मृत्यु के आसन्न काल में जब चतुर्भुजदास ने पारसौली के स्थान पर कहा : "सूरदास जी ने बहुत भगवद् जस वर्णन कियौ, परि आचार्य जी महाप्रभून कौ वर्णन नाहीं कियौ"—तो सूरदास ने उत्तर दिया था: "मैं तो सब श्री आचार्य जी महाप्रभून को ही जस वर्णन कियो है । कछू न्यारौ देखूँ तौ न्यारौ करूँ ।"[2] इस कथन से सिद्ध होता है कि सूरदास भी गुरु और भगवान में अन्तर का अनुभव नहीं करते थे । इसी समय सूर ने आचार्य वल्लभ के सम्बन्ध में नीचे लिखा पद गाया था:—

भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ ।
श्रीवल्लभ नख चन्द छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरौ ।।

१—हरि हरि भक्त एक, नहिं दोई । पै यह जानत बिरला कोई ।।१।१६६

२—चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृष्ठ ३०२, द्वि० सं०, १८८३ वि०, मथुरा उल उलूम शिलायंत्र की छपी ।

साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरौ।
सूर कहा कहै द्विविध आंधरौ बिना मोल कौ चेरौ॥

सूरसागर के अन्य अनेक पदों में भी गुरु-महिमा का उल्लेख पाया जाता है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

(१) माया काल कछू नहिं व्यापै, यह रस रीति जु जानी।
सूरदास यह सकल समग्री गुरु प्रताप पहिचानी॥
सूरसागर १।२१७॥ (ना०प्र०स० ४०)

(२) प्रकट प्रतापज्ञान गुरुगम तें दधि मथि घृत लै तज्यौ मह्यौ।
सूरसागर २।४॥ (ना०प्र०स० ३५१)

(३) अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
शब्दहिं शब्द भयौ उजियारौ, सद्गुरु भेद बतायौ॥४।१२
सूरसागर (ना०प्र०स० ४०७)

(४) गुरु बिनु ऐसी कौन करै।
भवसागर ते बूड़त राखै दीपक हाथ धरै॥६।६
सूरसागर (ना०प्र०स० ४१७)

(५) गुरु की कृपा भई जब पूरण तब रसना कहि गान्यों॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १७६१)

(६) हरि लीनों अवतार कहत शारद नहिं पावै।
सद्गुरु कृपा प्रसाद कछुक तातें कहि आवै॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १११०)

(७) कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ॥
सारावली, पद ११०२

भगवान के माहात्म्य और स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु भक्त को ऐसे गुरु की शरण ग्रहण करनी ही चाहिये, जो स्वयं भगवद्-भक्ति-परायण हो, तत्वज्ञ हो और दम्भ-रहित हो। ऐसे गुरु की सेवा करने से भक्त का साधना-पथ प्रशस्त होता है और वह सर्वात्म भाव से भगवान के आश्रय में पहुँच जाता है।

सन्त-महिमा—भारतीय साधना में संत भी अनुपम आकर्षण रखते हैं।[१] सभी भक्त-कवियों की रचनाओं में संत-महिमा के गीत गाये गये हैं। कबीर, दादू, नानक, तुलसी, जायसी, रैदास प्रभृति सब एक स्वर से सन्तों का महत्व स्वीकार करते हैं। सन्तों की यह महिमा उनके स्वभाव, गुण और आचार के कारण है। जिसका आचार पवित्र है, स्वभाव सरल है, गुण-शील महान् है उसका संपर्क भक्त तो जहाँ-तहाँ, सामान्य जिज्ञासु जन के लिए भी कल्याण-कारी है। "खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है"—यह लोकोक्ति निराधार नहीं है। समानधर्मा व्यक्तित्व का प्रभाव भी अनिवार्य रूप से पड़ता है। जिज्ञासु की भक्ति-निष्ठा सत्संग से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उसमें सद्गुणों का आविर्भाव होता है और चरित्र-दृढ़ता सम्पन्न होती है। अतः साधक के लिए, भक्त के लिये और सामान्य जन के भी लिये सत्संग करना परमावश्यक है। सूरदास ने इस सम्बन्ध में कई पद लिखे हैं। उदाहरण के लिये हम यहाँ एक पद उद्धृत करते हैं:—

जा दिन सन्त पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करै फल जैसौ दर्शन पावत॥
नेह नयौ दिन दिन प्रति उनको चरण कमल चित लावत।
मन वच कर्म और नहिं जानत सुमिरत औ सुमिरावत॥
मिथ्यावाद उपाधि रहित ह्वै विमलिविमल जस गावत।
बन्धन कर्म कठिन जे पहिले सोऊ काटि बहावत॥

१—सत्संगश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम्।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्याद्मार्गगः॥
गरुड़पुराण, उत्तरखंड, द्वितीयांश धर्मकांड ४९-५७

पुष्टिमार्ग में सन्तों का विधि-विधानों के अनुसार संन्यासी होना आवश्यक नहीं माना गया है। आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ३-४-१७ के भाष्य में पृष्ठ ११९७ पर लिखते हैं:—स च संस्कारः संन्यासः मर्यादा मार्गे। पुष्टिमार्गे तु अन्यैव व्यवस्था। "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।" इति वाक्यात्। यही नहीं, ३-४-४८ के अणुभाष्य, पृष्ठ १२४६ पर उन्होंने सन्त एवं भक्त गृहस्थ:को संन्यासी से भी बढ़कर माना है:— "किञ्च संन्यासिनः आवश्यकाः ये धर्माः ततो अधिकास्ते गृहिणः सिद्ध्यन्ति।"

प्रवण कर देगी । इसी कारण आचार्य ने पुष्टिमार्ग में इस त्रिविधा सेवा का विधान किया ।

तनुजा सेवा के उद्बोधनार्थ सूर की नीचे लिखी पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं:—

> मैं जु कह्यौं सो देखि विचार । बिन हरि भजन नहीं निस्तार ॥
> हरि की कृपा मनुष्य तनु पावैं । मूरख विषय हेतु सु गँवावैं ॥
> नैन दरश देखन कों दिये । मूरख लखि परनारी जिये ॥
> श्रवण कथा सुनिबे कों दीने । मूरख परनिन्दा हित कीने ॥
> हाथ दिये हरि पूजा हेत । तेहि कर मूरख परधन लेत ॥
> पग दिये तीरथ जैबै काज । तिनसों चलि नित करत अकाज ॥
> रसना हरि सुमिरन कों करी । ताकरि परनिन्दा उचरी ॥४।११
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० ४०६)

जिस शरीर से मनुष्य विषय-भोगों में निरत होता है, उसे यदि प्रभु सेवा में लगा दें, तो उसका जन्म सार्थक हो सकता है । शरीर की प्रत्येक क्रिया-भोग, राग, शृंगार आदि का उपयोग अपने लिए न करके प्रभु के लिए किया जाय तो जीवन की प्रत्येक दिशा में परिवर्तन उत्पन्न हो सकता है । जब मानव की शरीर-संपत्ति प्रभु की ओर उन्मुख हो जायगी तो द्रव्य-सम्पत्ति के ब्रह्मोन्मुख करने में देर नहीं लगेगी । इस प्रकार तन और धन के प्रभु-सेवा में प्रवृत्त हो जाने पर, मन अपने-आप उधर चलने लगेगा । पुष्टिपथ में यह ऐसा भाव-सम्पन्न क्रम था जो मानव हृदय के निकट और सरल था । इसी कारण इसका प्रचार भी अधिक हुआ ।

पुष्टिमार्गीय भक्ति में सर्व प्रथम गुरु शिष्य से भगवान के चरणों में समर्पण कराता है जिसे ब्रह्म सम्बन्ध अथवा आत्म-निवेदन कहते हैं । समर्पण का मन्त्र इस प्रकार है:—

श्रीकृष्णः शरणं मम । सहस्र परिवत्सरमित काल जात कृष्ण वियोग जनित तापक्लेशानन्द तिरोभावोऽहं, भगवते कृष्णाय देहेन्द्रिय प्राणान्तः करणानि तद् धर्मांश्च दारागार पुत्रवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि, दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।

श्रीकृष्ण मेरे शरणस्थल हैं । सहस्रों वर्षों से मैं श्रीकृष्ण से वियुक्त होकर तापक्लेश के कारण आनन्द से विरहित हो गया हूँ । अतः अब मैं भगवान श्रीकृष्ण को शरीर, इंद्रिय, प्राण, अन्तःकरण, उनके धर्म, स्त्री, घर, संतति,

धन (ऐहिक तथा अपर) आत्मा के साथ समर्पित करता हूँ। हे कृष्ण! मैं आपका दास हूँ।

इसी समर्पण क्रिया के साथ प्रभु-सेवा का प्रारम्भ होता है। प्रभु की शरण जाने का उल्लेख सूर ने अनेक बार किया है, क्योंकि भक्ति-भवन की भूमिका यही है। सर्वात्मना भगवान की शरण ग्रहण किये बिना भक्त भक्ति के क्षेत्र में एक पग भी आगे नहीं बढ़ा सकता। सूर लिखते हैं:—

मन वच क्रम मन गोविन्द सुधि करि।
शुचि रुचि सहज समाधि साजि शठ दीनबंधु करुणामय उर धरि॥

× × ×

अजहूँ चेत मूढ़ चहुँदिशि ते काल अग्नि उपजत झुकि झरहरि।
सूर काल बलि व्याल ग्रसत है श्रीपति शरन परत क्यों न फरहरि॥१।१४६

सूरसागर (ना०प्र०स० ३१२)

अरे मूर्ख! सब कुछ छोड़कर, मन, वचन और कर्म से मन में भगवान का ही स्मरण कर। दीनबन्धु करुणामय भगवान को हृदय में धारण कर। यही सहज समाधि है, जिसे तुझे सजाना चाहिये। देखता नहीं, चारों ओर से कराल काल की लोहित लपटें, प्रज्वलित होती हुई, तेरी ओर बढ़ती चली आ रही हैं। अतः शीघ्र ही भगवान की शरण ग्रहण कर।

सूरदास स्वयं यही समझ कर प्रभु की शरण गये थे। उन्हीं के शब्दों में—

"यहै जिय जानि कैं, अंध भव त्रास तैं,
सूर कामी कुटिल शरण आयौ॥'

सूरसागर (ना०प्र०स० १-५)

तथा

"सब तजि तुव शरणागत आयौ निजकर चरण गहे रे॥"१।११०।

सूरसागर (ना०प्र०स० १७०)

प्रभु की चरण-शरण ही मुक्ति का द्वार है। इस शरण में अनन्य होनी चाहिये—इस भाव का उल्लेख सूर ने कई स्थलों पर किया है। गोपि उद्धव से कहती हैं:—

नाहिंन रह्यौ मन में ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत, चितवत, दिवस जागत, स्वप्न सोवत रात।
हृदय ते वह मदन मूरति, छिनु न इत उत जात॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ४३५

उद्धव ! हृदय में नन्दनन्दन श्रीकृष्ण निवास कर रहे हैं। चलते हुए, देखते हुए, जागृत तथा सुप्त प्रत्येक अवस्था में उन्हीं की छबीली छवि सामने रहती है। क्षण भर के लिए भी वह हृदय से उतर नहीं होती। वह मन में ऐसी बसी है कि किसी दूसरे के लिए वहाँ स्थान ही नहीं रहा :

हम अलि गोकुल नाथ अराध्यौ।
मन, बच, क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम-जोग-तप साध्यौ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ४१४८)

उद्धव ! हमने तो एक श्रीकृष्ण की ही आराधना की है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति में ही अनुरक्त रहती है, अन्य पुरुषों को पुरुष ही नहीं समझती, उसी प्रकार हमने मन, वचन और कर्म से हरि को ही अपना स्वामी समझा है। भगवत्प्रेम ही हमारा योग और तप है। वास्तव में गोकुल के नाथ भगवान श्रीकृष्ण ही सूर के सर्वस्व थे।[1] वही उनके आराध्य देव थे। कृष्ण-कीर्तन ही उनका जप, तप, ध्यान, ज्ञान आदि सब कुछ था।[2] उनके मत में जो सुख गोपाल-गायन में है, वह जप, तप, तीर्थ, स्नान आदि अन्य किसी भी साधन से प्राप्त नहीं हो सकता।[3]

यह था सूर का अनन्य भाव से श्रीकृष्ण के प्रति समर्पण। इसी समर्पण-भावना के साथ पुष्टिमार्गीय सेवा का आरम्भ होता है और भक्त में भगवान के स्वरूप को अनुभव करने की शक्ति आती है। यह सेवा भी भावना-प्रधान है। पूजा-उपासना की भाँति कर्मकांड की क्लिष्टता इसमें नहीं होती। श्रीकृष्ण की लीला के साथ अपने जीवन-क्रम को लगा देना और उन्हीं के भजन में मन को अनुरक्त रखना पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि की विशेषता है। यह सेवा-

---

१—मन बच क्रम सतभाव कहत हों मेरे स्याम धनी। १–१०७
सूरसागर (ना०प्र०स० २०७६)

२—स्याम बलराम को सदा गाऊँ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव को स्वप्न हू माँहि हृदय न लाऊँ॥
यहै जप, यहै तप, यम-नियम, व्रत यहै, यहै मम प्रेम, फल यहै पाऊँ॥
यहै मम ध्यान, यह ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६७)

३—जो सुख होत गोपालहिं गाये।
सो न होत जप तप के कीन्हे कोटिक तीरथ न्हाये॥ २–२
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४६)

विधि दो प्रकार की है: नित्य सेवा-विधि और वर्षोत्सव सेवा-विधि। नित्य सेवा में व्रजांगनाओं जैसी वात्सल्य भक्ति आ जाती है। इसके आठ भाग हैं: मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या, आरती और शयन। इनमें प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक कृष्ण की स्वरूप-पूजा में मन लगा रहता है। वर्षोत्सव की सेवा-विधि में षड्ऋतुओं के उत्सव, वैदिक पर्व, अवतार लीलायें, जयंतियाँ आदि आती हैं।

विश्व विश्वास पर टिका है, नहीं तो संशयग्रस्त संसारी जीव अपरिमित जन्मों में भी अपना उद्धार नहीं कर सकते। वे एक सत्ता में विश्वास करके ही ऊपर उठ पाते हैं। यह विश्वास-भावना, एक सत्ता में अविचल निष्ठा, अमंगल को भी मंगल में परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। विश्व वैसे भी मंगलमय है, क्योंकि वह मंगलमय भगवान से उत्पन्न हुआ है। हम अज्ञानी जीव अपनी अहंता और ममता से उसे अमंगलमय बना लेते हैं। हमारे व्यसन ही हमें नीचे गिरा देते हैं। यदि हम अपने इन व्यसनों को भगवान की सेवा में लगा दें, तो वे भगवद्रूप हो जाते हैं। अपने बच्चे के प्रति हमारा जो मोह है, उसके आमोद-प्रमोद के लिए हम जो साधन जुटाते रहते हैं, उसकी क्रीड़ाओं में विनोद का अनुभव करते हैं और उसके वियोग में तड़पने लगते हैं—उसे यदि हम भगवान की ओर मोड़ दें, तो हमारा जीवन-जगत जगमगाने लगे। इसी प्रकार पर्वों, उत्सवों, जयंतियों आदि में हम भगवान की लीलाओं का अनुभव करने लगें, तो हमारी यह अनुभूति जंगल में भी मंगल कर दे। इस भावना द्वारा हम गृहस्थ के जंजाल में फँसकर भी उससे मुक्त हो सकते हैं। आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्ग में इसी प्रकार की भावना-वलित सेवा-विधि प्रचलित की थी। महात्मा सूरदास ने उनके शिष्य बनकर इस सेवा-विधि को गीतों में परिणत किया। उनके काव्य का अधिकांश भाग नित्य तथा नैमित्तिक वर्षोत्सव के कीर्तनों से ही ओत-प्रोत है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

मंगला—

इसके तीन अंग हैं: भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप को जगाना, कलेऊ (मंगलभोग) कराना और मंगला आरती करना।

जगाना—

जागिये गुपाल लाल, आनन्द-निधि नन्दलाल,
जसुमति कहै बार बार, भोर भयो प्यारे।

सूरसागर (ना०प्र०स०८२३)

फलेऊ कराना—

अबही जसोदा माखन लाई।
मैं मथि कै अब ही जु निकार्यौ तुम कारन मेरे कुंवर कन्हाई।

आरती—

व्रज मंगल की मंगल आरती।
रतन जटित शुभ कनक थार लै ता मधि चित्र कपूर लै बारती॥

शृंगार—

श्रीकृष्ण के स्वरूप को उष्ण जल से स्नान कराना और आभरण आदि धारण कराना शृंगार के अन्तर्गत हैं, जैसे:—

जसुमति जबहिं कह्यौ अन्हवावन रोइ गये हरि लोटत री।
लेत उबटनौं, आगे दधि करि लालहि चोटत पोटत री॥

तथा

क्योंहू जतन जतन करि पाये। तब उबटन तेल लगाये॥
तातौ जल आनि समोयौ। अन्हवाइ दियौ मुख धोयौ॥
अंजन दोउ दृग भरि दीनौं। भुव चारु चखोड़ा कीनौं॥
अंग आभूषण जे बनाये। लालहि क्रम क्रम पहिराये॥१०-१६०

ग्वाल—

शृंगार भोग और ग्वाल भाव से घैया अरोगाना—
दै मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया।
दुहि लाऊँ मैं तुरत ही, तब मोहि दै घैया॥

राजभोग—

वन में गायें चराते समय छाक भेजना या घर में ही भोजन कराना—
जे सब ग्वाल गये घर घर कों तिनसों कहि तुम छाक मँगाई।
लौनी, दधि, मिष्ठान्न जोरि कैं जसुमति मेरे हाथ पठाई॥

तथा

जेंवत कान्ह नन्द जू की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छवि निरखति नंदरनियाँ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ८५६)

उत्थापन—

दोपहर में भोजन के अनन्तर शयन, उसके पश्चात प्रभु को जगाना उत्थापन कहलाता है और फल-फूलादि से भोग लगाना भोग कहा जाता है। संध्या के समय वन से गायें चराकर श्रीकृष्ण का घर पर लौटना और उस समय मंदिर में आरती करना संध्या आरती का रूप है। ब्यारू या शयन से पूर्व भोग कराके आरती की जाती है। उसके पश्चात श्रीकृष्ण के स्वरूप को सुला दिया जाता है, यह शयन कहलाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की प्रतिदिन सेवा की जाती है। ऋतु के अनुसार सेवा-विधि संबंधी सामग्री का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। सूरदास ने इन सब सेवा-विधियों पर पद लिखे हैं। वर्षोत्सव सम्बन्धी सेवा-विधि के भी कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

फूलडोल—फाल्गुण शुक्ला प्रतिपदा या चैत्र कृष्णा प्रतिपदा को मनाया जाता है:—

गोकुल नाथ विराजत डोल।
संग लिए वृषभान नंदिनी पहरे नील निचोल॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३५३७)

होली—सूरसारावली होली के वृहत् गान के रूप में है ही; सूरसागर में भी होली के अनेक गीत विद्यमान हैं, जैसे:—

स्यामा स्याम खेलत दोउ होरी।
फागु मच्यौ अति ब्रज की खोरी॥ सूरसागर (ना०प्र०स० ३५२८)

व्रतचर्या, मार्गशीर्ष स्नान—

ब्रज वनिता रवि कौं कर जोरें।
सीत भीत नहिं करति छहौं ऋतु त्रिविध काल जमुना जल खोरें॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १४००)

रासलीला—आश्विन शुक्ला पूर्णिमा का उत्सव है। इसी पीयूष वर्षिणी पूर्णिमा के दिन रासलीला होती है:—

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगंध पवन वहै रोम रोम सुखदाई॥
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रचि मंडली बनाई।
राधा वाम अंग पर कर धरि मध्यहिं कुँवर कन्हाई॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १७५६)

गोवर्धन पूजा और अन्नकूट—कार्तिक शुक्ला प्रतिप्रदा के दिन मनाया जाता है।

सरद कुहू निसि जानि दीपमालिका जो आई।
गोपन मन आनन्द फिरत उनमद अधिकाई॥
ऐपन थापे दीजिये घर घर मंगल चार।
× × × ×
लीने विप्र बुलाइ यज्ञ आरम्भन कीनों।
सुर पति पूजा मेटि राज गोवर्धन दीनों॥
जैसे हैं गिरिराज जू, तैसे अन्न कौ कोट।
मगन भये पूजा करें नर नारी बड़ छोट॥

इसी प्रकार वर्षोत्सव की अन्य सेवा-विधियों पर भी सूर ने पद-रचना की है। इन सेवा-विधियों का प्रचलन तो आचार्य वल्लभ ने ही किया था, परन्तु उनका वैभव-सम्पन्न प्रचुर विस्तार गोस्वामी विट्ठल नाथ ने किया।

पुष्टिमार्गीय भक्ति प्रेमलक्षणा है, ऐसा हम पीछे लिख चुके हैं। सूरदास और कबीर-पंथ शीर्षक अध्याय में हमने इस बात का भी उल्लेख किया है कि वैष्णव सम्प्रदाय अपने प्रारम्भ से ही प्रेमाभक्ति को लेकर अग्रसर हुआ। सूर की प्रेमा-भक्ति का भी हमने उस अध्याय में वर्णन किया है और कबीर पंथ पर पड़े हुए उनके प्रभाव को भी प्रदर्शित किया है। यहाँ हम पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा भक्ति पर कुछ विचार प्रकट करेंगे।

प्रेम की प्रभाव-परिधि विस्तृत है। चेतन, अर्धचेतन यहाँ तक कि अचेतन जगत भी प्रेम के पाशों में आबद्ध होता देखा गया है। सृष्टि-रचना के मूल में भी प्रेम का ही भाव कार्य कर रहा है। हरिलीला इसी कारण प्रेममयी है।

आचार्य वल्लभ ने प्रेम का आदर्श गोपिकाओं को माना है। गोपिकायें तीन प्रकार की हैं: कुमारिकायें, गोपांगनायें और व्रजांगनायें। व्रजांगनाओं का प्रेम वात्सल्य भाव का है। वे मातृत्व रूप से श्रीकृष्ण में प्रेम-भाव रखती हैं। नित्य-सेवा-विधि में इसका वर्णन हो चुका है। कुमारी गोपियों ने कात्यायनी आदि का व्रत रखकर पति रूप में श्रीकृष्ण की कामना की थी। अतः उनका प्रेम स्वकीया का प्रेम है और मर्यादा-पुष्टि-भक्ति में आता है। गोपांगनाओं ने लोक और वेद दोनों की मर्यादा का अतिक्रमण करके परकीया भाव से प्रेम किया था। इस प्रेम भाव को पुष्टि-पुष्टिमार्गीय माना जाता है।

प्रेम किसी भी प्रकार का हो, उसमें एक विचित्र आकर्षण रहता है। इस आकर्षण का कारण बाह्य अथवा आन्तरिक सौंदर्य है। सूरदास ने श्रीकृष्ण में दोनों प्रकार का सौंदर्य दिखलाया है। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं, जो सौंदर्य का अक्षय स्रोत है। तभी तो उनके अवतार के समय वे शोभा के अपार समुद्र को नंद के भवन तथा ब्रज की गली-गली में बहता फिरता अनुभव करते हैं। कृष्ण के अंग-अंग का सौंदर्य उन्हें अपनी ओर खींचता है और वे उसका वर्णन करते हुए अघाते नहीं। हरि के रमणीय रूप का, श्रीकृष्ण की अभिराम सुषमा का, उन्होंने अनेक पदों में उद्घाटन किया है। कहीं उनके अलकों की छवि का गीत अलिकुल गाते हैं, मुख-मुद्रा को देखकर आँखों में अनुराग उत्पन्न होता है, अधरों की लालिमा माणिक्य, बंधूक या पक्व बिम्बा-फल को भी लज्जित कर देती है, लोल लोचन दर्शकों के मन को गिरवी (बंधक) रख लेते हैं, रोमावली की रेखायें सूक्ष्म धूम्र-धाराओं से उपमित होते नहीं बनतीं, जाह्नुओं तक फैली हुई विशाल भुजायें नीचे की ओर मुख लटकाये हुए शेषनाग का अनुपम रूप हैं और कहीं उनका समग्र स्वरूप चित्त रूपी चातक के लिए अभिनव प्रेम का जलद बना हुआ है। चित्त को चुराने वाले उस रसनिधि नटनागर की शोभा कहते नहीं बनती। लोचनों की अंजलि बनाकर, अत्यन्त आतुर हो, मन उस छवि का पान करता है, पर तृप्त नहीं होता।[1] सुन्दरता का ऐसा अपार पारावार उमड़ा है कि बुद्धि और विवेक का समस्त बल लगाकर भी नागर मन उसके पार नहीं हो पाता, उसी में डूब-डूबकर रह जाता है।[2] हरि के इस रूप का चाहे मन से ध्यान करो और चाहे वचनों द्वारा विचार करो—न वह ध्यान में आता है और न विचार-व्याख्या का विषय है, वह तो अंग-अंग से अनुपम है, अनिर्वचनीय है।[3] हरि के रूप की माधुरी नेत्र-मार्ग से चलकर हृदय में प्रविष्ट होती है और चुपचाप वहाँ से मन को

१—सोभा कहत कहे नहिं आवै,
अंचवत अति आतुर लोचन पुट, मन न तृप्ति कों पावै॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १०६६)

२—देखो माई सुन्दरता कौ सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १२४६)

३—सजनी निरखि हरि कौ रूप।
मनसि वचसि विचारि देखौ अंग अंग अनूप॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २४४०)

निकाल ले जाती है। मन के साथ समस्त इन्द्रिय-प्रसार भगवान के हाथ बिक जाता है। है किसी में शक्ति जो इनके सामने अपराजित बना रहे?

गोपांगनायें इस अतुल छवि-धाम पर न्यौछावर हो गईं। उनका मन शरीर से निकल कर श्रीकृष्ण के रूप-पाश में आबद्ध हो गया।[1] हरि-दर्शन की इच्छा अकावोंड़ी के फटने पर उसकी रुई की भाँति नेत्रों के साथ उड़ी-उड़ी फिरने लगी।[2] जहाँ श्रीकृष्ण, वहीं गोपियाँ—वन में, निकुंज में कदम्ब के नीचे, यमुना के पुलिन पर—सर्वत्र, जैसे दोनों का अभिन्न संयोग हो। कोई कहती है, मैं कन्हैया को बाँध रखूँगी। कोई कहती है, मैं उसे अच्छा माखन खाने को दूँगी, चाहे जितना खा ले। इस प्रकार गोपियों की वृत्तियाँ श्रीकृष्ण में लग गईं, भगवत्परायण बन गईं।

गोपियों में राधा प्रमुख थी। सूर ने राधा और कृष्ण का धूमधाम से विवाह कराया है। अन्य गोपियाँ भी व्रतादि से समन्वित हो, रास में, श्रीकृष्ण के साथ स्वकीया की भाँति विहार करती हैं। स्वकीया-प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष सूर ने चित्रित किये हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

संयोग शृङ्गार—

नवल निकुंज, नवल नवला मिलि, नवल निकेतनि रुचिर बनाये।
बिलसत बिपिन बिलास बिविध वर, वारिज बदन बिकच सचु पाये॥

× × × ×

सूर सखी राधा माधव मिलि क्रीड़त हैं रति पतिहिं लजाये॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २६०५)

वियोग शृङ्गार—

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं॥

× × × ×

१—मैं मन बहुत भाँति समझायौ।
कहा करौं दरशन रस अँटक्यौ बहुरि नहीं घट आयौ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २५०७)

२—हरि दरसन की साध मुई।
उड़ियै उड़ी फिरति नैनन संग फर फूटे ज्यों आक रुई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २४७३)

ऐ ऊधौ कहियौ माधव सों विरह कदन करि मारत लुंजैं।
सूरदास प्रभु कौं मग जोवत, अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजैं॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ४६८६)

यह प्रेम तो उन गोपियों का है, जिन्होंने स्वकीया भाव से श्रीकृष्ण को पति मानकर प्रेम किया था। इसमें मर्यादा थी। पर जिन गोपांगनाओं ने लौकिक एवं वैदिक सभी मर्यादाओं से दूर रहकर, समस्त कर्म-फलों की आकांक्षाओं से अनासक्त होकर भगवान से परकीया रूप में प्रेम किया था, वे पुष्टि-पुष्टि रूप हैं। उनका प्रेम उत्कृष्ट कोटि का है। रास में राधा स्वकीया रूप से कृष्ण के वामांग में रहती है, पर चंद्रावली जो पद्म पुराण के अनुसार श्रुति स्वरूपा है, रास में श्रीकृष्ण के दक्षिण की ओर रहती है, जो परकीया का स्वरूप है। नीचे लिखा पद परकीया प्रेम को प्रकट करता है :—

मेरो मन गोपाल हर्यो री।
चितवत ही उर पैठि नैन मग ना जानो धौं कहा कर्यौ री॥
मात,पिता,पति,बंधु सजन जन सखि आँगन सब भवन भर्यौ री।
लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहू पै राख्यो न पर्यौ री॥
धर्म धार कुल कानि कुंचो करि तेहि तारों दै दूरि धर्यौ री।
पलक कपाट कठिन उर अन्तर इतेहु जतन कछु वैन सर्यौ री॥
बुधि विवेक बल सहित सच्यौ पचि सुधन अटल कबहूँन टर्यौ री।
लियो चुराइ चितै चित सजनी सूर सो मो मन जात जर्यौ री॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २४६०)

इस पद में गोपांगना के पति देव भी आँगन में बैठे हैं, माता-पिता आदि भी उपस्थित हैं, वैदिक तथा लौकिक दोनों पहरेदार सचेत हैं; फिर भी हरि ने गोपांगना के मन रूपी अत्यन्त सुरक्षित अटल धन को चुरा ही लिया। परकीया का प्रेम लौकिक पतिदेव से हटकर देवों के देव परम प्रभु में पर्यवसित हो गया। पुष्टिपथ में इसी प्रकार का प्रेम परा कोटि का माना जाता है। रागानुगा भक्ति का यही रूप है, जो विधिनिषेध के समस्त बंधनों की जड़ काट देता है। इसमें मन "लोक-वेद-कुल निदरि, निडर ह्वै करत आपनों भायौ" —सब फलासक्तियों को छोड़कर निर्भय हो जाता है[1] और परब्रह्म के साथ

१—आचार्य वल्लभ १-१-११ के अणुभाष्य, पृष्ठ १८६ पर लिखते हैं:—जीवेतु आनन्दमयः पुरुषोत्तमः प्रविशति इति रसात्मकत्वात् आनन्दात्मकमेव विरहभावरसाविधम् अनुभूय पश्चात् प्रादुर्भूतं प्रभु स्वरूपम् प्राप्य 'न बिभेति कुतश्चन' इति वाक्येन लोकात् तदभावम् उक्तवा ······भयाभावः उच्यते।

अहैतुकी प्रीति करने लगता है। सूर ने वंशी को वन राज्य को जीतकर जो घूँघट-पट रूपी कवच, लज्जा रूपी सेना और शील रूपी गज-समूह को भगा देने वाली और समस्त रीति-नियमों पर पानी फेर देने वाली कहा है, उसका आधार यही रागानुगा भक्ति है।

आचार्य वल्लभ ने लिखा है: "कृष्णाधीना तु मर्यादा, स्वाधीना पुष्टिरुच्यते।" जब तक कृष्ण की अधीनता रहती है, तबतक मर्यादा है, कबीर के शब्दों में हद है, मेंड़ है। स्वाधीन अवस्था, बेहद या असीम, शुद्ध पुष्टि कहलाती है, ज पुष्टि-प्रवाह, पुष्टि-मर्यादा और पुष्टि-पुष्टि के भी ऊपर है। यह ब्रह्म भाव की भक्ति है। इसी को स्वतंत्र भक्ति कहा जा सकता है।[1] फिर भी ऊपर उल्लिखित तीनों अवस्थाओं से जो सुख प्राप्त होता है, वह सायुज्य, सालोक्य मुक्ति या स्वर्गादि में भी नहीं मिलता। पुष्टिमार्गीय भक्ति भक्त को भगवान की लीला में भाग लेने वाला बना देती है। जीव प्रभु की सेवा के लिये ही उत्पन्न हुआ था, पुष्टिपथ उसे इस सेवा में पहुँचा देता है। यही उसका परम लक्ष्य एवं परमधाम है। इस भक्तिमार्ग पर चलने वाला चाहे गृहस्थ में रहे और चाहे संन्यास ले ले, यदि वह तन, मन, धन से प्रभु की सेवा में लगा रहता है, तो एक दिन प्रभु के प्रेम का पात्र और हरि के लीला-धाम में प्रवेश करने का अधिकारी अवश्य हो जायगा।

इस प्रकार पुष्टिमार्गीय भक्ति में वात्सल्य भाव, कान्तभाव (स्वकीया और परकीया सम्बन्धी) ब्रह्मभाव और सख्यभाव—सभी प्रेमपरक भावों की प्रधानता है। प्रथम तीन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। सख्यभाव की भक्ति का वर्णन नीचे लिखे पदों में है:—

(१) खेलत स्याम ग्वालन संग।
सुबल, हलधर अरु सुदामा करत नाना रंग॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ८३१)

(२) सखा कहत हैं स्याम खिसाने।
आपुहिं आप ललकि भये ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने॥

१—ब्रह्मसूत्र ३-२-३० के अणुभाष्य, पृष्ठ १०७३ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूपः तदुपलब्धेः। स्वाधीनत्वेन तत्प्राप्तेरित्यर्थः। यद्यपि पुरुषोत्तमे प्रवेशे तदानन्दानुभवो भवति तथापि न प्रभोः तदधीनत्वम्।……लीलायां सुहृत्वेन प्रभु निकटे स्थितिः उक्ता भवति।

ग्वालहिं बोलि उठे हलधर तब इनके माय न बाप।
हार जीत कछु नेंकु न जानत, लरिकन लावत पाप॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ८३२)

(३) खेलन में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति तुमतें कछु नाहिन, नाहिन बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ८६३)

स्याम (भगवान) सुबल, हलधर आदि सखाओं[1] (अपने ही अंशरूप जीवों) के साथ खेल रहे हैं। लीला हो रही है—नाना प्रकार के रंगों के साथ। वह लीलामय कर्मी-कर्मी जीवों पर कुपित भी हो उठता है। बलराम ने ठीक ही व्यंग्य कसा—"श्रीकृष्ण क्या जानें, खेल में हार-जीत क्या होती है? न इनके माँ है, न पिता।" प्रभु का वास्तव में न कोई जनक है न जननी। हार और जीत का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह इन सबसे ऊपर है, कूटस्थ है, कूट अर्थात् अत्यन्त उच्च, उच्चतम शिखर की स्थिति में विराजमान। लीला में, खेल में, भाग लेने पर जीव उसके निकट ही रहता है। वैसे भी दोनों सयुजा और सखा हैं। दोनों सत और चित हैं। प्रभु के साथ रमण करने पर जीव में आनंदांश भी आ जाता है। अतः जाति में जीव ब्रह्म से किसी प्रकार भी हीन नहीं है। यह ठीक है कि कृष्ण के पास गायें कुछ अधिक हैं। जीव अग्नि रूप प्रभु का एक स्फुलिंग है। प्रभु ऐसे अनन्त स्फुलिंगों का पुंज है, स्रोत है। अतः अनन्त स्फुलिंगों के रूप में

१—बृहद ब्रह्म संहिता में प्रभु को जीवों का आत्मा तथा सखा कहा गया है:—"त्वमात्मा सर्व जीवानां सखा च त्वं रमापते॥"२-५३

ब्रह्मसूत्र ४-४-२१ के अणुभाष्य, पृष्ठ १४२८-२६ पर आचार्य वल्लभ भक्त और भगवान के साम्य तथा सखाभाव के संबंध में लिखते हैं:—इतोऽपि हेतोः पुरुषोत्तम स्वरूपमेव परमं फलमिति ज्ञायते। यतः, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति श्रुतौ भक्तसाम्यमुच्यते। तच्च पुरुषोत्तमे एव संभवति। यतः सख्यम् दत्वा तत्कृतात्म निवेदनम् अंगी कुर्वन् अति करुणः स्वस्वरूपानन्दम् अनुभावयन् तं प्रधानी करोति अन्यथा भक्तः अनुभवितुम् न शक्नुयात्। युक्तम् चैतत्। प्राप्तं फलं स्वाधीनम् भवत्येव अन्यथा फलत्वमेव न स्यात्।

गायों की अधिकता स्पष्ट है। आनन्द की मात्रा भी उसमें जीव से अधिक है। इसलिये उसका अधिकार जीव पर है ही। पर जीव इस आधार पर अपनी हीनता मानने को उद्यत नहीं है, क्योंकि है तो वह ब्रह्म का ही अंश। अंश अंशी से पार्थक्य का अनुभव क्यों करे ?

सख्यभाव की भक्ति का जो निर्देश ऊपर किया गया है, उसमें प्रतीकों के आधार पर अध्यात्म भाव का आकर्षक रूप देखने को मिल जाता है। सूर का काव्य भाव-प्रधान है और भाव-जगत में समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकार तथा प्रतीकवाद, ध्वनि, व्यंग्य आदि के आधार पर श्रोता, पाठक तथा भावक की विशिष्ट मनोदशायें विभिन्न भावों की ओर जा सकती हैं। सूर का अध्ययन करते हुए हमने इस स्थिति का अनुभव अनेक बार किया, जिसकी कुछ झलक आगामी अध्याय में दिखाई देगी। जो भक्ति हरिलीला से सम्बन्ध रखती है, उसमें यदि इस प्रकार की भाव-लीला के दर्शन होते हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

षष्ठ अध्याय

सूरदास और हरिलीला

सूरदास और हरिलीला

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, पुष्टिमार्गीय भक्ति की विशेषता हरि-लीला में चरितार्थ होती है। हरिलीला रसमयी है, आनन्दमयी है, परन्तु भक्त भगवान के जिस रूप की जब और जिस प्रकार भावना करते हैं, भगवान उसी रूप में उस समय प्रकट होकर अपने भक्त की अभिलाषा को पूर्ण करते हैं।[1] प्रभु के इस रूप को वेद ने वृषभ (वर्षक) और वृषव्रत कहकर पुकारा है। प्रभु का यह स्वभाव है, विरद और बाना है कि वे भक्त के मनोरथ को सफल करते हैं, उनके ऊपर शांति और सुख की वर्षा करते हैं। वैष्णव भावना के अनुसार लीलामय श्रीकृष्ण अपने वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवम् संकर्षण व्यूहों से ब्रज में प्रकट हुए थे और इन रूपों द्वारा उन्होंने मोक्ष, वंश-वृद्धि, धर्मोपदेश तथा संहार कार्य किये थे। इन कार्यों के साथ भक्तों की अभिलाषायें जुड़ी हुई हैं।

श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध, दशम अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति, और आश्रय इन दश विषयों का वर्णन है। इन्हें हम हरिलीला के ही दश भेद कह सकते हैं। इनमें प्रथम पाँच भगवदन्वय रूप हैं। इनमें भगवान कारण रूप से रहते हुए लीलायें करते हैं। अन्तिम पाँच में भगवान भिन्न रूप से दिखाई देते हैं। अतः वे लीलायें व्यतिरेक वाली कहलाती हैं। आचार्य वल्लभ ने इस स्थल के सुबोधिनी भाष्य में इन दशविध लीलाओं की व्याख्या इस प्रकार की है:—

अशरीरस्य विष्णोः पुरुष शरीर स्वीकारः सर्गः, पुरुषाद् ब्रह्मादीनामुत्पत्तिः विसर्गः, उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्, स्थितानामभिवृद्धिः पोषणं, पुष्टानामाचार ऊतिः तत्रापि सदाचारो

---

[1]—३-३-१० के अणुभाष्य में पृष्ठ १०१६ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—
ब्रह्मणो व्यापकत्वात् लीलायाश्च तेन सह अभेदात् तथात्वात् एकस्मै भक्ताय यथा ब्रह्मणा सह लीलापदार्था आविर्भवन्ति तथैव तदैव अन्यत्रापि भक्तसमान देश आविर्भवन्ति इति।

मन्वन्तरम्, तत्रापि विष्णु भक्ति रीशानुकथा, भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः, निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः, मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेण अवस्थानम् आश्रयः ।

अशरीरी विष्णु का पुरुष-शरीर धारण करना सर्ग है । सर्ग रचना को कहते हैं । यह रचना दो प्रकार की है: अलौकिक और लौकिक । त्रिगुणातीत लीला अलौकिक है, लौकिक सर्ग-लीला अट्ठाईस तत्व आदि की उत्पत्ति है । आचार्य वल्लभ ने "सदंशेन जडा अपि", तथा "अष्टाविंशति तत्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः" कहकर इस जगत को, रचना को, प्रभु का ही शरीर धारण करना माना है । रचना के समय इसका आविर्भाव और प्रलय के समय तिरोभाव होता रहता है । रचना के पश्चात् जो ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति होती है और उनके द्वारा जो कार्य होता है, उसे विसर्ग कहते हैं । जो उत्पन्न हुए हैं (पृथ्वी आदि), वे अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं, यही स्थान है । स्थितों की अभिवृद्धि पोषण है । यह भगवत्कृपा-साध्य है । अतः पोषण को भगवान का अनुग्रह भी कहा गया है । भगवान के अनुग्रह से पुष्ट जीवों का (तथा अन्यों का भी) आचार ऊति कहलाता है । यह आचार भगवन्मय होता है इसमें जीव कृष्ण-वासना-प्रधान हो जाते हैं । सदाचार अर्थात् अच्छे आचार की प्रवृति को मन्वन्तर कहते हैं । ईशानुकथा भगवद्भक्ति-परक कथाओं का नाम है । भक्तों के अन्दर प्रपञ्च का अभाव, मेरे-तेरे-पन रूप संसार का विनाश ही निरोध है । प्रपञ्च-विहीन जीवों का स्वरूप-लाभ या कृष्ण-प्राप्ति ही मुक्ति है, और ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति का नाम आश्रय है ।

महात्मा सूरदास ने इसी आधार पर नीचे लिखे पद में दश-विध लीलाओं के नाम और उनकी व्याख्या दी है:—

श्री भागवत सकल गुन खानि ।
सर्ग, विसर्ग, स्थान अरु पोषण, ऊति मन्वन्तर जानि,
ईश, प्रलय, मुक्ति, आश्रय पुनि ये दस लच्छन होय ।
उत्पति तत्व सर्ग सो जानो, ब्रह्माकृता विसर्ग है सोय ।।
कृष्ण अनुग्रह पोषण कहिये, कृष्ण वासना ऊति ही मानों ।
आछे धर्मन की प्रवृत्ति जो, सो मन्वन्तर जानों ।।
हरि हरिजन की कथा होय जहाँ सो ईशानु ही मानु ।
जीव स्वतः हरि ही मनि धारै सो निरोध हिय जानु ।।

तजि अभिमान कृष्ण जो पावै सोई मुक्ति कहावै।
सूरदास हरि की लीला लखि कृष्ण रूप ह्वै जावै ॥[1]

सूरदास कहते हैं:—अभिमान छोड़कर यदि जीव इस भगवल्लीला के दर्शन कर सके, तो वह कृष्ण रूप हो जाता है।[2] आचार्य वल्लभ ने इस हरिलीला को नित्य और वर्षोत्सव पर्वों के रूप में प्रतिष्ठित किया था। नित्य की भावना में श्रीकृष्ण नन्द-भवन में बाल-भाव से और निकुञ्ज में किशोर-भाव से प्रातः काल से लेकर शयन पर्यन्त नाना प्रकार की रसमयी लीलायें करते हैं। वर्षोत्सव पर्वों की भावना में षट्ऋतु आदि की लीलायें सन्निविष्ट हैं, जिनका उल्लेख विगत अध्याय में हो चुका है। ये लीलायें श्रीकृष्ण के जन्म समय अर्थात् जन्माष्टमी से प्रारम्भ होती हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, ये लीलायें नित्य और आनन्दमयी हैं। आनन्दमयता के दोनों पक्ष, साधन-पक्ष और साध्य-पक्ष, इनके अन्तर्गत आते हैं। आगामी प्रकरणों में इन बहु-विध लीलाओं में से हमने केवल सात लीलाओं का वर्णन किया है, जिनमें रासलीला, मुरली, गोपियाँ, माखन-चोरी और चीर-हरण साध्य-पक्ष के अन्दर हैं तथा शेष दो दावानल-पान और असुरवध नाम की लीलायें साधन-पक्ष में आती हैं। दुष्टता एवम् दुष्टों का विनाश, असुर-वध, अन्त में आनन्दमय परिणाम को ही प्रकट करता है। रासलीला आदि स्वतः स्वरूप से ही आनन्दमय हैं। भगवल्लीला में उभय पक्षों का समन्वय है।[3] अतः उसके इन दोनों पक्षों के प्रमुख रूपों का ही उल्लेख आगामी सात प्रकरणों में किया जायगा।

१-सूरनिर्णय, पृष्ठ १२३ (यह पद प्रकाशित सूरसागर की किसी भी प्रति में नहीं मिलता।)

२—१-१-११ के अणुभाष्य, पृष्ठ १८६ पर आचार्य वल्लभ ने भगवान की लीला में प्रविष्ट जीवों को प्राकृत गुण वाले प्रपञ्च (शरीर) से रहित तथा गुणातीत प्रपञ्च (शरीर) को प्राप्त करने वाला कहा है। अस्मात् लोकात् प्रेत्य······प्राकृतगुणमयं प्रपञ्चमप्र तिक्रम्य गुणातीतं प्रपञ्चं साक्षात् लीलोपयोगिनं प्राप्नोति इति अवगम्यते। लीला के लिए उपयोगी यही रूप है, जिसे कृष्ण रूप हो जाना कहा जाता है। इसी प्रकार ४-२-१ के अणुभाष्य में पृष्ठ १२०१ पर आचार्य जी ने इसी तथ्य का उद्घाटन इस प्रकार किया है:—तथा पुरुषोत्तम लीलायाः अपि पुरुषोत्तमात्मकत्वात् तत्र अंगीकार मात्रेण प्राचीन अशेष प्रावाहिक धर्म निवृत्तौ शुद्ध जीवस्य पुरुषोत्तम लीलात्मक देहादिरपि तदीयत्वेन संपद्यते इति न अनुपपन्नम् किञ्चित्।

३—पीछे 'हरिलीला क्या है'? शीर्षक प्रकरण में भी हमने सृजन एवम् ध्वंश दोनों पक्षों को हरिलीला के अन्तर्गत स्थान दिया है।

रासलीला

रासलीला—रास शब्द रस से बना है। रसो वै सः, अर्थात् भगवान स्वयं रसरूप हैं, आनन्द रूप हैं। उपनिषद् में कहा है: आनन्द रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। यह रसरूप ब्रह्म केन्द्र है और उसकी परिधि है ब्रह्मांड का यह चक्र, जिसे उसकी लीला कहा जाता है। कहाँ तो वैष्णव भक्ति का आचार्यों द्वारा वर्णित यह आनन्द रूप जिसके मूल में आनन्द और परिणाम में भी आनन्द; और कहाँ ईसाइयों का वह घोर दुःखवाद एवं पाप-बोध की भावना !! मालूम नहीं पाश्चात्य विद्वानों ने भागवत भक्ति को ईसाइयों की प्रायश्चित्त वाली भावना से कैसे मिला दिया ? एखार्ट नामक ईसाई सन्त ने ईसाइयों की आध्यात्मिकता-प्रिय वृत्ति को शास्त्र-सम्मत रूप अवश्य दिया था, जिसमें पापबोध, संस्कारों का सुधार, पवित्रीकरण, महनीय भाव की अनुभूति और अन्त में प्रभु के साथ तादात्म्य भाव की प्रधानता थी; परन्तु ईसाइयों का यह भाव वैष्णव धर्म की आनन्द भावना से एकदम विपरीत है। वैष्णवों की रासलीला इसी आनन्द-भावना के अनुभव करने का नाम है।

वंगीय विद्वानों ने जहाँ वैष्णव भक्ति को विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है, वहाँ उन्होंने रासलीला को भी विज्ञान-समस्त सिद्ध किया है। इन विद्वानों की सम्मति में, वाह्य जगत में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित, आकर्षण का एक नियम पाया जाता है। इस अनन्त आकाश में अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह लगे हुए हैं। सूर्य केन्द्र में है और ये समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं। आकर्षण की शक्ति इनको परस्पर सम्बद्ध किए है, इधर-उधर गिरने नहीं देती। रासलीला में कृष्ण केन्द्रस्थ सूर्य हैं; राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह और उपग्रहों के रूप में हैं।

इस विचार से भी अद्भुत एक और विचार है। भौतिक शास्त्र के आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं ने अपनी गवेषणा द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियों के समूह का नाम है। अणु का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच में एक केन्द्र बिन्दु है, जिसके चारों ओर अनेक गति और प्रगति के तार चक्कर काट रहे हैं। इनमें अनन्त लहरें और

अपरिमित कम्पन हैं। रासलीला में वह केन्द्रीभूत कृष्ण अपने चारों ओर गोपियों के रूप में ऐसी ही लहरें उत्पन्न कर रहा है।

किसी-किसी विद्वान ने रासलीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में किया है। कहते हैं, यही तो शिव का नृत्य है। डम-डम डमरू की ध्वनि इस आकाश में फैली हुई अनन्त शब्द-ध्वनियाँ हैं और शिव के पद-तल की कभी सम और कभी विषम गति लास्य एवं तांडव नाम के नृत्य को जन्म दे रही है। नृत्य का यही शाश्वत रूप रासलीला द्वारा प्रकट किया गया है।

एक विचार और भी रासलीला के साथ सम्बद्ध है, जिसके अनुसार यह लीला शुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा हैं और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव। वृन्दावन (आचार्य वल्लभ का गोकुल) सहस्र दल कमल है। यहीं तो आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। परन्तु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टिमार्गीय विचारों के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न-भिन्न रहते हैं। मुक्त जीव परमात्मा के साथ क्रीड़ा करते हैं, उसकी लीला में भाग लेते हैं। गोपिकायें भी रासलीला में कृष्ण के साथ खेल खेलती हैं।

ऊपर लिखे विचारों से कम-से-कम एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि रासलीला एक प्रकार का रूपक है। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का एक नाम राधा भी दिया है। यह नक्षत्र कृत्तिका नक्षत्र से चौदहवाँ नक्षत्र है। पहले नक्षत्र-गणना कृत्तिका से होती थी। इस गणना के अनुसार विशाखा अर्थात् राधा नक्षत्र ठीक बीच में पड़ता है। वैष्णव भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रास-मंडल के मध्य में स्थित होने के कारण, कम-से-कम, रास-मंडल के अनुसार उसका प्रधान स्थान है।

रास में राधा का परकीया रूप :—यहाँ प्रश्न होता है कि लौकिक परिवेश में कृष्ण का राधा के साथ क्या सम्बन्ध है? वह स्वकीया है अथवा परकीया? महाभारत, विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण में कृष्ण की स्त्रियों के नाम दिये हैं, जिनमें सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि नाम आते हैं, परन्तु राधा का नाम नहीं आता। राधा को किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में कृष्ण की पत्नी नहीं कहा गया है। तो क्या राधा परकीया है? सूर ने ऐसा नहीं कहा। उसने अपने सूरसागर में राधा और कृष्ण का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ कराया है। परन्तु चैतन्य सम्प्रदाय में राधा को परकीया ही माना गया है।

यही नहीं, बंगीय वैष्णव शाखा में परकीया प्रेम को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसे प्रेम की चरम सीमा माना गया है। कतिपय विद्वानों ने इस परकीया प्रेम का मूल ऋग्वेद तक में ढूँढ़ निकाला है और उसको दर्शन की आधार भूमि पर ला खड़ा किया है। इस पक्ष के विद्वान कहते हैं कि ईसवी सन् के आसपास शाक्तों का एक सम्प्रदाय पराशक्ति की उपासना स्त्री रूप में करता था। त्रिपुर सुन्दरी के साथ घुलमिल जाना इनकी साधना का अन्तिम लक्ष्य था। इसी शक्ति के नाम बौद्धों में प्रज्ञा पारमिता और तारा आदि के रूप में स्वीकृत हुए हैं। अन्य विद्वान ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि तन्त्र मत आदर्श-भ्रष्ट बौद्ध संघों से उत्पन्न हुआ। बौद्ध धर्म की पतितावस्था ने लोक में अबाध व्यभिचार फैला रक्खा था। हमारे समाज के अनेक दोष उन दिनों नग्न रूप में प्रकट हो गए थे। आचार्यों ने इन दोषों को धार्मिकता के बन्धनों में लपेटना चाहा और परिणामतः परकीया प्रेम की उत्पत्ति हुई।

बंगीय विद्वान जिस तत्व पर इतना बल देते हैं, वह उत्तरी भारत में कभी ग्राह्य नहीं हुआ। कदाचित् इसीलिए वल्लभ सम्प्रदाय में राधा तथा अन्य गोपियों को परकीया नहीं समझा गया। भागवत में इस सम्बन्ध की एक कथा है : एक बार कृष्ण अन्य गोपालों के साथ गायें चरा रहे थे। ब्रह्मा ने इन गायों और गोपालों को चुराकर छिपा दिया। कृष्ण ताड़ गये और उन्होंने अपनी शक्ति द्वारा उतनी ही गायों और गोपालों का रूप धारण कर लिया। इसी वर्ष गोपियों का विवाह हुआ। साल भर बाद जब ब्रह्मा ने गायों और गोपालों को लौटा दिया तो किसी भी गोपाल को अपने विवाह की स्मृति नहीं थी, अतः वास्तव में गोपियों का विवाह कृष्ण रूप गोपालों से हुआ था। यह है भागवतकार की स्वकीया प्रेम की आधार भूमि। समाज में जिन बातों से विक्षोभ उत्पन्न होता है उन बातों को कोई आचार्य दार्शनिक रूप देकर भले ही टालना चाहे, परन्तु समाज से उसे स्वीकृति प्राप्त नहीं होती। इस सामाजिक अड़चन को दूर करके वल्लभ सम्प्रदाय वालों ने वैष्णव भक्ति को लोक-सम्मत रूप दे दिया।

दो मौलिक विचार:—इसी सम्बन्ध में वैष्णव भक्ति-भाव से उत्पन्न दो मौलिक विचार भी स्मरणीय हैं। एक है, बौद्ध धर्म के पतन से लेकर [illegible] काल तक फैली हुई विलासिता को, व्यभिचारी प्रेम को, भगवान के प्रति अर्पण कर देना और इस प्रकार मानव की कलुषित मनोवृत्ति को वासना के कर्दम से निकाल कर आध्यात्मिक [illegible] में परिवर्तित कर देना।

दूसरा विचार है वैराग्य को, निवृत्ति परायणता को, प्रवृत्ति में परिणत कर देना। वैराग्य की यह भावना जिसने हमारे हृदयों में घर कर रक्खा था और जिसके कारण हम संसार को मिथ्या समझने लगे थे, भक्ति की इस प्रबल धारा में बहकर न जाने कहाँ विलीन हो गई। कृष्ण की बाललीला एवं रासलीला में मग्न होकर मानव-मन खिन्नता से पृथक्, उदासीनता से दूर और नैराश्य से हटकर घर के मंगल कार्यों में तत्पर होकर भाग लेने लगा। वैष्णव धर्म की यह देन आर्य जाति के लिए रामबाण औषधि सिद्ध हुई। धन्य हैं वे कवि जिन्होंने अपनी वाणी द्वारा इस भक्ति का जनता में प्रचार किया।

सूर की रासलीला—ऊपर जिस लीला के सम्बन्ध में हमने कुछ विचार प्रकट किये हैं, उसका वर्णन विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण, श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी पाया जाता है। सूर ने इस रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी से लिया है। पर, जैसा हम लिख चुके हैं, भागवत में राधा का नाम नहीं आता। भगवान की एक ऐसी आराधिका गोपी का वर्णन अवश्य आता है, जिसे वे सर्वाधिक प्यार करते थे। सूर ने इसी गोपी को राधा नाम दिया है।

यद्यपि वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायियों ने परकीया के स्थान पर स्वकीया को महत्व दिया है, परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में वंगीय वैष्णव शाखा से वे भी प्रभावित जान पड़ते हैं। तभी तो उस शरच्चन्द्रिका--धौत निर्मल विभावरी में जब रास प्रारम्भ होने से पूर्व मोहन की मुरली बजती है, तो गोपिकायें अपने समस्त गृहकार्यों का परित्याग करके, आर्य-मर्यादा का उल्लंघन करती हुई अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, शीतल-मन्द सुगन्ध समीर से मादकतरंग-संकुल यमुना-तट पर जा पहुँचती हैं। सूर इस समय का वर्णन करते हुये लिखते हैं:—

> जब मोहन मुरली अधर धरी।
> गृह व्यवहार थके आरज पथ तजत न संक करी॥
> पद-रिपु पट अटक्यो आतुर ज्यों उलटि पलटि उबरी।
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० १२७७)

> जबहिं बन मुरली स्रवण परी।
> चकृत भई गोप कन्या सब काम धाम बिसरी॥
> कुल मरजाद वेद की आज्ञा नेकहु नाहिं डरी।
> जो जेहि भाँति चली सो तैसेई निशि बन कुन्ज खरी।
> सुत पति नेह, भवन जन शंका, लज्जा नाहिं करी॥
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० १६१८)

मुरली मधुर बजाई श्याम।
मन हरि लियो भवन नहिं भावै व्याकुल ब्रज की बाम॥
भोजन भूषण की सुधि नाहीं, तनकी नहीं सँभार।
गृह-गुरु-लाज सूत सौं तोर्‌यो डरी नहीं व्यवहार॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६०७)

मुरली सुनत भई सब बौरी।
छुटि सब लाज गई कुल कानी,सुनि पति-आरज-पंथ भुलानी॥
सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ३३८,३३६

इन गीतों में सूर ने जिस आर्य-पथ, कुल-मर्यादा, वेद की आज्ञा, सुत-पति-स्नेह, भवन-जन-शंका, गुरु-गृह-लज्जा आदि के परित्याग का उल्लेख किया है, वह परकीया प्रेम को ही अभिव्यञ्जित कर रहा है। नीचे लिखे पदों में विश्व-विमोहक मुरली-ध्वनि के प्रभाव को देखिये:—

जब हरि मुरली नाद प्रकास्यौ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हे, पाहन जलज विकास्यौ॥
स्वर्ग पाताल दसौ दिसि पूरन, धुनि आच्छादित कीन्हों।
निसि वर कल्प समान बढ़ाई, गोपिन को सुख दीन्हों॥
मैमत भये जीव जल थल के, तन की सुधि न सँभार।
सूर स्याम मुख बैन मधुर सुनि, उलटे सब व्यवहार॥५२
सूरसागर (ना०प्र०स० १६८५)

मुरली गति बिपरीति कराई।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यो राधा रवन बजाई॥
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृण धेनु।
जमुना उलटी धार चली बहि पवन थकित सुनि बेनु॥ ५३
सूरसागर,पृष्ठ ३४७

मुरली की इस ध्वनि को सुन कर ऐसी किस में सामर्थ्य थी, जो चुपचाप बैठा रहता। जो मुरली यमुना की धारा को उलट कर बहा सकती है, पवन को मूक, चन्द्र को स्तब्ध और सुर-गंधर्वों को व्याकुल बना सकती है, जिसकी ध्वनि को सुनकर गायें चरना छोड़ देती हैं, बछड़े दूध नहीं पीते, शिव की समाधि भंग हो जाती है, खग, मृग, तरु, सुर, नर, मुनि आदि सब पर जिसका अबाध अधिकार है, उसकी ध्वनि कान में पड़ते ही गोपिकायें कुल-लज्जा को दूर करती हुई कृष्ण के पास पहुँच ही तो गईं! कैसा जादू है इस मुरलिका में!! सूर कहते हैं:—

लै लै नाम सबनि कौ टेरैं, मुरली ध्वनि घर घर के नेरैं।

सूरसागर (ना०प्र०स० १६०५)

तथा

राधिका-रवन बन भवन सुख देखि कै अधर धरि बेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप कन्यान के सवन कैं स्रवण वह धुनि सुनाई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६०६)

मुरली की ध्वनि कानों में पड़ते ही प्रत्येक गोपी ने अनुभव किया जैसे उसी का नाम ले लेकर मुरली उसे ही बुला रही है।[1] सोलह सहस्र गोपिकायें और प्रत्येक का नाम पुकारती हुई वंशी की एक-एक ध्वनि; संदेश भी सबके लिए पृथक्-पृथक्; अद्भुत है यह मुरली! वह जिसको जिस ढँग से चाहती है, वैसा ही संदेश उसके कानों में अपनी ध्वनि से डाल देती है। मुरली क्या है, मानों भगवान की कार्य-साधिका मन्त्र रूप माया है जो विश्व के समग्र भूतों को अपने अपने कार्य में निरत कर रही है। और वह कार्य क्या है? संसार के इस संसरण का, प्रत्येक व्यक्ति के स्व-कर्त्तव्यपालन का क्या भाव है? वह भाव एक ही है, अपना-अपना कार्य करते हुए उधर ही दौड़ लगाना, उसी केन्द्र में समा जाना। गोपिकाओं का कृष्ण के पास जाना अध्यात्म पक्ष में जीवात्माओं का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है। जो धारा संसार की ओर बह रही थी, उसे उलट कर ईश्वर की ओर बहाना है। तभी तो सूर लिखते हैं:—

मुरली स्याम अनूप बजाई। विधि मर्यादा सबनि भुलाई
निसि बनको युवती सब धाई। उलटे अंग अभूषण ठाई॥
कोऊ चलि चरण हार लपटाई। काहू चौकी भुजनि बनाई॥
अँगिया कटि लहँगा उर लाई। यह सोभा बरनी नहिं जाई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६०७)

गोपियों की जो वृत्ति गृहस्थी में, संसार में, रमण कर रही थी, वह मुरलीनाद सुनते ही इधर से हट परमार्थ की ओर लग गई। साधक साधना करता हुआ कभी-कभी अनुभव करता है, जैसे कोई उसे बुला रहा है। गोपिकाओं को भी ऐसा ही अनुभव हुआ और वे चल पड़ीं। नशे में चूर, मतवाले मनुष्य को अपने तन-वसन का स्मरण नहीं रहता, गोपियों की भी

१—गई सोलह सहस हरि पै, छाँड़ि सुत पति नेह ॥६३॥ पृष्ठ ३४०

सूरसागर (ना०प्र०स० १६२५)

ऐसी ही दशा है। वे भी कृष्ण दर्शन के नशे में मतवाली बनी हुई हैं। तभी तो हार चरणों में लिपटाया जा रहा है और चोली भुजाओं में पहनाई जा रही है। सब अंगों में उलटे आभूषण धारण किये जा रहे हैं, पर यह सब हो रहा है, घर की निशा से निकल कर कृष्ण की चाँदनी के दर्शन करने की धुन में। अँधेरे में भला कौन रहना चाहेगा ?

जाकौ मन हरि लियौ स्याम घन, ताहि सँभारै कौन ?

जिसकी वृत्ति उधर फिर गई है, वह इधर की सँभाल क्यों करने लगा ? गोपिकायें चल पड़ीं, पद-रिपु कंसकादि रूपी विघ्नों को जैसे-तैसे पार करती हुई, कृष्ण के पास पहुँचीं। परन्तु यह क्या ? कृष्ण तो उन्हें डाट रहे हैं, कहते हैं : निशीथकाल में अपने पतियों को छोड़ कर तुम यहाँ कैसे आ गईं ? आर्य-मर्यादा की यह अवहेलना ! जाओ, जाओ, लौट जाओ, जाकर घर में पति की सेवा करो। यही नहीं, कृष्ण गोपियों को मर्यादा-पालन का उपदेश भी देते हुए कहते हैं—

यह विधि वेद मारग सुनो।
कपट तजि पति करौ पूजा, कह्यो तुम जिय गुनो।
कन्त मानहु भव तरौगी, और नहिंन उपाय।
ताहि तजि क्यों विपिन आईं कहा पायो आय॥
विरध अरु विन भागहू कौ, पति भजौ पति होय।
जऊ मूरख होई रोगी, तजै नाहीं जोय॥
इहै मैं पुनि कहत तुमसों, जगत में यह सार।
सूर पतिसेवा विना क्यों तरौगी संसार ॥७०२॥पृष्ठ ३४१
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६३४)

एक आर्य सद्गृहस्थ की मर्यादा यही है, जो सूर के इस पद में प्रकट हुई है। सूरसागर के रासलीला अध्याय में यहाँ तक गोपियों का परकीया भाव ही प्रकट हुआ है। पर कृष्ण द्वारा की हुई परकीया भावरूपी भर्त्सना को क्यों गोपियों ने आँख मीच कर स्वीकार कर लिया ? नहीं, गोपियों को इन पदों में व्यावहारिक रूप से परकीया कहा गया है, जो प्रातिभासिक सत्ता के अन्दर स्थान पाता है। वास्तव में उनका प्रेम पारमार्थिक दृष्टि से स्वकीया का ही प्रेम है। तभी तो गोपियाँ कहती हैं:—

तुम पावत हम घोस न जाहिं।
कहा जाइ लैहैं ब्रज में हम यह दरसन त्रिभुवन में नाहिं।

चारि चकोर परे मनों फंदा चलत हैं चंचलताई ॥
उडुपति गति तजि रह्यो निरखि लजि सूरदास बलिजाई ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १०५६)

रास में राधा और कृष्ण दो नहीं मालूम पड़ते। दोनों मिलकर एक हो गये हैं। कृष्ण के कुण्डल और राधा के ताटंक अब पृथक्-पृथक् दिखलाई नहीं देते। दोनों कपोलों पर उनकी झलक भर पड़ रही है, वह झलक सर्प के समान लहरें ले रही है। राधा के स्तन रूपी पर्वत के ऊपर राधा और कृष्ण दोनों के दो मुख दो चन्द्रमाओं के समान उदय हो रहे हैं। दोनों की दो-दो मिलकर-चार आँखें चञ्चल हो रही हैं। एक दूसरे के जाल में फँसी हुई हैं। और वह वास्तविक चन्द्रमा ? वह देखता है। मेरे जैसे दो-दो चन्द्र आज पृथ्वी मण्डल पर अपूर्व लीला कर रहे हैं, अतः वह देखते ही लज्जित हो जाता है और अपना चलना छोड़कर चुपचाप खड़ा हो जाता है। हाँ, वह रासलीला ऐसी ही है। वह देखो, विमानों में बैठ कर देवता भी इस रास दृश्य को देखने के लिये आ गये और व्रजबालाओं को धन्य-धन्य कहते हुए उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा करने लगे। धन्य है वह वृन्दावनधाम, जहाँ उन लीलापुरुषोत्तम ने ऐसा अद्भुत रास किया !

शिव, शारदा और नारद, किन्नर, गन्धर्व और मुनि सभी तो इस रास-दृश्य के दृष्टा बने हुए हैं। देवांगनायें तो तरस रही हैं, चाहती हैं, वे भी व्रजबालायें होतीं, तो इस रसिक-शिरोमणि के साथ कुछ तो रस का आस्वादन कर सकतीं। अरे यह नहीं, तो वृन्दावन की लतायें और वृक्ष ही वे बन जातीं। किसी प्रकार उस नटनागर का सामीप्य तो प्राप्त हो ?

हमको विधि व्रज वधू न कीन्ही कहा अमरपुर वास भये।
बार बार पछितातिं यहै कहि सुख होतौ हरि संग रये॥
कहा जन्म जो नहीं हमारौ फिरि फिरि व्रज अवतार भलो ?
वृन्दावन द्रुमलता हूजिये करतासों माँगिये चलो ॥३२॥ पृष्ठ ३४
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६४

रास अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है। सोलह सहस्र गोपियाँ, नृत्य की द्रुत गति द्वारा सबको कृष्ण अपने ही साथ क्रीड़ा करते दिखाई देते हैं। एक गोपी में समाया हुआ एक कृष्ण और एक कृष्ण में समाई हुई गोपी। उस अन्तर्यामी, घट-घट-व्यापक छबीले की सर्वत्र फैली हुई छवि कुछ ठिकाना है ? सूर जैसा क्रांतदर्शी कवि ही उसे कुछ-कुछ समझ

समझा सकता है। नीचे के पद में उन अलौकिक पारखी द्वारा अनुभूत रास-लीला का दृश्य देखिए:—

मानो माई घन घन अन्तरदामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर, सोभित हरि ब्रजभामिनि॥
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई यामिनि।
सुन्दर ससि गुण रूप राग निधि, अंग अंग अभिरामिनि॥
रच्यो रास मिलि रसिकराइसों, मुदित भई ब्रजभामिनि।
रूप निधान स्याम सुन्दर घन-आनन्द मनविस्रामिनि॥
खन्जन मीन मराल हरन छवि भरी भेद गज गामिनि।
को गति गुनही सूर स्याम संग काम विमोह्यो कामिनि॥३४॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६६)

एक बादल अपनी उमड़-घुमड़ के साथ श्याम-कांति लिए हुए प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है, जिसमें क्षण-क्षण क्षणदा का प्रकाश हो जाता है। यह विद्युत-प्रभा अपनी चमक-दमक को लिए हुए राधा और गोपियों का ही तो रूप है; घनश्याम तो घन रूप है ही। इस दृश्य से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे एक ही समय कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य में निमग्न हो रहे हों, रसिक-राज श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप बनी हुई ब्रजबालायें हर्ष-पुलक से ओतप्रोत हो रही हैं। खञ्जन, मीन तथा मराल की शोभा को अपनी अमन्द छवि से पराजित करने वाली इन अनिन्द्य रास-विह्वला गोपियों की गति का कोई क्या वर्णन करेगा!

रासलीला की कला-ताल का तारतम्य भी देखिये:—

विराजत मोहन मण्डलरास।
स्यामासुधा सरोवर मानो क्रीडत विविध विलास॥
ब्रजजुवती सत यूथ मण्डली मिलि कर परस करे।
भुजमृनाल भूपन तोरन युत कञ्चन खम्भ खरे॥
मृदु पदन्यास मन्द मलयानिल, विगलित सीस निचोल।
नील पीत सित अरुन ध्वजाचल सीर समीर झकोल॥
विपुल पुलक कञ्चुकि बंद छूटे हृदय अनन्द भये।
कुच युग चक्रवाक अवनी तजि अन्तर रैनि गये॥
दसन कुन्द दाडिम द्युतिदामिनि प्रगटत ज्यों दुरिजात।
अधर बिम्ब मधु अमी जलदकन प्रीतम वदन समात॥

चारि चकोर परे मनों फंदा चलत हैं चंचलताई ॥
उडुपति गति तजि रह्यौ निरखि लजि सूरदास बलिजाई ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १७४६)

रास में राधा और कृष्ण दो नहीं मालूम पड़ते। दोनों मिलकर एक हो गये हैं। कृष्ण के कुण्डल और राधा के ताटंक अब पृथक्-पृथक् दिखलाई नहीं देते। दोनों कपोलों पर उनकी झलक भर पड़ रही है, वह झलक सर्प के समान लहरें ले रही है। राधा के स्तन रूपी पर्वत के ऊपर राधा और कृष्ण दोनों के दो मुख दो चन्द्रमाओं के समान उदय हो रहे हैं। दोनों की दो-दो मिलकर-चार आँखें चञ्चल हो रही हैं। एक दूसरे के जाल में फँसी हुई हैं। और वह वास्तविक चन्द्रमा? वह देखता है। मेरे जैसे दो-दो चन्द्र आज पृथ्वी मण्डल पर अपूर्व लीला कर रहे हैं, अतः वह देखते ही लज्जित हो जाता है और अपना चलना छोड़कर चुपचाप खड़ा हो जाता है। हाँ, वह रासलीला ऐसी ही है। वह देखो, विमानों में बैठ कर देवता भी इस रास दृश्य को देखने के लिये आ गये और व्रजबालाओं को धन्य-धन्य कहते हुए उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा करने लगे। धन्य है वह वृन्दावनधाम, जहाँ उन लीलापुरुषोत्तम ने ऐसा अद्भुत रास किया!

शिव, शारदा और नारद, किन्नर, गन्धर्व और मुनि सभी तो इस रास-दृश्य के द्रष्टा बने हुए हैं। देवांगनायें तो तरस रही हैं, चाहती हैं, वे भी व्रजबालायें होतीं, तो इस रसिक-शिरोमणि के साथ कुछ तो रस का आस्वादन कर सकतीं। अरे यह नहीं, तो वृन्दावन की लतायें और वृक्ष ही वे बन जातीं। किसी प्रकार उस नटनागर का सामीप्य तो प्राप्त हो?

हमको विधि व्रज वधू न कीन्ही कहा अमरपुर वास भये।
बार बार पछिताति यहै कहि सुख होतौ हरि संग रये ॥
कहा जन्म जो नहीं हमारौ फिरि फिरि व्रज अवतार भलो?
वृन्दावन द्रुमलता हूजिये करतासों माँगिये चलो ॥३२॥ पृष्ठ ३४४
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६४)

रास अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है। सोलह सहस्र गोपियाँ, प नृत्य की द्रुत गति द्वारा सबको कृष्ण अपने ही साथ क्रीड़ा करते दिखाई पड़ हैं। एक गोपी में समाया हुआ एक कृष्ण और एक कृष्ण में समाई हुई ए गोपी। उस अन्तर्यामी, घट-घट-व्यापक छबीले की सर्वत्र फैली हुई छवि कुछ ठिकाना है? सूर जैसा क्रांतदर्शी कवि ही उसे कुछ-कुछ समझ

[illegible], साधारण सुर-गुरु ही क्यों, शिव सरीखे त्रिपुरारि रमा से कहने लगे, "प्यारी, चलो, सुनो, श्याम [illegible] बन में विहार कर रहे हैं। जिस सुख के [illegible] में [illegible] मग्न हैं, वह सुख हमारे भाग्य में कहाँ? धन्य हैं वे व्रजवासी!!

रास रस मुरली ही तैं जान्यौ।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियौ मारग चन्द्र हिरान्यौ॥
धरनि जीव जल थल के मोहे, नभ मंडल सुर थाके।
तृन, द्रुम, सलिल, पवन गति भूले, स्रवन सब्द पर्‌यौ जाके॥
बच्यौ नहीं पाताल रसातल, कितिक उदै लौं भान?
नारद सारद सिव यह भाषत, कछु तन रह्यौ न स्यान॥
यह अपार रस-रास उपायौ, सुन्यौ न देख्यौ नैन।
नारायन धुनि सुनि ललचाने, स्याम अधर सुनि बैन॥
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी, बिहरत हैं बन स्याम।
सूर कहा हमकौं वैसो सुख, जो बिलसति ब्रज बाम॥ ५५॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६८७)

और सबसे बढ़कर तो रास-रस का स्वाद मुरली को मिला। वही तो श्याम-अधरों पर बैठी हुई शब्द कर रही है। चन्द्रमा का मार्ग विस्मृत हो जाना तो साधारण बात है। देवताओं के मुग्ध होने में भी कोई विशेषता नहीं। पर तिनकों और वृक्षावलियों से तो पूछो, इन्हें काठ क्यों मार गया? अरे, ये बिचारे क्या करें, जल और पवन तक अपना बहना भूल इस नाद-निनादिनी में बहने लगे हैं। पाताल, रसातल और तलातल भी तो न बच सके, इस रस-प्रवाह में सभी बरबस बहे जा रहे हैं।

इसी रास के बीच में सूर ने राधा-कृष्ण का विवाह कराया है। इस विवाह का सूर ने बड़ा ही सांगोपांग वर्णन किया है। कृष्ण की प्राप्ति के लिए राधा व्रत रखती हैं। यमुना के पावन पुलिन पर वेदी बनती है। कुञ्ज मण्डप का कार्य करते हैं। मुरली निमन्त्रण देकर गोपिकाओं को बुला लाती है। गोपियाँ वर-वधू का ग्रन्थि-बन्धन करती हैं। भाँवरें पड़ती हैं और बड़ी धूम-धाम के साथ विवाह की विधि समाप्त होती है। सूर ने यहाँ गालियाँ भी दिलवाई हैं, जिन्हें पढ़कर केशवकृत रामचन्द्रिका की गालियाँ याद आजाती हैं। कंकन खोलने के समय का दृश्य भी चमत्कारयुक्त है। विवाह के इस प्रसंग का समावेश करके सूर ने राधा के परकीया भाव का स्पष्ट

गिरत कुसुम कवरी केसन ते टूटत है उर हार ।
सरद जलद मनु मन्द किरनकन कहूँ कहूँ जलधार ॥
प्रफुलित वदन सरोज सुन्दर अति रस रंग रँगे।
पुहुकर पुण्डरीक पूरन मनु खञ्जन केलि खगे ॥
पृथु नितम्ब कर भार, कमल पद, नखमनि चन्द्र अनूप ।
मानहुँ लुब्ध भयो वारिजदल इन्दु किये दसरूप ॥
स्रुति कुण्डल धर गिरत न जानति अति आनन्द भरी ।
चरन परस ते चलत चहूँ दिसि मानहुँ मीन करी ॥
चरन रनित नूपुर कटि किंकिनि, करतल ताल रसाल ।
तरुनी तनय समेत सहज सुख मुखरति मधुर मराल ॥
वाजत ताल मृदंग बाँसुरी, उपजति तान तरंग।
निकट विटप मनु द्विजकुल कूजत, वयवल वढ़े अनंग ॥
सकल विनोद सहित सुर ललना मोहे सुर नर नाग ।
विथकित उडुपति बिम्ब विराजत श्रीगोपाल अनुराग ॥
याचक दास आस चरनन की अपनी सरन बसाव ।
मन अभिलाष स्रवन जस पूरित सूरहि सुधा पिआव ॥६४॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७५४)

ऊपर के पद में ब्रज की इन युवतियों का हाथ पर हाथ रक्खे हुए मृदुल पद-विन्यास पढ़ते ही बनता है, जिसमें रास करते हुए कभी उनके शिर से वस्त्र नीचे खिसक जाता है, केशपाशों में गुथी हुई कुसुमों की माला नीचे गिर पड़ती है, हार में पिरोये हुए मोती इधर-उधर बिखर जाते हैं और कानों के कुण्डल पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, चरणों की गति से नूपुरों की शिंजन जब रुनझुन करने लगती है, तो कटि में पड़ी हुई किंकिणी उसके साथ ताल मिलाने लगती है, और करताल से उत्पन्न सुन्दर तालिका की ध्वनि उसके साथ समवेत स्वर हो स्वर्गीय समाँ बाँध देती है। साथ ही मृदंग, मुरज, मुरली आदि अनेक वाद्य बज रहे हैं। रासलीला के इस रसीले राग से व्योम में विमानस्थित देववृन्द आश्चर्य-चकित हो रहा है और तारकावलि टकटकी लगाये इस नृत्य के निरखने में निमग्न है। और अन्धा सूरदास? वह भी चाहता है, इस अमृत का अनवरत आस्वादन करता रहे।

कितना अद्भुत इस रास का प्रभाव है। सन्त सूर की तो सम्पत्ति ही कितनी? इस रासलीला ने तो नारद जैसे मुनीश्वर, शारदा जैसी विद्या की अधिष्टातृ देवी और शिव जैसे योगीश्वर तक को आत्मविस्मृत कर दिया, शिवजी

हो गये, नारायण तक मुग्ध हो गये, और अपनी प्रियतमा रमा से कहने लगे, "प्यारी, सुनो, सुनो, आज श्याम वन में विहार कर रहे हैं। जिस सुख विलास में आज ब्रजांगनायें मग्न हैं, वह सुख हमारे भाग्य में कहाँ ? धन्य हैं ये ब्रजवामायें !!

रास रस मुरली ही तैं, जान्यौ।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियौ मारग चन्द्र हिरान्यौ॥
धरनि जीव जल थल के मोहे, नभ मण्डल सुर थाके।
तृण, द्रुम, सलिल, पवन गति भूले, स्रवण सब्द पर्‌यो जाके॥
बच्यौ नहीं पाताल रसातल, कितिक उदै लौं भान ?
नारद सारद सिव यह भाषत, कछु तन रह्यो न सयान॥
यह अपार रस-रास उपायौ, सुन्यो न देख्यौ नैन।
नारायण धुनि सुन ललचाने, स्याम अधर सुनि बैन॥
कहत रमा सौं सुनि सुनि प्यारी, विहरत हैं बन स्याम।
सूर कहा हमकौं वैसो सुख, जो विलसति ब्रज बाम॥ ५५॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६८७)

और सबसे बढ़कर तो रास-रस का स्वाद मुरली को मिला। वही तो श्याम-अधरों पर बैठी हुई शब्द कर रही है। चन्द्रमा का मार्ग विस्मृत हो जाना तो साधारण बात है। देवताओं के मुग्ध होने में भी कोई विशेषता नहीं। पर तिनकों और वृक्षावलियों से तो पूछो, इन्हें काठ क्यों मार गया ? अरे, ये बिचारे क्या करें, जल और पवन तक अपना बहना भूल इस नाद-निनादिनी में बहने लगे हैं। पाताल, रसातल और तलातल भी तो न बच सके, इस रस-प्रवाह में सभी बरबस बहे जा रहे हैं।

इसी रास के बीच में सूर ने राधा-कृष्ण का विवाह कराया है। इस विवाह का सूर ने बड़ा ही सांगोपांग वर्णन किया है। कृष्ण की प्राप्ति के लिए राधा व्रत रखती हैं। यमुना के पावन पुलिन पर वेदी बनती है। कुञ्ज मण्डप का कार्य करते हैं। मुरली निमन्त्रण देकर गोपिकाओं को बुला लाती है। गोपियाँ वर-वधू का ग्रन्थि-बन्धन करती हैं। भाँवरे पड़ती हैं और बड़ी धूम-धाम के साथ विवाह की विधि समाप्त होती है। सूर ने यहाँ गालियाँ भी दिलवाई हैं, जिन्हें पढ़कर केशवकृत रामचन्द्रिका की गालियाँ याद आजाती हैं। कंकन खोलने के समय का दृश्य भी चमत्कारयुक्त है। विवाह के इस प्रसंग का समावेश करके सूर ने राधा के परकीया भाव का स्पष्ट

रूप से निराकरण कर दिया है। विवाह के पश्चात् फिर रासलीला प्रारम्भ होती है।

विवाह होने के पश्चात् राधा को गर्व हुआ। उसने समझा, यह रास-लीला उसी के लिए हुई है, यह सारा समाँ उसी के लिए जोड़ा गया है। वह है समस्त गोपियों में पटरानी, फिर गर्व का क्यों न अनुभव करे? सूर लिखते हैं:—

तब नागरि जिय गर्व बढ़ायौ।
मो समान तिय और नाहिं कोउ, गिरिधर मैं ही बस करि पायौ॥
जोइ जोइ कहत, करत सोइ सोइ पिय, मेरे हित यह रास उपायौ।
सुन्दर चतुर और नहिं मो सी देह धरे कौ भाव जनायौ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७१८)

और इस गर्व में भूली हुई राधा कुछ धृष्ठ भी हो गई। भक्तिपक्ष में साधक अभिमानी बन बैठा, उद्दण्डता करने लगा। सूर के शब्दों में ही सुनिये:—

कहै भामिनी कन्त सों मोहि कन्ध चढ़ावहु।
निरत करत अति भ्रम भयौ ता भ्रमहि मिटावहु॥
धरनी धरत बनै नहीं पग अतिहि पिराने।
तिया वचन सुनि गर्व के पिय मन मुसकाने॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७१६)

राधा कहती हैं:—"नृत्य करते हुये मैं थक गई हूँ। पैरों में पीड़ा होने लगी है। पृथ्वी पर चलते नहीं बनता। ज़रा अपने कन्धों पर बिठालो, थोड़ी देर विश्राम कर लूँ, जिससे थकावट दूर हो जाय।" राधा के इन गर्वीले धृष्ठ वचनों को सुनकर कृष्ण मन ही मन मुस्काने लगे।

कृष्ण की यह मुसकान राधा के लिये अमृत के स्थान पर विष बन गई। थोड़ी-ही देर में कृष्ण अन्तर्धान हो गये।

कृष्ण को न पाकर राधा विलखती हुई एक वृक्ष के नीचे मूर्छित होकर गिर पड़ी। गोपियाँ रुदन करने लगीं[1] :—

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ४-२-११ के अणुभाष्य, पृष्ठ १३१६ पर इस विरह ताप को भी रसात्मक कहते हैं:—आनन्दात्मक रसात्मकस्य अस्यैव, भगवतः एव धर्मऊष्मा विरहतापः इत्यर्थः।......भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेऽपि स्थायिभावात्मक रस रूप भगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तत्प्राप्तिजः तापः, तदनन्तरम् नियमतः तत्प्राप्तिश्च भवति।...
...स तापोऽपि रसात्मक एव।

व्याकुल भईं घोष कुमारि।
स्याम तजि सब ते कहाँ गये यह कहति ब्रजनारि ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७१५)

व्याकुल बनी हुई गोपिकाओं ने कुछ साहस एकत्र किया और लताओं, कुञ्जों एवं वृक्षों के झुरमुट में कृष्ण को ढूँढने लगीं। पर "एक वन ढूँढ़ि, सकल वन ढूँढ़ौ, कतहुँ न स्याम लह्यौ।" स्याम न मिले। विरह की आँच से पिघलते हुए हृदय वाली गोपिकाओं ने वन की लताओं से पूछा, वृक्षों और पक्षियों से पूछा, कदम्ब और कुञ्जों से पूछा, पर किसी ने भी कृष्ण का वृत्तान्त न बताया। गोपियाँ बिलख उठीं, बिसूर-बिसूर कर रोने लगीं। राधा और गोपियों की इस व्यथित दशा में क्या कृष्ण चुपचाप बैठे रहेंगे? भक्त आँसू बहावे और भगवान आँखों-कानों पर पट्टी बाँध कर देखा अनदेखा और सुना-अनसुना करता रहे। भारतीय साधना का पथ भगवान के इस कूटस्थ रूप तक नहीं पहुँचता। यहाँ तो भक्त के एक आँसू पर भगवान हजार आँसू गिराने वाले हैं। यह है वैष्णव धर्म का पुष्टिमार्ग, भगवान के अपार अनुग्रह का अनुभव। माँ जैसे अपने रोते हुए बच्चे को दौड़ कर उठा लेती है, उसके अपराधों पर विचार नहीं करती, वैसे ही कृष्ण भगवान राधा के गर्व आदि को भूल कर दौड़े चले आये। हमारी साधना का कितना आश्वासनप्रद स्थल है यह!

हमारे भगवान के बीच में कौन परदा खड़ा करता है? यही गर्व, दर्प और अहंकार। जहाँ एक बार हमने पश्चात्ताप की अग्नि में इस आवरण को दग्ध किया, रोकर आँसुओं की धारा में इसे बहा दिया, वहाँ भगवान के प्रकट होने में देर नहीं लगती। कृष्ण आगये, रासलीला फिर चलने लगी।

बहुरि स्याम सुख रास कियो।
भुज भुज जोरि जुरी ब्रजबाला वैसे ही रस उमगि हियो ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७५०)

रास करने से फिर वैसी ही पूर्व की-सी अवस्था उत्पन्न हो गई[1]। सुर, नर, मुनि वैसे ही वशीभूत, नक्षत्र और चन्द्रमा उसी प्रकार मार्ग भूले हुए, यमुना और पवन वैसे ही गति-विहीन, जैसे प्रथम रास के अवसर पर थे।

१—३-३-२६ के अणुभाष्य, पृष्ठ १०५३ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—
ब्रह्मणः सकाशात् विभागो जीवस्य हानि शब्देन उच्यते। तथा च तस्यां

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

रासलीला समाप्त हुई। गोपियाँ, राधा, कृष्ण सबके सब थके-माँदे यमुना के जल में थकावट दूर करने के लिये स्नान करने लगे। रात्रि व्यतीत होने आई। पर यह अकेली रात्रि भागवत के अनुसार छः महीने के बराबर थी। और सूर के शब्दों में तो वह एक[1] कल्प के काल से कम नहीं थी। सूर कहते हैं : इस रासलीला का वर्णन करना मेरी सामर्थ्य के तो बाहर है। जो इसका वर्णन कर सके, वह वन्दनीय है:—

> रास रसलीला गाइ सुनाऊँ।
> यह जस कहै सुनै मुख स्रवननि तिन चरननि सिरनाऊँ ॥५९
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० १७९६)

तथा

> रास-रस रीति नहिं बरनि आवै।
> कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ इह चित्त जिय भ्रमभुलावै॥
> जो कहौं कौन माने निगम अगम जो, कृपा बिनु नहीं यह रसहि पावै।
> भाव सों भजै, बिनु भाव में यह नहीं, भाव ही माँहि भाव यह बसावै॥
>
> × × × ×
>
> यहै निज मन्त्र, यह ध्यान यह ज्ञान है, दरस दम्पति भजन सार गाऊँ।
> इहै माँगों बार बार प्रभु सूर के नयन दोऊ रहैं नर देह पाऊँ॥
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० १६२४)

यह रासलीला, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, विश्व की विराट कार्य-प्रणाली का मधुर आभास है। इसका रूप क्षणिक नहीं, शाश्वत है। सूरसागर के एक पद में इस बात की ओर सूर ने संकेत भी किया है:—

शेष पिछले पृष्ठ का

([illegible]) [illegible] ये धर्माः जीवनिष्ठा आनन्दांश ऐश्वर्यादयः भगवदिच्छया [illegible] ब्रह्म सम्बन्धे सति पुनः आविर्भूता इति। ब्रह्म के सामीप्य से [illegible] का विभाग (पृथक्त्व) है, वह सति शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। इस प्रसंग में [illegible] जो आनन्दांश, ऐश्वर्य आदि धर्म भगवदिच्छा [illegible] ब्रह्म-सम्बन्ध होने पर पुनः आविर्भूत [illegible]।

[1] [illegible] ।५२।पृ०३४७

वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिका संग।
भोर निसा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत इक रंग ॥१०६६॥

वह रास जिसमें हरि एवं राधा दोनों में से किसी भी खेलने वाले को न रात्रि का पता चलता है, न प्रभात का, जिसमें सर्वदा एक रस क्रीड़ा बनी रहती है, वह भगवान का नित्य रास है, शाश्वत लीला है[१]। सूरसागर के दशम स्कन्ध में इसी भाव का एक पद और आता है:—

१—वृहद ब्रह्म संहिता में नित्य लीला का इस प्रकार वर्णन है :—

ब्रह्मा ने पूछा—भगवान ! वृन्दावन किस प्रकार आपकी नित्य लीला भूमि है ? वृन्दा क्या है ? परमानन्द नाम की विमुक्ति क्या है ? लीला क्या है ? (२,४,६८) श्री नारायण ने उत्तर दिया : निर्गुणायास्तुलीलाया यद्यप्यन्तोन विद्यते : आविर्भावस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना ॥२,४,६६

गोलोक गोकुलोद्भूत श्वेतद्वीपादि केलिवत्।
नित्या सूक्ष्म स्वरूपेण कल्पान्ते चातिवर्तते ॥१००॥
ये जीवाः कृपया विष्णोर्वीक्षिताः सुरसत्तम।
वसन्ति रसमार्गीया नित्यलीला भिकाङ्क्षिणः ॥१०१
सदा रास रसाविष्टो वेणुवाद्यधरो हरिः।
मयूर पिच्छाभरणः कोटिकन्दर्प सुन्दरः ॥१०६
रमते रमया साकं नित्यं मुक्तै रुपाश्रितः।
नात्र कालगतिः साक्षादिच्छैका परमात्मनः ॥११७

निर्गुणलीला का अन्त नहीं है, फिर भी उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। गोलोक में यह लीला नित्य, और सूक्ष्मरूप से कल्प के अन्त में भी होती रहती है। जो जीव रसमार्गीय और नित्य लीला के आकांक्षी हैं, वे विष्णु की कृपा से इसमें निवास करते हैं। रास-रसाविष्ट मुरलीधर मुक्त जीवों से सेवित हुआ रमा के साथ नित्य रमण करता रहता है। काल की भी यहाँ गति नहीं होती। प्रभु की साक्षात् एक इच्छा ही वहाँ कार्य करती है। श्लोक १४८ में लीला रूपिणी राधा का भी उल्लेख है, वृन्दा को कमल-सम्भवा लक्ष्मी और सुषुम्ना में प्रविष्ट भक्तों की वैष्णवी गति को ही विमुक्ति कहा गया है। फिर लिखा है:—योऽहं सा मम लीला, या तु लीला सोऽस्म्यहं पुनः। अन्तरं नैव पश्यामि यथा वै शेष शेषिणोः ॥१५३

हरि में और लीला में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक हैं।

नित्य धाम वृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजबाम।
नित्य रास जल नित्य विहार। नित्य मान खंडिताभिसार॥
ब्रह्म रूप ऐई करतार। करनहार त्रिभुवन संसार॥
नित्य कुन्ज सुख, नित्य हिंडोर। नित्यहि त्रिविध समीर झकोर॥७२

सूरसागर (ना०प्र०स० ३४६१)

वृन्दावन भी शाश्वत धाम है और उसमें होने वाला राधा और कृष्ण का रास भी नित्य है। रास की इस नित्यता को सूर ने भगवान की शाश्वत लीला कहा है। आचार्य वल्लभ ने इसी शाश्वत लीला के सूर को दर्शन कराये थे।

मुरली

रासलीला वाले परिच्छेद में मुरली के सम्बन्ध में थोड़ा-सा उल्लेख हो चुका है। सूर ने कई रूपों में मुरली का वर्णन किया है और प्रत्येक रूप में उनकी रागमयी मनोवृत्ति वंशी-ध्वनि के साथ तदाकार हो गई है। अद्भुत है यह मुरली, जिसकी ध्वनि सुनते ही सिद्धों की समाधि भंग हो जाती है। नीचे लिखे पद में सूर ने मुरली का कैसा व्यापक प्रभाव अंकित किया है:—

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी।
सुनि मुनि सिद्ध समाधि टरी ॥
सुनि थके देव विमान। सुर वधू चित्र समान ॥
ग्रह नखत तजत न रास। याही बँधे धुनि पास ॥
सुनि आनन्द उमँग भरे। जल थल अचल टरे ॥
चर अचर गति विपरीत। सुनि बेनु कल्पित गीत ॥
झरना झरत पाखान। गन्धर्व मोहे गान ॥
सुनि खगमृग मौन धरे। फल दल तृन सुधि बिसरे।
सुनि धेनु थकित रहे। तृन दन्त नाहिं गहे ॥
बछवा न पीवें छीर। पंछी न मन में धीर ॥
द्रुम बेलि चपल भये। सुनि पल्लव प्रकट नये ॥
जे बिटप चञ्चल पात। ते निकट को अकुलात ॥
अकुलित जे पुलकित गात। अनुराग नैन चुआत ॥
सुनि चञ्चल पवन थके। सरिता जल चलि न सके ॥
सुनि धुनि चली ब्रजनारि। सुत देह गेह बिसारि ॥
सुनि थकित भयो समीर। बहै उलटि यमुना नीर ॥६। १८६

सूरसागर (ना०प्र०स० १२४१)

यह है मुरली का व्यापक प्रभाव! क्या जड़, क्या अर्धचेतन और क्या पूर्ण चेतन, सब उसके हृदयाह्लादक, प्राणपोषक, मनोहारी नाद से आनन्दित हो रहे हैं। कई स्थानों पर सूर ने मुरली के प्रभाव का ऐसा ही हृदयहारी

वर्णन किया है। इस वर्णन में सूर कहीं-कहीं इतने निमग्न हो गये हैं कि उन्हें अपना भान तक नहीं रहा, जैसे मुरली में सूर और सूर में मुरली समाई हुई हो।

मुरली की यह ध्वनि अध्यात्मक्षेत्र में क्या है? कतिपय विद्वानों ने इसे शब्द ब्रह्म[1] का नाम दिया है। जैसे ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसी प्रकार उनकी वाणी भी सर्वव्यापक है। अतः वंशी-ध्वनि परमब्रह्म का शब्द रूप है। अन्य विद्वानों ने इसे नामलीला का रूप दिया है। भक्त नाम का जाप करते हुए जिस ध्वनि का अपने अन्तस्तल में श्रवण करता है, वही तो वंशी की ध्वनि है। हठयोग में कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर जो स्फोट और नाद होता है और जो नाद ब्रह्माण्ड भर में गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है, उसे भी वंशी-ध्वनि के साथ उपमित किया गया है। वंशी कहीं-कहीं योगमाया का रूप भी मानी गई है, जो प्रभु की अपरा शक्ति की वाचक है। श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग यहीं से प्रारम्भ होते हैं। इन सब के ऊपर वैष्णव आचार्यों द्वारा की हुई वंशी की वह व्याख्या है, जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्रकार का सुख वंशी-निनाद से उत्पन्न सुख के सामने फीका पड़ जाता है। वेणु में तीन अक्षर हैं: व + इ + णु। 'व' ब्रह्मसुख का द्योतक है, 'इ' सांसारिक सुख को प्रकट करती है। इन दोनों प्रकार के सुखों को जो 'णु' अर्थात् मात करने वाली है, वह है वेणु। आचार्य वल्लभ ने इस वेणुनाद का कई प्रकार से निरूपण किया है। वे कहते हैं: जब किसी मनुष्य को प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, तब उसके सामने वंशी बजने लगती है।[2] एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है: "ब्रह्मा-

---

१—नन्ददास रास पञ्चाध्यायी के प्रथम अध्याय में लिखते हैं:—

तब लीनी कर कमल जोग माया सी मुरली।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली॥
जाकी धुनि ते निगम अगम प्रगटित बड़ नागर।
नाद ब्रह्म की जानि मोहनी सब सुख सागर।

इसी प्रकार दण्डी अपने काव्यादर्श में लिखते हैं:—

इदमन्धः तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योति रासंसारान्न दीप्यते॥ १—४

२—"यदा खलु पुरुषः श्रिय मश्नुते वीणा अस्मै वाद्यते।" श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १० पूर्वार्द्ध, अ० २१ वेणुगीत-श्लोक ६ का सुबोधिनी भाष्य।

नन्दादपि अधिक आनन्द सार भूता"[१] अर्थात् मुरली ध्वनि ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द-प्रदायिनी है। वह आनन्द का सार है। सूर ने भी वल्लभ शिक्षा में दीक्षित होकर मुरली का ऐसा ही लोकोत्तर वर्णन किया है:—

छबीले मुरली नेकु बजाउ।
बलि बलि जात सखा यह कहि कहि अधर सुधा रस प्याउ॥
दुर्लभ जन्म दुर्लभ वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम तरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है, स्याम तुम्हारो संग॥
विनती करहि सुबल श्रीदामा, सुनहु स्याम दै कान।
जा रस को सनकादि सुकादिक करत अमर मुनि ध्यान॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १८३४)

सूर ने मुरली पर बहुत लिखा है, एक स्थान पर उन्होंने मुरली को गोपिकाओं से स्पर्धा करने वाली राधा की सपत्नी के रूप में उपस्थित किया है:—

अधर रस मुरली सौतिन लागी।
जा रस को षट् ऋतु तप कीनों सो रस पिवत सभागी॥
कहाँ रही, कहँ ते यह आई कौने याहि बुलाई।
सूरदास प्रभु हम पर ताकों कीनी सौति बजाई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १८३६)

एक पद और देखिये:—

स्याम तुम्हारी मदन मुरलिका नैकसी ने जग मोह्यौ।
जे सब जीव जन्तु जल थल के नाद स्वाद सब पोह्यौ॥
जे तीरथ तप करे अरनसुत पन गहि पीठि न दीन्ही।
ता तीरथ तप के फल लैके स्याम सुहागिनि कीन्ही॥
धरणी धरि गोवर्धन राख्यौ कोमल प्राण अधार।
अब हरि लटकि रहत ह्वै टेढ़े तनिक मुरलि के भार॥
निदरि हमहि अधरन रस पीवे पठै दूतिका माई।
सूर स्याम निकुञ्ज ते प्रकटी बँसुरी सौति भई आई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १२७४)

१—आचार्य वल्लभ, भागवत १०–२१–५ के सुबोधिनी भाष्य में लिखते हैं:—
"नामलीला रूपं वेणुनादं निरूपयति।"

गोपियाँ कहती हैं: श्याम, यह तुम्हें क्या हो गया ? इस तनिक-सी मुरली ने तुम्हें कैसा वशीभूत किया है ! गोवर्धन जैसे पर्वत को अँगुली पर उठाने वाले गिरिधर, आज तुम मुरली के बोझ से ही तिरछे हुए जाते हो। मुरली का इतना भय तुम्हारे अन्दर क्यों प्रविष्ट हो गया है ? कहाँ तुम वह थे कि हमें क्षण भर के लिए भी विस्मृत नहीं करते थे, और आज यह हाल है कि हमारी अवहेलना ही नहीं, निरादर भी हो रहा है। यह सब इसी सौति मुरली के कारण है।

मुरली सौति ही नहीं, बड़ी धृष्ट मानवती पत्नी भी है। इसने कृष्ण को मोहित ही नहीं किया, उनका सर्वस्व तक हरण कर लिया है। कुल की हेटी है न ? अरे, जिसने अपने ही शरीर से अग्नि निकाल कर अपने ही कुल का विध्वंश किया हो, वह पराये—गोपियों के—कुल को क्या छोड़ेगी ? गोपियाँ तो अलग रहीं, यह तो कृष्ण तक को नाकों चने चबवा रही है। देखिये न:—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नन्दनन्दन नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पाँइ ठाड़ौ करि अति अधिकार जनावति ॥
कोमल अंग आपु आज्ञागुरु कटि टेढ़ी ह्वै आवति ॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति ॥
आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति ॥
भृकुटी कुटिल कोपि नासा पट हम पर कोपि कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सुसीस डुलावति ॥३९॥ पृष्ठ १९०
सूरसागर (ना०प्र०स० १२७३)

मुरली कृष्ण को अपने आधीन करके कैसा नाच नचा रही है। जैसा कहती है, वैसा ही कृष्ण को करना पड़ता है। मजाल क्या, मुरली की आज्ञा के बिना वे तनिक भी इधर से उधर हो जायें। कितना अधिकार है इस मुरली का ! कभी कृष्ण को, एक पैर से खड़ा कर देती है, कभी उनकी गर्दन पकड़ कर झुका देती है। बेचारे कमर टेढ़ी किये जैसे-तैसे खड़े खड़े हुक्म बजा रहे हैं। इस पर भी खैर नहीं। यह देखो, कृष्ण के अधरों को शैया बनाकर मुरली लेट गई। कृष्ण को आज्ञा मिली: पैर दाबो। मानिनी को मनाने के लिए, गर्वीली के गर्व को रखने के लिए कृष्ण चुपचाप दोनों हाथों से उसके पैर दाबने लगे।

गोपिकायें अब अधिक सहन न कर सकीं। सौति क्या आई, आफत आ गई। यह स्वयं क्रोध करती है और इसके साथ गोपिकाओं की ओर भौंहें

तिरछी किये नाक सिकोड़े कृष्ण भी क्रोध प्रकट कर रहे हैं। अच्छा, यह भी सही, पर यह क्या? यह तो गोपियों के आराध्य देव कृष्ण तक को उनसे पृथक् किये देती है; पृथक् ही नहीं। उन्हें तंग भी करती है। गोपियों ने निश्चय किया, यह राग अब समाप्त होना चाहिये। गोपियाँ कहती हैं:—

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिन गोपाल कीन्हे अपने वस प्रीति सबनु की तोरि॥
छिन एक घोर, फेरि वसु ता सुर, धरत न कबहूँ छोरि।
कबहूँ कर कबहूँ अधरन पर कबहूँ कटि में खोंसत जोरि॥
ना जानों कछू मेलि मोहिनी राखी अंग अम्भोर।
सूरदास प्रभु को मन सजनी बँध्यौ राग की डोर ॥४१॥ पृष्ठ १६०

सूरसागर (ना०प्र०स० १२७५

मुरली ने कुछ ऐसा जादू डाला है, ऐसी मोहिनी फेरी है कि कृष्ण को जब देखो उसी के पीछे लगे दिखाई देते हैं। मुरली से एक बोल निकलता है, वह भी क्षणिक, पर कृष्ण सदा के लिए उसके हाथ बिक जाते हैं। कभी उसे हाथ में लेते हैं, कभी अधरों पर रखते हैं और कभी उसे कमर में खोंस लेते हैं। वंशी के प्रेम-पाश में ऐसे बँधे हैं कि उसे कभी छोड़ते ही नहीं। अच्छा, इस मुरली ही को चुरा लेना चाहिये। इस राग की जड़ ही काट देनी चाहिये। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

पर गोपियों को क्या मालूम था, वंशी की मोहिनी के पीछे कितनी तपस्या छिपी पड़ी है। मुरली श्याम की सुहागिनी सेंत-मेंत में नहीं बन गई। इसने बड़े-बड़े तप किये हैं। अनेक तीर्थों के दर्शन किए है। न जाने, कितनी वर्षा, कितना शीत, कितना आतप इसके सिर से उतर गया; पर जिस व्रत में यह व्रती बनी, जिसकी प्राप्ति के लिए प्रण करके तप करने बैठी, उस असिधारा-व्रत से तनिक भी हिली-डुली नहीं। इसने अविचलित भाव से उसका अन्त तक निर्वाह किया। सूर के शब्दों में ही इसके संताप-सहन का समाचार सुनियेः—

मुरली तपु कियौ तनु गारि।
नेंक हू नहिं अंग मुरकी जब सुलाखी जारि॥
सरद ग्रीषम प्रबल पावस खरी इक पग भारि।
कटतहू नहिं अंग मोर्‌यो साहसिनि अति नारि॥
रिझै लीन्हे स्यामसुन्दर देति हौ कत गारि।
सूर प्रभु तब ढरे हैं री गुननि कीन्हो प्यारि॥

सूरसागर (ना० प्र० स० १६५८)

मुरली ने कितना तप किया है ! इसने अपना सारा शरीर ग्रीष्म की पञ्चाग्नि में तपकर जला डाला। शरद के घोर शीतकाल में ठिठुर-ठिठुर कर यह काँटा हो गई। पावस की प्रबल धुआँ-धार झड़ी में एक पैर से खड़े रह कर इसने अपने आप को गला दिया। कितनी सन्ताप-सहिष्णुता है इसमें ! कितना साहस है इस मृदुल मुरली में ! घोर तपश्चर्या के पश्चात् यह वन से काटी भी गई, पर मजाल क्या कि कटने में मुख से उफ तक भी करे ! कट जाने के पश्चात् गर्म तकुए से इसमें छेद किए गये। फिर भी अविचल खड़ी रही, शरीर को जरा-सा भी इधर से उधर न होने दिया। इतनी तपश्चर्या पर भी कृष्ण न रीझेंगे ? अरी गोपियो, तुम वंशी को व्यर्थ बुरा भला कहती हो। ये इसके गुण ही हैं, जिन्हों ने सबको आकर्षित करने वाले कृष्ण को भी इसके प्रति आकर्षित करा दिया। धन्य है मुरली ! धन्य है तेरा तप !!

मुरली स्वयं कहती है:—

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु।
पूछहु जाइ स्यामसुन्दर को जेहि विधि जुर्यौ सनेहु ॥
वारे ही ते भई विरत चित तज्यो गाँउ गुण नेह।
एकहि चरण रही हौं ठाढ़ी हिम ग्रीषम ऋतु मेह ॥
तज्यो मूल साखा स्यों पत्रनि सोच सुखानी देह।
अगिनि सुलाकत मुर्यौ न मन, अंग विकट बनावत वेह ॥
बकती कहा बाँसुरी कहि कहि करि करि तामस तेहु।
सूर स्याम इहि भाँति रिझै कै तुमहु अधर-रस लेहु ॥४३॥४२४॥

सूरसागर (ना० प्र० स० १९४८)

ऐसा तप जिसने किया हो, ऐसे सन्ताप जिसने सहन किये हों, इतने कठोर व्रत का जिसने पालन किया हो, वह विजय क्यों न प्राप्त करे ? जिसने स्वयम् दारुण नियम-बन्धन स्वीकार किये हैं, अपने ऊपर शासन किया है, वह क्यों न नियामक और शासक वन कर आज्ञाओं का प्रचार करे ? मुरली ने संकट-सहिष्णुता में, संयम-साधन में, पञ्चाग्नि तपने में विजय प्राप्त की है। यशोभिमण्डित होकर, विजय वैजयन्ती से विभूषित होकर आज वंशी ने कृष्ण-कर में स्थान पाया है। सूर गाते हैं:—

वंसी वन राज आज आई रण जीति।
मेंटति है अपने वल सवहिन की रीति ॥
विडरे गज-यूथ-सील, सैन-लाज भाजी।
घूँघट-पट-कवच कहाँ, छूटे मान-ताजी ॥

कोऊ पद परसि गये अपने अपने देस।
कोऊ मारि रंक भये हुते जे नरेस॥
देत मदन मारुत मिलि दसौं दिसि दुहाई।
सूर स्याम श्री गोपाल बंशी वस माई॥३५॥ पृष्ठ १८६

सूरसागर (ना० प्र० न० १२६८)

यह वंशी आज सब पर अपना अबाध अधिकार स्थापित कर रही है। गोपाल को तो इसने वश में कर ही लिया है, अतः उनके वशीभूत होने पर उनके अनुचर अपने आप वंशी के वश में हो गये। लज्जा, शील, मान आदि सब वंशी के सामने पराजित हो अपना-अपना प्रभुत्व छोड़ कर भाग गये। जो अपने देश में रहना चाहते थे, उन्हें वंशी के आगे मत्था टेकने पर रहना नसीब हो सका। वंशी के आगे अकड़ कर चलने वाले राजा धूलि-धूसरित हो कर, दीन-हीन दशा में काल-यापन करने लगे। मदन-मारुत दसों दिशाओं में आज वंशी की दुहाई फेर रहा है। यह है वंशी रूपी अनहद नाद की शून्य गगन में दुहाई! शब्द-ब्रह्म के प्रकट होने पर आन्तरिक शक्ति का जागरण! जिसके उदय होने पर बाह्य सांस्कारिकता प्रसुप्त हो जाती है। भगवद् भक्ति प्राप्त हो जाने पर शील, संकोच आदि नियमों के पालन की आवश्यकता नष्ट हो जाती है।

जिस मुरली ने इतना विशाल संसार-समरांगण विजय किया है, उसका राज्याभिषेक होना ही चाहिए। सूर लिखते हैं :—

माई री मुरली अति गर्व काहू वदति नाहिं आज।
हरि को मुख कमल देख पायो सुख राज॥
बैठति कर पीठ ढीठ अधर छत्र छाँहीं।
चमर चिकुर राजत तहँ सुन्दर सभा माँहीं॥
यमुना के जलहि नहि जलधि जान देति।
सुर पुर ते सुर विमान भुवि बुलाई लेति॥
स्थावर चर जंगम जड़ करति जीति अजीति।
वेद की विधि मेंटि चलति आपने ही रीति॥
वंसी वस सकल 'सूर, सुर नर मुनि नाग॥
श्रीपति हू श्री बिसारी एही अनुराग॥३७॥ पृष्ठ १८६।

सूरसागर (ना०प्र०स० १२७१)

मुरली गर्व में भरी हुई आज अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझती। आज उसका राज्याभिषेक जो होना है। वह देखो, भगवान के कर

कमल ही चौकी (पीठ = सिंहासन) का काम कर रहे हैं। इस चौकी पर मुरली विराजमान हो गई। श्याम के अधरों का छत्र उसके ऊपर तन गया। काले-काले घुँघराले बाल चमर का काम कर रहे हैं। सुन्दर दरबार लगा हुआ है। अभिषेक में जल की भी आवश्यकता है। अतः जमुना रोक ली गई है। स्वर्ग से देवताओं के विमान भी नीचे उतर आये हैं। जड़-जंगम समस्त जगत पर इस वंशी का साम्राज्य फैला हुआ है। तो क्या आज भी वेद के विधि-निषेध वाले उपदेश अपना काम करेंगे ? नहीं, यहां पराविद्या का क्षेत्र है। विधि-निषेध तो अपरा-विद्या के अंग हैं। परा-विद्या में प्रवेश कर आत्मा सुर-नर-मुनि-नाग सब का उर्ध्वस्थानी, सब का शिरं मणि बन जाता है। और वे श्री के स्वामी, प्रकृति के अधिष्ठाता, माया-पति अपनी श्री और लक्ष्मी, शक्ति और प्रकृति का परित्याग करके इसके अनुराग में स्वयम् अनुरक्त हो जाते हैं।

वंशी ने विजय प्राप्त की। उसका राज्याभिषेक भी हो गया। कवि कविताओं द्वारा उसका यशोगान गाने लगे। सूत, मागध और वन्दीजन, शिव, सनक और सनन्दन उसका जयजयकार करने लगे:—

जीती जीती है रन वंसी।
मधुकर सूत वदत वन्दी पिक मागध मदन प्रसंसी॥
मथ्यौ मान बल दर्प महीपति युवति यूथ गहि आने।
ध्वनि कोदण्ड ब्रह्माण्ड भेद करि सुर सन्मुख सर ताने॥
ब्रह्मादिक सिव सनक सनन्दन बोलत जै जै बाने।
राधापति सर्वस अपुनो दै पुनि ता हाथ बिकाने॥५६॥पृ०३४७
सूरसागर (ना०प्र०स० १६८८)

वंशी पर सूर ने कितनी उदात्त कल्पनायें की हैं। वंशी के बहाने उन्होंने आन्तरिक शक्ति के जागरण का, अपनी प्रतिभा के बल से, चारु चित्र चित्रित कर दिया है। वंशी पर सूर की वह कल्पना भी उत्तम है, जिसमें उन्होंने वंशी को ब्रह्मा से भी बढ़कर सिद्ध किया है। "बाँसुरी विधिहू ते परबीन" सूरसागर(ना०प्र०स० १८६५) टेकवाले पद में सूर लिखतेहैं कि ब्रह्मा चार मुख से उपदेश देता है, पर वंशी अपने आठमुखों (रन्ध्रों) से उपदेश दे रही है। कहिए ब्रह्मा का बनाया नियम चलेगा, या वंशी का ? और देखिये, ब्रह्मा का स्थान एक कमल के ऊपर, वंशी का दो कर-कमलों के ऊपर ! ब्रह्मा केवल एक बार ही पढ़कर ज्ञाता बने, वंशी के साथ कृष्ण निरन्तर लगे रहते हैं। ब्रह्मा एक हंस

की सवारी करते हैं, वंशी अनेक गोपी-मानस-हंसों पर सवार रहती है। सबसे बढ़ कर बात तो यह है कि लक्ष्मी जिन भगवान की पद-रेणु की का करती हैं, वंशी उन्हीं भगवान के अधरामृत का पान करती है। कहिये, वंशी के आगे शिला-सूत्र रक्षित रह सकते हैं? कुल-मर्यादा बच सकती इन पदों को पढ़ कर आप मुरली को योगमाया कहिये या नाम लीला का शब्दब्रह्म कहिये या आन्तरिक ज्योति का जागरण। है यह अतीव आ रूपिणी[१]।

एक पद और देखिये। मुरली-ध्वनि से प्राप्त आनन्द कहने-सुनने तो वस्तु नहीं है, पर अनुभव करने की वस्तु अवश्य है। जो इसे अनुभव लेता है, वह आचार्य वल्लभ के शब्दों में ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर आ उपलब्ध करता है:—

वंसी बन कान्ह बजावत।
आइ सुनो श्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत
सुर श्रुति तान बँधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत
जनु युग जुरि बर बेप सजल मथि बदन-पयोधि अमृत उपजावत
मनो मोहिनी भेष धरे, धरि मुरली, मोहन मुख मधु प्यावत
सुर-नर-मुनि बस किये राग-रस अधर-सुधा-रस मदन जगावत
महा मनोहर नाद 'सूर' थर-चर मोहे मिलि मरम न पावत
मानहुँ मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख, सीस डुलावत
सूरसागर (ना०प्र०स० १२

मोहन की मुरली बज रही है। उसमें से अनेक राग-रागिनियाँ नि रही हैं। बिजली का बटन दबा दिया गया। जहाँ-जहाँ उसका सम्बन्ध है बल्ब लगे हुए हैं, सब विद्युतप्रकाश से प्रकाशित हो गये। मुरली

१—निवाज मुरली के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

सुनती हो कहा घर जाहु चली बिधि जाउगी नैन के बानन में।
यह वंशी 'निवाज' है विष की भरी बगरावती है बिस प्रानन में।
अब ही सुधि भूलोगी सारी जबै भमरौगी जु मीठी सी तानन में॥
कुल-कानि जो आपनी राखी चहो दोउ आँगुरी दै रहो कानन में॥

रवीन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है:—मेरे प्रभु, मैंने तेरे संगीत-को सुना, वह स्वर मेरे प्राणों में समा गया है, और मैं विवश हो उसे सबको सुनाता फिरता हूँ।

बजना बटन का दबना है। तभी तो समस्त संगीत का संसार झनझना उठा, सुप्त से जाग्रत हो गया। समस्त स्वरावली, श्रुतियां, तानें, मींडें, मूर्छनायें, अतीत के और भविष्य के नष्ट स्वरों के विगत और आगामी रूप—सब के सब प्रकाशित हो उठे। कैसा मीठा वंशी का स्वर है, मानों कृष्ण अपने दोनों हाथों से मुरलिका-वादन रूपी मंथन के द्वारा मुख रूपी समुद्र में से ध्वनि रूपी अमृत निकाल-निकाल कर सबको पिला रहे हों। इस अमृत को पीकर चर-अचर सकल विश्व तृप्त हो गया, पर इसके रहस्य को न समझ सका। जो समझे, वे भी कह न सके। गूँगा आदमी मिठाई खाकर उसके स्वाद को कैसे बतावे? मूक प्राणी मुख द्वारा कैसे वर्णन करे? हाँ, शिर हिला देगा। यह विश्व हिलती हुई वृक्ष-शाखाओं के रूप में केवल शिर हिला कर रह गया:—

समाधि निर्धूत मलस्य चेतसः निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते॥

गोपियाँ

सूरसागर प्रधान रूप से हरिलीला का काव्य है। हरिलीला गोप-गोपियों की लीला है। राधा और कृष्ण भी गोपी-गोप हैं। राधा वृषभानु गोप की पुत्री थी, और कृष्ण को यशोदा तथा नन्द अपना औरस पुत्र ही समझते थे। कृष्ण ने स्वयम् अपने मुख से कहा है:—

मथुरा मण्डल भरत खण्ड निज धाम हमारौ।
धरों तहां मैं गोप भेष सो पन्थ निहारौ ॥पृ० ३६४, छ० ६१
सूरसागर (ना०प्र०स० १७६३)

श्रीकृष्ण का अवतार गोप रूप में ही हुआ था। 'हरिलीला और पुराण' शीर्षक अध्याय में हम दिखला चुके हैं कि भगवान का गोप रूप में अवतार कवि-कल्पना-प्रसूत है। आर्य-जाति में यह अवतारी रूप वेदवेत्ता वासुदेव कृष्ण के साथ सम्बद्ध होकर समय की आवश्यकता के अनुसार स्वीकृत हुआ। सूरसागर में प्रभु के इसी अवतारी रूप की लीलायें वर्णन की गई हैं:—

यदि कृष्ण ईश्वर है, तो गोपियाँ क्या हैं? गोपियाँ उन्हीं की शक्ति हैं।[1] शक्ति अपने आश्रय से कभी पृथक् नहीं होती, अतः कृष्ण और गोपियों में कोई अन्तर नहीं है। एक गुणी है, दूसरा गुण। एक अंग है, दूसरा उसका अवयव। सूर ने लिखा है:—

१—बृहद् ब्रह्म संहिता २, ४, १७३ में गोपी शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है:—

गोपायति जनान् यस्मात् प्रपन्नानेव दोषतः
अतो गोपीति विख्याता लीलाख्या पर देवता।

गोपी लीला नाम की पर देवता है, जो प्रपन्न शरणागत भक्तों की दोषों से रक्षा करती है। इसी स्थान पर श्लोक १६५ में नन्द गोप को नराकृति परमानन्द और यशोदा को मुक्ति रूप कहा गया है।

गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाहीं ये कहुँ नेकु न न्यारे।

तथा

एकै देह विहार करि राखे गोपी ग्वाल मुरारि। पृ० २५०. पद ८४
सूरसागर (ना०प्र०स० २२२३)

अर्थात् गोपी, गोप और कृष्ण दो-दो नहीं हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं, इनमें तनिक भी अन्तर नहीं है, एक ही हैं, एक ही शरीर के पृथक-पृथक अंग हैं।

अध्यात्म पक्ष में कृष्ण आत्मा हैं, तो गोपियाँ इस आत्मा की वृत्तियाँ है। तभी तो सूर इन व्रजललना गोपियों को अपनी स्वामिनी कहते हैं:—

सूर की स्वामिनी नारि व्रजभामिनी। पृष्ठ ३४४ पद २८ (ना०प्र०स० १६६०)

परन्तु आत्मतत्व के एक होते हुए भी वृत्तियाँ अनेक और भिन्नरूपा हैं, इसीलिए भागवत और सूरसागर दोनों में उनके कई स्पष्ट रूप लक्षित होते हैं। भागवत दशम स्कन्ध, अध्याय १८ श्लोक ११ में लिखा है: 'गोपजाति प्रतिच्छन्ना देवा गोपाल रूपिणः'—अर्थात् गोपी और गोपों के रूप में देव ही प्रकट हुए हैं। सूरसागर के नीचे लिखे पद से भी इस बात का समर्थन होता है—

यह वानी कहि सूर सुरन को अब कृष्णावतार।
कह्यौ सवनि व्रज जन्म लेहु सँग हमरे करहु विहार॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २२२२)

अर्थात् जब पृथ्वी पर पाप का भारी बोझ लद गया, तो देवताओं ने भगवान से प्रार्थना की। भगवान ने कहा, 'मैं गोकुल में गोप रूप में प्रकट होता हूँ। राक्षसों को मारकर पृथ्वी का भार दूर करूँगा। तुम भी व्रज में चलकर जन्म ग्रहण करो।' फिर इसी के आगे वाले पद में लिखा है कि भगवान ने जिन देवों को आज्ञा दी थी, वे गोपी-गोप रूप में व्रज में उत्पन्न हुए।

भगवान की प्रकृति स्वरूपा तथा देव-विग्रही गोपियों के अतिरिक्त कुछ गोपियाँ ऐसी भी थीं जो पूर्व जन्म में देव-कन्याओं, श्रुतियों, तपस्वी ऋषियों या भक्तजनों के रूप में रह चुकी थीं और भगवान की सेवा करने के लिए उनके साथ अवतीर्ण होना चाहती थीं। पुराणों में इनकी कथायें बिखरी पड़ी हैं। पद्म पुराण के पाताल खण्ड अध्याय ७२ में लिखा है कि पञ्चदशाक्षर मन्त्र का जाप करने वाले तपस्वी उग्रतपा नाम के ऋषि, सुनन्द नाम के गोप की कन्या सुनन्दा के रूप में उत्पन्न हुए। दशाक्षर मन्त्र का जाप करने वाले सत्यतपा नाम के

मुनि सुभद्रा गोपी के रूप में प्रकट हुए। निगहारी हरिधामा सारंग गोप के घर रंगवेणी नाम से अवतीर्ण हुए। इसी प्रकार जाबालि तथा कुशध्वज चित्रगन्धा और सुधीरा के रूप में उत्पन्न हुए। पद्मपुराण पाताल खण्ड अ० ७४ श्लोक ११५ में 'अतः परं मुनिगणाः तासां कतिपया इह' कहकर पुनः यही नाम संक्षेप में लिख दिये गये हैं।

सूरसागर के दशम स्कन्ध, पृष्ठ ३६३, पद ६१ में सूर ने गोपियों को वामन पुराण के ब्रह्मा-भृगु-सम्वाद[1] के आधार पर वैदिक ऋचाओं का अवतार कहा है:—

ब्रजसुन्दरि नहिं नारि, ऋचा श्रुति की सब आहिं ॥
मैं 'ब्रह्मा' अरु शिव पुनि लछमी तिन सम कोऊ नाहिं ॥[2]

कहते हैं, जब ऋचायें नेति-नेति के द्वारा परमात्मा का वर्णन करते रहने पर भी उसके रहस्य को न समझ सकीं, तो प्रभु से प्रार्थना करने लगीं:—

श्रुति विनती करि कह्यौ सर्व तुम ही हौ देवा।
दूरि निकट हौ तुमहिं, तुम्हीं निज जानत भेवा ॥

इस प्रकार स्तुति करने पर आकाशवाणी हुई कि अपनी इच्छा के अनुरूप वर माँग लो। ऋचाओं ने कहा:—

श्रुतिन कह्यौ कर जोरि सने आनन्द देह तुम।
जो नारायण आदिरूप तुम्हरो सो लखौ हम ॥
निर्गुण जो तुव रूप है लख्यौ न ताकौ भेद।
मन वाणी ते अगम अगोचर दिखरावहु सो देव ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७६३)

प्रभो, आपके नारायण रूप को तो हमने देख लिया है, परन्तु अभी तक आपके उस निर्गुण रूप के दर्शन नहीं हुए, जो मन-वाणी आदि किसी भी

१—यह सम्वाद वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित वामन पुराण में नहीं मिलता।

२—पद्म पुराण पातालखण्ड अध्याय ७४ में लिखा है:—

अतः परं श्रुतिगणाः तासां काश्चिद् इमाः श्रृणु।
उद्गीतैषा सुगीतेयं कलगीतात्वियं प्रिया ॥११२॥
एषा कलसुरा ख्याता बालेयं कलकण्ठिका ।११३

इसके पश्चात् विपञ्ची, क्रमपदा, बहु श्रुता, बहु प्रयोगा, बहु कला, कलावती और क्रियावती, इन श्रुतिरूपा गोपियों के नाम दिये है।

इन्द्रिय का विषय नहीं है। अपने उसी रूप के दर्शन कराओ। भगवान ने वरदान दिया, 'एवमस्तु' और 'वेद ऋचा होई गोपिका हरि मों कियो विहार' अर्थात् वैदिक ऋचायें गोपियों के रूप में प्रकट हुईं। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म कृष्ण के दर्शन ही नहीं किये, उनके साथ विहार का आनन्द भी लूटा। इन ऋचाओं के नाम उद्‌गीता, सुगीता, कलगीता। कलकण्ठिता और विपञ्ची आदि थे। आचार्य वल्लभ ने भी श्रीमद्भागवत पर लिखी हुई अपनी सुबोधिनी नाम की टीका में 'श्रुत्यन्तर रुपाणां गोपिकानाम्' लिखकर गोपियों को ऋचारूप ही कहा है।[1]

वल्लभ ने एक स्थान पर गोपियों को लक्ष्मी का अंश और उसके साथ विचरण करने वाली कहा है। सूरसागर के रासलीला प्रसंग में भी लगभग ऐसी ही बात लिखी हुई है; राधा का गर्व दूर करने के लिए जब कृष्ण अंतर्धान हो गए, तो राधा वियोग से व्यथित एवं मूर्छित होकर गिर पड़ी और गोपियाँ भी विलख-विलख कर रोने लगीं। सूर ने गोपियों की इस पीड़ा का वर्णन करते हुए लिखा है:—

"सोरह सहस पीर तन एकै राधा जिव सब देह।"

अर्थात् सोलह सहस्र गोपियों और राधा की पीड़ा पृथक-पृथक नहीं है। राधा प्राण है, तो गोपिकायें शरीर। दोनों का दर्द एक है।[2] यहाँ भी गोपिकायें राधा का ही रूप हैं। राधा और लक्ष्मी में नाम के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है, यह हम पीछे दिखा आये हैं।

वैष्णव आचार्यों ने कृष्ण की अन्तरंग और बहिरंग दो शक्तियाँ मानी हैं। बहिरंग शक्ति का नाम माया है और अन्तरंग शक्ति तीन प्रकार की है: सन्धिनी, संवित और ह्लादिनी। राधा ह्लादिनी शक्ति है और गोपियाँ उसी का प्रतिरूप हैं। आचार्य वल्लभ ने 'असौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहितः'—कहकर इसी बात को सिद्ध किया है। अतः राधा के अंग रूप में ही गोपियों को समझना चाहिये।[3]

१— पद्म पुराण पाताल खण्ड अ० ७० में श्रुति कन्याओं की संख्या सहस्रायुत लिखी है:—

श्रुति कन्या स्ततो दद्दे सहस्रायुत संयुताः॥१४
तत्र गूढ़ रहस्यानि गायंत्यः प्रेम विह्वलाः ॥१५

२ और ३— पद्म पुराण, पाताल खण्ड, अध्याय ७० में लिखा है:—

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

गोपियों के साथ एक कथा का समावेश और किया जाता है। कहते हैं, जब दण्डकारण्य में ऋषिगण भगवान के रामावतार वाले रूप को देख कर मुग्ध हो गए और उन्होंने उनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना की, तो भगवान ने उन्हें गोपी होकर प्राप्त करने का वर दिया। यही ऋषि ब्रज में गोपी रूप से अवतीर्ण हुये।

इस प्रकार गोपियां भिन्न-भिन्न रूपा थीं।[1] उनमें कुछ देव कन्यायें थीं,[2] कुछ ऋषि थे, कुछ श्रुतियें थीं और कुछ स्वयं प्रभु की अन्तरंग शक्तियां थीं। इन सब की मण्डली गोपियों के रूप में ब्रज में एकत्रत हुई। इसी हेतु इन गोपियों के पृथक्-पृथक् समूह[3] हैं। विशाखा, ललिता, श्यामा, आदि एक-एक समूह की स्वामिनी हैं। सूर ने निम्नांकित पद में गोपियों के नाम लिखे हैं:—

शेष पिछले पृष्ट से आगे

प्रत्यंग रभसा वेशाः प्रधानाः कृष्ण वल्लभाः,
ललिताद्याः प्रकृत्यंशाः मूल प्रकृतिः राधिका ॥४॥

जो प्रकृति के अंश हैं, वे प्रकृति के समान ही हैं। अतः पद्मपुराणकार इसी स्थान पर ललिता, धन्या, विशाखा, शैव्या, पद्मा, हरिप्रिया, श्यामला, चन्द्रावती, चन्द्रावली, चित्ररेखा, चन्द्रा, मदन मञ्जरी, प्रिया, मधुमती और चन्द्ररेखा, इन १६ गोपियों को आद्या प्रकृति और प्रधान कृष्ण वल्लभा कहता है।

१—पद्म पुराण, पाताल खण्ड, अ० ७३, श्लोक ३२ में लिखा है:—
गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋच्चो वै गोपकन्यकाः।
देव कन्याश्च राजेन्द्र तपोयुक्ताः मुमुक्षवः॥

२—पद्म पुराण पाताल खण्ट के अध्याय ७०, श्लोक १६ में लिखा है:—
देवकन्यास्ततः सर्व्वे दिव्य वेषा रसोज्वला।

३—वृहद् ब्रह्म संहिता, तृतीय पाद, द्वितीय अध्याय में श्लोक ३३ से ४५ तक गोपियों के कई गण दिये हुये हैं, यथा मुक्तगण, श्रुति, देवकन्यागण, मुनिकन्यायें आदि। इनसे ललिता, श्रीमती, हरिप्रिया, विशाखा, शैव्या, पद्मा, भद्रा और राधा के साथ आठ शक्तियां तथा चन्द्रावली, चन्द्ररेखा वृन्दा आदि १६ प्रकृति श्रेष्ठ प्रधान कृष्ण-वल्लभा पृथक् हैं। राधा के सम्बन्ध में कहा गया है:—यथा मधुरिमा नीरे स्पर्शनं मारुते यथा। गन्धः पृथिव्यामनघो राधिकेयं तथा हरौ॥३१॥

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

श्यामा, कामा, चतुरा, नवला, प्रमुदा, समुदा नारी।
सुखमा, शीला, अवधा, नन्दा, वृन्दा, यमुना, सारी॥
कमला, तारा, विमला, चन्दा, चन्द्रावलि, सुकुमारी।
अमला, अवला, कञ्जा, मुकुता, हीरा, नीला, प्यारी।
सुमना, बहुला, चम्पा, जुहिला, ज्ञाना, भाना, भाऊ॥
प्रेमा, दामा, रूपा, हन्सा, रंगा, हरपा, जाऊ।
दर्वा, रम्भा, कृष्णा, ध्याना, मैना, नैना रूपा॥
रत्ना, कुमुदा, मोहा, करुना, ललना, लोभानूपा। २६७,पद ८०

ये नाम तो थोड़े हैं, सूर ने गोपियों की संख्या निम्नांकित पद में सोलह सहस्र लिखी है :—

मुरली ध्वनि करी बलवीर
गई सोलह सहस हरि पै छाँड़ि सुत पति नेह॥ ३४०, पद ९३
सूरसागर (ना०प्र०स० १६२५)

पिछले पृष्ठ से आगे

राधा का स्थान कृष्ण के वामांग में (२,५,३७)ललिता सम्मुख, उत्तर में श्रीमती, ईशान में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, आग्नेय में शैव्या, दक्षिण में पद्मा और नैऋत्य में भद्रा का स्थान माना गया है। चन्द्रावली आदि क्रमपूर्वक दिशाओं विदिशाओं में स्थित कही गई हैं।

श्रुति आदि के गण भगवान के चरण-कमल-रसपान के पिपासु बनकर सखी रूप को प्राप्त हुए, जो नाना विदग्ध लीलाओं में निपुण,दिव्यवेपाम्बर से सुसज्जित और भगवत्प्रेम से विह्वल होकर रासलीला में गीत गाते और प्रभु की सेवा करते हैं।

२—वायु पुराण उत्तर खण्ड अध्याय ३४, श्लोक २३५ में भी यही संख्या लिखी है :—

एवमादीनि देवानां सहस्राणि च षोडश
चतुर्दश तु ये प्रोक्ता गणाश्चाप्सरसां दिवि॥

माखन-चोरी

व्रज में कृष्ण की दश-बारह वर्ष तक की बाल्यावस्था व्यतीत हुई। इस अल्पायु में ही क्या से क्या हो गया! कृष्ण सुन्दरता के सागर तो थे ही, साथ ही चञ्चल और चतुर भी थे। गोपियाँ उनके सौन्दर्य को देख-देख कर मुग्ध होने लगीं। सौन्दर्य-मण्डित सुकुमार बालक को देख कर सबकी तबियत उसे खिलाने के लिये मचल जाती है, और जो पदार्थ उसे प्रिय प्रतीत होता है, उसी पदार्थ को उसके समक्ष प्रस्तुत करने में प्राणी अपना परम सौभाग्य समझते हैं। कृष्ण की भी कुछ ऐसी ही कहानी बन गई। जिसे देखो, वही कृष्ण को देखने के लिए तरस रहा है। किसी न किसी बहाने श्याम का दर्शन होना ही चाहिये। कृष्ण को मक्खन बहुत अच्छा लगता था, सूरसागर में कृष्ण यशोदा से कहते हैं:—

मैया री मोहि माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहति तू मोहि नाहीं रुचि आवै॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ८८२)

श्याम की इस सलौनी बात को पीछे खड़ी एक गोपी सुन रही थी। वह मन ही मन कामना करने लगी, 'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी?' दूसरे ही दिन "गये श्याम तिहि ग्वालिनि के घर"—कृष्ण पहुँच ही तो गए। अपनी मनोकामना सफल समझ कर गोपी को इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समायी। उसे इतना आनन्दित देख कर सखियों ने पूछा, 'कहीं कुछ पड़ा हुआ मिल गया क्या?' गोपी गद्‌गद हो गई और प्रेम-विह्वल होकर कहने लगी: 'देख्यौ रूप अनूप।' यह था उस कृष्ण का अनुपम लावण्य जो सबको अपनी ओर आकर्षित करता था।

मक्खन-विलासी की चर्चा घर-घर में होने लगी, गोपियाँ उठते-बैठते गोपाल की श्यामल छवि में मग्न रहने लगीं। रात को दही जमातीं, तो श्यामसुन्दर की माधुरी छवि का ध्यान करते हुए सबकी यही अभिलाषा रहती

कि दही अच्छा जमे और उसे विलोकर श्रीकृष्ण के लिए बढ़िया और बहुत-सा माखन निकाला जाय। कृष्ण अपने सखाओं के साथ उसे खावें और आनन्द में मत्त होकर आँगन में नाचें। ऐसे मोहक बालक की बाललीला देखने के लिये कौन लालायित न होगा? ब्रज की माखन-चोरी वाली लीला का महत्व हृदय की इसी मनोरम वृत्ति में छिपा पड़ा है।

रातों-रात जाग कर गोपियाँ प्रातःकाल की प्रतीक्षा करतीं। ब्राह्मयाम में ही दही विलोने की घरर-घर्र ध्वनि ब्रज के वायुमण्डल में फैल जाती। मक्खन निकाल कर छींके पर रख दिया जाता और कृष्ण की बाट जोहने में सब की सब सतर्क। कृष्ण आये। आज पहली बार मक्खन चुराया जा रहा है। सूर लिखते हैं:—

प्रथम करी हरि माखनचोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ८८६)

कृष्ण ने मक्खन चुराया और भाग कर ब्रज की गलियों में छिप गये। धीरे-धीरे वे मक्खन-चोरी में निपुण हो गये, घर-घर में उनकी चोरी की चर्चा होने लगी:—

ब्रज घर-घर प्रकटी यह बात।
दधि-माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा संग खात॥
ब्रजवनिता यह सुनि मन हरषित, सदनु हमारे आवें।
माखन खात अचानक पावें, भुज भरि उरहि छिपावें॥
मन ही मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान।
सूरदास प्रभु कों घर में लै, दैहों माखन खान॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ८६०)

माखनचोरी से गोपियाँ रुष्ट नहीं होती थीं, मन-ही-मन प्रसन्न होती थीं। कृष्ण का घर में आना उनके आह्लाद का कारण था। गोद में लेकर कृष्ण को मक्खन खिलाने के लिये सब गोपियाँ लालायित रहती थीं। नीचे लिखे पद में सूर ने गोपियों की इस मनोवृत्ति का कितना सुन्दर चित्र अंकित किया है:—

चली ब्रज घर घरनि यह बात।
नन्द सुत संग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात॥

कोउ कहति मेरे भवन भीतर, अवहिं पैठे धाइ ।
कोउ कहति मोहिं देखि द्वारे उतहिं गये पराइ ।।
कोउ कहति किहिं भाँति हरि कों देखों अपने धाम ।
हेरि माखन देउ आछौ खाइ जितनों स्याम ।।
कोउ कहति मैं देख पाऊँ, भरि धरों अँकवार ।
कोउ कहति मैं वाँधि राखों को सकै निरुवार ।
सूर प्रभु के मिलन कारण करति विविध विचार ।।
जोरि कर विधि कों मनावति पुरुप नन्दकुमार ।।

सूरसागर (ना०प्र०स० ८६१)

सूर के गीत की इन कड़ियों के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। एक-एक वात शब्दों द्वारा प्रकाश करती हुई सामने आ रही है। कृष्ण-दर्शनोत्सुक गोपियों की भावना का इससे अधिक सुन्दर चित्र कोई बना नहीं सकता।

कृष्ण-दर्शन लालसा से कभी गोपियाँ योशोदा के घर पहुँच जातीं, माखन-चोरी का उलाहना दिया जाता। एक दिन कृष्ण पकड़ गये, कुछ मक्खन खा लिया था, जो मुख से चिपटा था, और हाथ में था दौना। शिकायत हुई, तो चतुर, लीला-विलासी, नटवर कृष्ण यशोदा से कहने लगेः—

मैया मैं नहिं माखन खायो ।
ख्याल परै ये सखा सवै मिलि मेरे मुँह लपटायो ।।
देखि तुही सींके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो ।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो ?
मुख दधि पोंछि कहत नन्द नन्दन दौना पीठ दुरायौ ।।
डारि साँटि मुसुकाइ तवहिं गहि सुतकों कण्ठ लगायौ ।

सूरसागर (ना०प्र०स० ६५२)

माँ, मैंने मक्खन नहीं खाया। मालूम होता है, इन सखाओं ने मेरे मुख से लगा दिया है। अच्छा तू ही सोच, घर में ऊँचे सींके पर रक्खे हुए मक्खन को मैं अपने छोटे हाथों से कैसे पकड़ सकता था ? कैसा अकाट्य तर्क है। ओर चातुर्य भी देखिए, इतना कहते-कहते मुख से लगा हुआ मक्खन पोंछ डाला, अव तो मक्खन खाने की चुगली करने वाला चिन्ह भी नहीं रहा। पर वह मक्खन का दौंना ? वह भी पीठ के पीछे कर लिया। वताओ, क्या प्रमाण कि कृष्ण ने माखन चोरी की ? यशोदा ही नहीं, कोई भी माँ अपने

बच्चे की इस चतुरता पर माँ-सौ बार बलि जायेंगी। कैसा भोलाभोला, निष्पाप रूप है कृष्ण के बालकाल का। उसमें विचित्र बुद्धि का योग देकर सूर ने मानव-मन के आह्लाद के लिए पूर्ण सामग्री उपस्थित कर दी है।

अध्यात्मपक्ष में मक्खन है जीवात्माओं के समस्त सुकृतों का फल। भगवान भक्त के इसी सुफल पर अनुरक्त होते हैं। इधर भक्त अपने समग्र पुण्य-फल को प्रभु की भेंट करते जाते हैं, उधर भगवान उसे 'चुरा-चुरा कर' अपने अन्दर रखते जाते हैं। यदि फल-प्राप्ति भक्त के साथ बनी रहे, तो किसी दिन अहंकार का कारण बनकर उसे नीचे गिरा सकती है। अतः समर्पण होना ही चाहिये। अथवा भगवान स्वयम् अपने अनुग्रह-भाजन भक्त की इस निधि को उससे दूर करते जाते हैं। यह भी भक्त पर उनका अनुग्रह ही है।

चीर हरण और दान लीला

चीर-हरण की लीला अध्यात्म पक्ष में आत्मा का नग्न होकर, माया के आवरणों, सांसारिक संस्कारों से पृथक् होकर प्रभु से मिलना है। इसमें समर्पण की सम्पूर्णता है, जिसमें अपना कुछ नहीं रहता, सब कुछ प्रभु का हो जाता है।

सूरसागर में राधा तथा अन्य गोपियाँ इस उत्सर्ग की आयोजना में जुट जाती हैं। सब की आकांक्षा है—कृष्ण की प्राप्ति हो। राधा शिवाराधन करती हैं। गोपियाँ गौरी से प्रार्थना करती हैं। सूर्य की स्तुति होती है, कात्यायनी देवी की बालुकामयी मूर्ति बना कर पूजा की जाती है, मन्त्रों का जप चलता है, मार्ग शीर्ष के शीतकाल में प्रातःकाल उठ कर यमुना में स्नान किया जाता है। ये समस्त आयोजन किस लिये हैं केवल कृष्ण की प्राप्ति के लिये :—

सिव सों विनय करति कुमारि।
जोरि कर मुख करति अस्तुति बड़े प्रभु त्रिपुरारि॥
सीत-भीति न करति सुन्दरि, कुस भई सुकुमारि।
छहौ ऋतु तप करत नीके, गृह को नेह बिसारि॥
ध्यान धरि, कर जोरि, लोचन मूँदि यक यक याम।
विनय, अंचल छोरि, रवि सों करति है सब बाम॥
हमहिं होहु कृपालु, दिन मणि, तुम विदित संसार।
काम अति तनु दहत, दीजै सूर स्याम मतार ॥६॥ पृष्ठ १९६।
सूरसागर (ना०प्र०स० १३८५)

तपस्या में इतनी दृढ़ता देख कर भी क्या भगवान द्रवित न होंगे? जिन गोपियों ने कृष्ण के लिए माता-पिता तक का संकोच न किया, तपश्चर्या की भट्ठी में अपने शरीर को जला डाला, सूख कर काँटा हो गई, जो शिव और सूर्य के सामने अञ्चल फैला कर कृष्ण रूप में पति-प्राप्ति का

वर माँग रही हैं, उन्हें अभीष्ट-सिद्धि क्यों न प्राप्त हो ? पर अभी, अभी थोड़ी सी कमी है। अभी आत्मा के ऊपर आवरण है। शिव-सूर्य की आराधना रूप साधन भी तो एक परदा है। जब तक यह भी दूर न हो जाय, तब तक समर्पण कैसा ?

कहते हैं, साधक केवल अपने बल पर समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण रूप क्रिया का करने वाला भी तो वह स्वयम् है। जब वही उसके साथ चिपटी है, तो सम्पूर्ण समर्पण कहाँ हुआ। इसीलिये मुण्डक उपनिषद का ऋषि कहता है:—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः," वह पूर्ण काम प्रभु जिसे चुन ले, स्वीकार कर ले, वही उसे प्राप्त करता है। भगवान भक्त का समर्पण-संकल्प स्वीकार करते हैं, तभी पूर्ण समर्पण होता है। आचार्यों ने इसीलिये वैधी, शास्त्र-सम्मत, अनुष्ठानमयी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में किया है। यहीं जाकर समर्पण की क्रिया पूर्णता में परिणत होती है। गोपियों में वैधी भक्ति थी। रागानुगा भक्ति भी उनमें उच्चकोटि की थी। तो फिर विलम्ब कैसा ? विलम्ब था केवल दोनों के बीच में पड़े हुए सूक्ष्म आवरण-तन्तु का। वेद कितने सुन्दर शब्दों में इस आवरण का वर्णन करता है :—

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥यजु०॥१२, १२

[मेरे पाप निवारक स्वामी।
मेरे बन्धन ढीले कर दो, मुक्त हो सकूँ अन्तर्यामी॥
उत्तम बन्धन शिर में सत का, जिससे ज्ञानानन्द रुका है,
उसको वहीं खोलदो ऊपर, खेल अनेकों खेल चुका है॥
मध्यम बन्धन हृदय-बीच में राग-द्वेष फैलाने वाला।
बन्धन अधम नाभि से नीचे तम से पाप बढ़ाने वाला॥
बन्धन-रहित, प्रकाश-पुञ्ज हे देव, तोड़ दो बंधन मेरे
पाप-रहित होकर हम जिससे बन जावें, तेरे, हाँ, तेरे॥][1]

यह है वेदान्त की माया की मोहिनी, कणाद के अणुओं का आवरण, सांख्य की प्रकृति का परदा। यह परदा निकृष्ट, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का है। गोपियाँ निकृष्ट तामसिक आवरण को न जाने कितने जन्म पूर्व दूर कर चुकी हैं। अनेक प्राणियों में वे ऐसी विरल आत्मा थीं, जो पाप से, अशुभ से, मुक्त हो जाती हैं। फिर विरलों में भी वे ऐसी विरल थीं जो रागद्वेष से

१—लेखक की लिखी भक्ति तरंगिणी से उद्धृत।

उसपर पड़ जाती है। यह इसी आवरण का सूक्ष्म तन्तु लिपटा हुआ है। निकृष्ट और मध्यम दोनों ग्रन्थियाँ छूट चुकी हैं। तम और रज का पर्दा नष्ट हो चुका है। यह उत्तम, सत्, का आवरण ही अवशिष्ट है। यही तो है वह प्रथम ग्रन्थि, वह प्रथम मोहिनी माया, जो आत्मा को परमात्मा से पृथक करती है, वह प्रथम पग का प्रमाण जो आत्मा को उसके स्वरूप से दूर ले जाता है।[1] गोपियों के साथ यह उत्तम, यह सत्, यह सूक्ष्म आवरण अभी लिपटा है। बिना इसके दूर हुए परमात्मा का पता कहाँ ! सूर ने कहा है :—

> जमुना जल बिहरत ब्रजनारी।
> तट ठाढ़े देखत नन्दनन्दन, मधुर मुरलि कर धारी॥
> मोर मुकुट, स्रवननि मनि कुण्डल, जलजमाल उर भ्राजत।
> सुन्दर सुभग स्याम तनु नवघन, बिच बगपाँति बिराजत॥
> उर बनमाल सुभग बहु भाँतिन, स्वेत लाल, सित, पीत।
> मनो सुरसरि तट बैठे सुक बरन बरन जु भीत॥
> पीताम्बर, कटि में क्षुद्रावलि बाजत परम रसाल।
> सूरदास प्रभु पतक भूमि दिन बोलत बचन मराल॥
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० २३०२)

गोपियाँ जल में स्नान कर रही हैं। वस्त्र उतार कर उन्होंने किनारे पर रख दिये हैं, और यमुना तट पर खड़ा वह मुरलीवाला उन्हें एक टक देख रहा है। अपार छवि है इस बंशीवाले की ! जिसने देखा नहीं, वह क्या बोलेगा ? सूर ने गुरु की कृपा से इस बाँकेबिहारी की बाँकी छवि देखी थी। इसकी ललित लीला के दर्शन किये थे। न जाने कैसे वे यह दर्शनवाली बात सूरसारावली में कह गये। वैसे सूर ने कहा कम है, किया अधिक है। कबीर की भाँति उन्होंने गर्वोक्तियाँ कहीं भी नहीं लिखीं। जो कुछ लिखा, वह उनके दर्शन की सुदृढ़ भित्ति पर आधारित है। उन्होंने हरिलीला देखी और उसी दिन से उनके गायन में निरत हो गये। सूरसागर अथ से इति तक, इसी लीला-गान से ओत-प्रोत है:—

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र, अध्याय ३ पाद २ सूत्र ५ के अणुभाष्य, पृष्ठ ८८३ में लिखते हैं:—'अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितम्।.........आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीव भावः, अतएव काममयः।' प्रथम ग्रन्थि के साथ ही आत्मा का आनन्दांश तिरोहित हो जाता है और उसकी संज्ञा जीव हो जाती है।

'ता दिन ते हरिलाला गाई एक लक्ष पद बन्द।'

ऐसा सिद्ध, ऐसा द्रष्टा सन्तों में विरला मिलेगा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते,
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः। गीता ७, १९

यह द्रष्टा सन्त जब कृष्ण की माधुरी छवि का चित्रण करने लगता है, तो विश्व-छवि का सीमान्त कर देता है। कृष्ण तट पर खड़े देख रहे हैं। आज, अरे नहीं, वह सर्वदा से तटस्थ है, हाथ में मुरली है, वही योगमाया जो सबके ऊपर अपनी मोहिनी डाले हुए है, मोर के पंखों का मुकुट, कानों में कुण्डल, वक्षस्थल पर श्वेत कमल के फूलों की माला, जैसे श्यामल शरीर रूपी अभिनव जलधर के बीच में बगुलों की पंक्ति विराजमान हो। फिर कमल, कुन्द, मन्दार, चम्पा, और तुलसी की पैरों तक लटकने वाली लम्बी माला, जैसे हरित वर्ण, लाल चञ्चु लिये, काली पीली कण्ठ रेखाओं वाला शुक सभीत होकर गुण-कीर्तन कर रहा हो। और वह पीताम्बर फहरा रहा है, कटि में क्षुद्र घण्टिका परम रसीले स्वर में बज रही है, जैसे स्वर्ण भूमि के पास राजहंस मधुर शब्द कर रहे हों। कैसा भव्य चित्र है! समस्त रंग, निखिल स्वरावली, सम्पूर्ण लावण्य इसी में निहित है। सुन्दरता के उस स्रोत का वर्णन इससे बढ़कर कोई क्या करेगा? सूरसागर में सौन्दर्य-सृष्टि अद्भुत है, अनाघ्रात है, उसके सौंदर्य-चित्र संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं।

ऐसे कृष्ण के सामने गोपियाँ स्नान कर रही हैं, यमुना-स्नान अध्यात्म पक्ष में भक्ति कल्लोलिनी में अवगाहन करना है। वैधी भक्ति के भी अनुष्ठान रूपी वस्त्र पृथक् हो चुके हैं। यह है शुद्ध रागानुगा भक्ति की कलिन्दतनया! गोपियाँ तल्लीन होकर इसमें डुबकी लगा रही हैं। पर वह देख रहा है। भक्ति रागानुगा ही सही, पर है तो भक्ति ही। परदा उत्तम ही सही, पर है तो वह परदा! तन्तु सूक्ष्म है, पर है तो वह तन्तु ही।[1] आह, यह अभी चिपटा है! क्या गोपियाँ इस परदे को नहीं फाड़ सकतीं? कदाचित् नहीं। तभी तो, देखो, वह

१—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया,
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ गीता ७, १४

यह दैवी त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है। जो अनन्य भाव से प्रभु का भजन करते हैं, वे ही इसे पार कर पाते हैं।

'गुणमयी' शब्द भी अपने श्लेष-जन्य अर्थ के कारण यहाँ अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है।

[illegible] सूर कहते हैं:—

> प्रिया मुख देख्यौ स्याम निहारि ।
> कहि न जाइ आनन की सोभा, रही बिचारि बिचारि ॥
> छीरोदक घूँघट हातौ करि, सन्मुख दियौ उघारि ।
> मनौ सुधा कर दुग्ध-सिन्धु तें कढ्यौ कलंक पखारि ॥
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० १०७३६)

यह लो, भगवान ने वह कुच-पटल, जो सतोगुण का सूक्ष्म घूँघट था, भी अपने हाथ से दूर कर दिया। आज आत्मा, राधा गोपी का मुखमण्डल क्षीरोद निष्कलंक चन्द्र के रूप में, दूध के समुद्र को चीरकर बाहर निकला है। माया के तीनों पर्दे दूर हो गये। जीव आवरण-शून्य, कलंकरहित, शुद्ध आत्मा हो गया। कैसा आनन्द, मादक और मधुर है राधा कृष्ण का यह मिलन, आत्मा-परमात्मा का साक्षात्! कितने मर्मस्पर्शी हैं क्षीरोदक, दुग्ध सिन्धु और निष्कलंक चन्द्र के प्रतीक। धन्य हे पारदर्शी सूर! कैसे सूक्ष्म, भावात्मक संकेतों द्वारा तुमने उस परात्पर अवस्था के दर्शन कराये हैं। कबीर, वह इड़ा-पिंगला, का ताना-बाना बुनने वाला, सतोगुण से आविर्भूत हुई एक अलौकिक झलक, एक ज्योति के ही गीत गाता रहा। बिना बत्ती और बिना तेल के जलते हुये दीपक के दर्शन करके उसने अपने आप को धन्य समझा। शून्य गगन के अनहद नाद, खेचरीमुद्रा के सोपान, अमृतस्राव का स्वाद चखकर वह तृप्त हो गया, और अनुभूति के आवेश में कहने लगा:—

"दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनी चुन्दरिया।"

ठीक है, कबीर, तुमने चुन्दरी में दाग न लगने दिया, पर थी तो वह चुन्दरी ही, सतोगुण की ही सही; इसके बाद क्या था? वह आत्म-दर्शन, परात्पर का दर्शन, समस्त आवरणों को चीर-फाड़ कर नग्न होने का दर्शन! और वह दुर्लभ है, वह तो बिरलों को ही सिद्ध होता है:—

१—यह पद दूसरे प्रसंग का है। पर, यहाँ बिल्कुल सम्बद्ध हो जाता है, इसलिये रख दिया गया है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥ गीता ७, ३

और वह तुलसी ? श्रेयपथ का वह मर्यादावादी पथिक ! उसे अपने विधि-विधानों से ही अवकाश नहीं मिला । वैधी भक्ति द्वारा वह लोक को उन्नत करने में लगा रहा । धन्य था उसका भी मार्ग ! पर वहाँ भी ये सूक्ष्म संकेत कहाँ ? काक, निन्दक, अघी, प्रमत्त, नीच आदि के मध्यम पाश भी वहाँ चिपटे हुए हैं । इन पाशों में सामञ्जस्य करता हुआ, वह सत की झलक भर दिखा के रह जाता है । वह भी सांसारिकता से सम्बद्ध ! शुभाशुभ-परित्यागी बनकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परदों से परे, उस ऐकान्तिक अवस्था के दर्शन करना अतीव दुस्तर है । पर सूर, अन्धासूर, उस परात्पर के दर्शन करता है, और सूक्ष्म संकेतों द्वारा दूसरों को कराता भी है ।

दावानल पान

इस निबन्ध के प्रारम्भ में ही हमने लिखा है कि विश्व सत और असत के सम्मिश्रण से बना है। इन्हीं को उपनिषद्कार अमूर्त और मूर्त तथा अमृत और मर्त्य कहते हैं। मानव का लक्ष्य असत से हटकर सत, मूर्त से हटकर अमूर्त और मर्त्य से हटकर अमृत की प्राप्ति करना है। जो अमृत नहीं, वही मर्त्य है। जो ऋत और सत्य नहीं, वही अनृत और असत्य है। नीचे लिखी श्रुति में इन दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है:—

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतः अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता, न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्यु रन्यम् ॥
ऋ० १,१६४,३८

अमर तत्व मरने वाले के साथ एक योनि होकर, भोगेच्छा से पकड़ा हुआ, कभी नीचे जाता है और कभी ऊपर आता है। ये दोनों सदा साथ रहने वाले, सर्वत्र भ्रमण करने वाले और विविध लोकों तक पहुँचने वाले हैं। पर इनमें से एक को लोग जानते हैं, दूसरे को नहीं जानते।

जो अज्ञात है, अविगत है, उसी को श्रुति ज्योति के नाम से भी पुकारती है। जैसे ज्ञात का विपरीत अज्ञात और सत्य का विरोधी अनृत है, वैसे ही ज्योति का प्रतिपक्षी तम है। तम को हटाकर ही ज्योति प्रतिष्ठित होती है।

सूर ने जिस कृष्ण का चित्र सूरसागर में खींचा है, वह परम ज्योति स्वरूप अमृत तत्व है। भारतीय मनीषा जिस चैतन्य तत्व की खोज में अग्रसर हुई है, जिसे उसने विविध युगों में विविध नामों से पुकारा और अनुभव किया है, जिसने भक्तों के हृदय को उल्लसित एवं स्फूर्तिमय बनाया है, वह तत्व, वह परम सत्ता, सूरसागर में कृष्ण के नाम से अभिहित हुई है। सूर के श्रीकृष्ण अक्षय आनन्द के धाम हैं। सूर की माधुर्य-भावना ने उन्हें रस से परिपूर्ण, ज्योति के संचरण-शील स्फुलिंगों के रूप में चित्रित किया है। जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ दुख, अशान्ति और उपद्रवों का अन्धकार रह नहीं सकता। उनकी रस-सिक्त आनन्दी सत्ता सर्वत्र सरसता एवं प्रफुल्लता का सञ्चार करती रहती है।

सूरसागर में कृष्ण-जीवन से सम्बन्धित जिन लीलाओं का वर्णन है, उनमें यह भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। एक बार ब्रज के समीपस्थ वन में दावाग्नि भड़क उठी। गोकुल, ब्रज, वृन्दावन, सभी स्थानों की वन-राजि, वनस्पतियाँ, वृक्षावलि उसकी दाहक ज्वाला में झुलसने लगीं। जैसे अत्यन्त क्रोध में भरा हुआ कोई भयंकर दानव सभी दिशाओं से घेरा डालता हुआ दौड़ा चला आता हो, और जो कुछ सामने पड़े उसे हड़पता हुआ आगे बढ़ रहा हो, वैसे ही पवन से प्रेरित, प्रज्वलित दावानल दसों दिशाओं को ज्वाल-माला से आक्रान्त करता हुआ बढ़ने लगा। ब्रज के नर-नारी उसे देखते ही व्याकुल हो उठे। दावाग्नि ब्रजवासियों के समीप तक आ गई। यह सोचकर कि अब ब्रज इस ज्वाला से त्राण न पा सकेगा, सब जल-तट की ओर चल दिये। दावा के त्रास से सभी संत्रस्त थे और लम्बी-लम्बी साँसें ले रहे थे। ज्वाला और भी अधिक वेग से फैलनी लगी। उसकी शिखायें आकाश को चूमने लगीं। भीषण झार का सर्वग्रासी रूप, ब्रज को निगल जाने की तैयारी करने लगा। पृथ्वी से आकाश तक ओत-प्रोत दावा ने आज मानों ब्रज को उदरसात् करने के लिए बीड़ा ही उठा लिया है। ब्रजवासी विचारने लगे, 'यह दावा कहीं कंस का भेजा हुआ कोई असुर तो नहीं है, कहीं उसी की भड़काई हुई कोई सर्वग्रासिनी आपत्ति तो नहीं है। यह तो पल भर में समस्त ब्रज में प्रलय मचा देगी। भगवान! यह आपत्ति पर आपत्ति! पहले वर्षा ने कोप किया था। उससे जैसे-तैसे बच पाये, गोवर्धन ने सहायता की। पर अब इस दावा से कैसे त्राण हो?' यशोदा भी कहने लगी—'दैव कैसा हमारे पीछे पड़ा है। कभी जल में डुबोकर, तो कभी अग्नि में भस्मीभूत करके, यह हमें प्रत्येक प्रकार से विध्वस्त कर देना चाहता है।' यशोदा संशय में पड़ गई और कृष्ण तथा बलराम दोनों को बचाने की चिन्ता करने लगी।

चारों ओर दावाग्नि का विकराल रूप दृष्टिगोचर होने लगा। बीच में कहीं भी सन्धिस्थल दिखाई नहीं पड़ता था:—

> झरहरात बनपात गिरत तरु धरणी तरकि तड़ाकि सुनाई।
> लटकि जात जरि-जरि द्रुम बेली, पटकत बाँस काँस कुशताल।
> उचटत झर अंगार गगन लौं सूर निरखि ब्रजजन बेहाल।
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० १२१२)

पवन का संसर्ग पाकर वृक्षादि के पत्ते झरझराने लगे। वृक्ष पृथ्वी पर गिर रहे थे, जिनसे पृथ्वी फट जाती थी, और वृक्षों के टूटने का तड़ाक जैसा शब्द सुनाई पड़ता था। द्रुम तथा लतायें जल कर और दुहरी होकर

नीचे की ओर लटक रही थीं। बाँस, काँस, कुश और ताड़ वृक्ष गिर रहे थे। अत्यन्त शीघ्रता से अंगारे उचट कर आकाश तक फैल जाते थे। ब्रजवासी इसे देख कर बेहाल हो रहे थे।

दावाग्नि की भयंकरता का वर्णन करते हुए सूर लिखते हैं:—

भहरात झहरात दावानल आयो।
घेरि चहुँ ओर करि शोर अन्दोर वन,
धरणि आकास चहुँ पास छायो॥
बरत वन बाँस, थरहरत कुश काँस,
जरि उड़त है बाँस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत लपट, पटकि फूल फूटत,
फटि चटकि लट लटकि द्रुमन धायो।
अति अगिनि झार भार धुन्धार करि
उचटि अंगार, झञ्झार छायो।
बरत वन पात भहरात, झहरात,
अररात तरु महा धरणी गिरायो॥
भये बेहाल सब ग्वाल ब्रजवाल तब,
सरन गोपाल कहि कै पुकार्‌यो।
तृणा केशी शकट बकी बका अघासुर,
बामकर गिरि राखि ज्यों उबार्‌यो।

सूरसागर (ना०प्र०स० १२१४)

इस पद में ध्वन्यात्मक शब्दों ने दावानल का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। भहरात, झहरात, अररात, झञ्झार, धुन्धार ऐसे ही शब्द हैं। दावानल का तीव्र गति से फैलना झपटि झपटत, उचटि, पटकि फटि, चटकि, आदि शब्दों द्वारा प्रकट हुआ है। उसका व्यापार या परिणाम बरत, थरहरत, उड़त, फूटत जैसे शब्द अभिव्यञ्जित करते हैं।

धूम धूँधि बाढ़ी घर अंमर, चमकत बिच बिच ज्वाल।
हरिण बराह मोर चातक पिक जरत जीव बेहाल॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १२३३)

इस दावाग्नि के धुएँ से उठी हुई धुंध घर, अन्तरिक्ष, सर्वत्र व्याप्त हो गई। इसके बीच-बीच में कराल लपटों से उठी हुई ज्वाला चमक रही थी। हरिण, शूकर, मोर, चातक, कोकिल आदि पशु-पक्षी सब के सब इस

दावा से व्याकुल हो उठे। ब्रज पर आई हुई इस विभीषिका से रक्षा करने वाला उस अशरण शरण के अतिरिक्त और कौन हो सकता था? गोपाल अपने उसी साक्षात भगवान को पुकारने लगे। शान्ति, तृप्ति एवम् सहृदयता की अमोघ वृष्टि करने वाले श्रीकृष्ण ब्रजवासियों को सान्त्वना देते हुए कहने लगे:-

नैंक धीरज धरौ, जियहि कोऊ जिनि डरौ।
कहाँ वह ? सुलोचन मुँदायौ॥
मुठी भरि लियो, सब नाइ मुख ही दियो।
सूर प्रभु पियो दावा ब्रज जन बचायौ॥६८२॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १२१४)

अथवा

जिनि जिय डरहु, नयन मूँदहु सब, हँसि बोले गोपाल।
सूर अनल सब वदन समानी अभय करे ब्रज बाल॥६८३।

सूरसागर (ना०प्र०स० १२३३)

भयंकर विपत्ति में पड़े हुये गोपालों के हृदय पर इन शीतल वचन-विन्दुओं का अमृतस्रावी प्रभाव पड़ा। डूबते हुए व्यक्ति को तिनके का सहारा बहुत होता है, यहाँ तो साक्षात् सुधा-निस्यन्दिनी सत्ता खड़ी थी, और कह रही थी— "अरे, डरते क्यों हो? यह दावा है ही क्या? अभी शान्त होती है। धैर्य धारण करो और आँखें बन्द करलो।" इतना कहते ही वह विकराल दावानल कृष्ण के मुखमण्डल में समा गया। कृष्ण जैसे उसे पी गये हों। दावानल शान्त हो गया। "बरा सो बुताना—" जो अधिक जलता है, वह जल कर खाक भी होता है। दावानल खाक हो गया। ब्रजवासी प्रफुल्लित हो कृष्ण की कथनी और करनी पर मुग्ध हो गये।

दावानल की यह समाप्ति मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्या अर्थ रखती है? श्रीकृष्ण ने कहा था— "धैर्य धारण करो, भयभीत मत हो और आँखें बन्द करलो।" हमारी सम्मति में यह वह मनोवैज्ञानिक मन्त्र है, जो प्रत्येक दारुण दशा में सफल कार्य कर दिखाता है। आपत्ति आने पर एक तो मानव को घबड़ाना नहीं चाहिए। धैर्य रूपी नाव पर बैठ कर बड़े से बड़े भयंकर तूफानी समुद्र पार किये जा सकते हैं। फिर सबसे बढ़कर बात है, आँखें मूँद लेना, विपत्ति का तनिक भी चिन्तन न करना, उसका प्रभाव अपने मन पर न पड़ने देना। क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर कष्ट की निदारुणता को दूना कर देती है। यदि क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो, तो क्रिया एकांगिनी रह कर शीघ्र नष्ट

हो जाती है। यह अत्यन्त सामान्य, मनोवैज्ञानिक तथ्य है। ताली दोनों हाथों से बजती है, यह लोकोक्ति इसी आधार पर चल पड़ी है। एक हाथ ताली नहीं बजा सकता। इसी प्रकार एकांगी क्रिया प्रभाव-शून्य हो जाती है, यदि उसके प्रतिरोध में प्रतिक्रिया का अभाव हो।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में दावाग्नि, अपने भौतिक स्तर को छोड़ कर, जीवन में आने वाली भयंकर परिस्थितियों की सूचक है। यह व्यक्तिगत भी हो सकती है और सामाजिक भी। दोनों क्षेत्रों में असीम साहसपूर्वक उसके प्रभाव या संस्पर्श की मात्रा को दूर रखना, मन पर उसकी आँच तक न आने देना, एक ऐसा साधन है, जिससे मानव या समाज बाल-बाल बच जाता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में 'दावानल अँचयो ब्रजराज, ब्रजजन जरत बचायो', भगवान की अपार करुणा को प्रकट करता है। भक्ति के विकास में वेद मन्त्रों के उद्धरण देकर हम दिखा आये हैं कि जो इस विश्व का नियन्ता है, वह भक्तों के दुख को दूर करने वाला, उनकी मनोकामनाओं को सफल करने वाला, परम उदार दानी भी है। उसकी कृपा का एक कण साधक के शोक-समुद्र को सुखा देने में समर्थ है। समुद्र-मन्थन से विष और अमृत दोनों उत्पन्न हुए थे। अमृत के आस्वादन के लिए किसी को विष पीना आवश्यक था। विष-पान अनिवार्य आवश्यकता थी। पर इसे उस परम दैवी तत्व के अतिरिक्त और कौन पी सकता था? जब विष की दाहक ज्वाला देवताओं को दग्ध करने लगी, तो उस परम दिव्य, औढर दानी, शिव ने कालकूट का पान कर लिया।

यदि शिव ने विष-पान न किया होता, तो देव या भक्त शान्तिपूर्वक अमृत का उपभोग नहीं कर सकते थे। श्रीकृष्ण द्वारा दावानल-पान भक्ति-क्षेत्र की इसी प्रकार की घटना है। यह आसुरी तत्व के पराभव की कथा है। पुण्य के प्रसार के लिये पाप की पराजय आवश्यक है। सत का प्रकाश असत के विनाश पर ही सम्भव है। अतः दावानल की परिच्युति शान्त एवम् आनन्दमयी अवस्था के लिए अनिवार्य थी।

कृष्ण-जीवन के साथ इस प्रकार की जो कथायें सम्बन्धित हैं, उनका आध्यात्मिक अर्थ समझे बिना, वे भौतिक घटनाओं की शृंखला की एक कड़ी मात्र रह जाती हैं। सूर ने यद्यपि हरिलीला के स्थूल रूप को प्रधानता दी है, पर जब तक उसका सूक्ष्म रूप हृदयंगम न होगा, तब तक उसका सम्पूर्ण और सच्चा मूल्यांकन नहीं हो सकता।

यशोदा ने उसे बैठने के लिये पीढ़ा दिया और कुशल समाचार पूछा। फिर कृष्ण को सुन्दर पालने में पौढ़ा कर कार्यवश यशोदा वहाँ से चली गईं। पूतना को अवसर मिल गया। उसने श्रीकृष्ण को गोद में उठा लिया और प्रसन्न होकर अपना विषाक्त स्तन कृष्ण के मुख में दे दिया। श्रीकृष्ण पहले ही समझ गये थे कि यह राक्षसी है, असुर की सन्तान और असुर की ही गृहिणी है।[1] अतः उन्होंने दूध पीने के साथ ही उसके प्राण भी खींच लिये।[2] पूतना मर गई और उसका शरीर मुरझाकर एक योजन के बीच में पड़ा हुआ दिखाई देने लगा।[3] विष्णु पुराण ने पूतना को बालघातिनी और अति भयानक लिखा है। श्रीमद्भागवत के अनुसार वह भयंकर राक्षसी है, जिसका शरीर छः कोस लम्बा है, नासिका के रन्ध्र पर्वत की गुफा की भाँति, स्तन पहाड़ियों की तरह, नेत्र अन्ध कूप के सदृश और पेट जल-विहीन तडाग के समान है।[4]

श्रीकृष्ण ने शैशव काल में ही कागासुर, शकटासुर और तृणावर्त का वध किया था और कुछ बड़े होने पर बाल्यावस्था में ही वत्सासुर, बकासुर और अघासुर को मार डाला था। गोचारण के समय उन्होंने धेनुक और प्रलम्ब को समाप्त किया था। वृन्दावन में विहार करते हुए उन्होंने शंखचूड़ दानव, वृषभासुर, केशी और भौमासुर का वध किया था। इसके पश्चात् उन दिनों का असुरराज कंस उनके हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

कागासुर, शकटासुर, तृणावर्त, धेनुक, प्रलम्ब और केशी कंस द्वारा श्रीकृष्ण को मारने के लिए भेजे गए थे। कुछ राक्षस अपने उत्पाती स्वभाव के कारण गायों या गोपियों का हरण करने के लिए आये थे। इन असुरों में कंस का वध ही अपने व्यापक प्रभाव के कारण महत्ता रखता है।

पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार मथुरा-नरेश उग्रसेन की पत्नी पवनरेखा एक दिन सखियों को साथ लेकर वन में भ्रमण करने के लिए गई थी। केलि-शैलों पर विहार करते हुए वह सखियों से दूर निकल गई और अदृष्ट-वेश राक्षसराज द्रुमिल से उसकी भेंट हुई। इस भेंट का परिणाम पवनरेखा के गर्भ

१— नन्द सुवन तबही पहिचानी असुर घरनि असुरन की जाई।सू०सा०१०,४४

२— पय सँग प्राण ऐंचि हरि लीने योजन एक परी मुरझाई।

सूरसागर (ना०प्र०स० ६६६)

३— परी महावली योजन ताई॥ १०,४३॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ६६८)

४— भागवत ६, १४, १५, १६। दशमस्कन्ध पूर्वार्ध

ने कंस को आसुरि के रूप में प्रकट किया। कंस के बड़े होने पर उन दिनों के आसुरी-प्रकृति-सम्पन्न नरेश इसका साथ देने लगे। कंस ने भी आर्य संस्कृति के भक्त सभी राजाओं को या तो उनके पदों से च्युत कर दिया या उन्हें कारागार में डाल दिया। यों एकदम स्पष्टतया दोनों संस्कृतियों में प्रबल संघर्ष होने लगा। समय के अनुकूल भगवान श्रीकृष्ण ने आर्य संस्कृति के आधार-भूत तत्त्वों की रक्षा के लिए संगठन किया और असुरराज कंस का वध करके महाराज उग्रसेन को, जो उस समय कंस के बन्दीगृह में पड़े हुए थे, कारागार से मुक्त तथा राज-सिंहासन पर समासीन किया।

सूर ने कंस वध का वर्णन अत्यन्त उत्साहपूर्वक किया है। अक्रूर के साथ जब श्रीकृष्ण मथुरा पहुँचे, तो मथुरा के नर-नारी जो कंस के अत्याचार से संत्रस्त रहते थे, इनके रूप को देखते ही मोहित हो गए और कहने लगे—"आप यहाँ के भूपाल हो जाइये।"[1]

श्रीकृष्ण नगर को देखते हुए उस रजक के पास पहुँचे, जो राजा के कपड़े धोता था। राजकीय वेश धारण करने की आवश्यकता थी। अतः श्रीकृष्ण ने उससे कपड़े माँगे। रजक ने न केवल वस्त्र देने में आनाकानी की, प्रत्युत वह उन्हें अपशब्द भी कहने लगा। श्रीकृष्ण ने झट उसे शिला पर पटक दिया और राजकीय वस्त्रों को लूट कर गोपों को पहिना दिया।

इसके अनन्तर वे धनुषशाला में पहुंचे और धनुष तोड़ कर सब योधाओं को मार भगाया। फिर कुवलयापीड़ हाथी तथा मुष्टिक और चाणूर जैसे मल्लों का वध किया। राग गुण्डमलार में लिखे हुए निम्नांकित पद की क्षिप्रवेगता, अनूठी अनुप्रास-भंगी और वीरोचित भावाभिव्यञ्जन पर दृष्टिपात कीजिये:—

गह्यो कर स्याम भुज मल्ल अपने धाइ,
झटकि लीन्हों तुरत पटकि धरनी।
भटक अति शब्द भयो खुटक नृप के हिये,
अटक प्राणन पर्‌यौ चटक करनी।
लटकि निरखन लग्यौ, मटक सब भूलि गयौ,
हटकि गयौ गटकि रह्यौ मीचु जागी।
मुष्टिकै मरदि, चाणूर चुरकुट कर्‌यौ,
कंस को कंप भयौ, उई रंगभूमि अनुराग रागी

१—कहन लगे सब सूर प्रभू सों होहु इहाँ भूपाल।७१। अ० ४२
सूरसागर (ना०प्र०स० ३६५२)

मल्ल जे जे रहे, सबै मारे तुरत
असुर जोधा सबै तेउ सँहारे
धाइ दूतन कह्यौ, मल्ल कोउ नहिं रहे,
सूर बलराम हरि सब पछारे ।६। अ० ४४

सूरसागर (ना०प्र०स० ३६६१)

कृष्ण और वलराम ने सब मल्लों को मार डाला, यह समाचार कंस के कानों तक पहुँचा। कंस उनके पराक्रम को समझ कर व्याकुल हो गया और पृथ्वी पर अचेत अवस्था में गिर पड़ा। पीताम्बरधारी चतुर्भुज चारों आयुध लिए हुए राजभवन में कंस के पास पहुँचे और कंस का वध उन्होंने जिस प्रकार किया, उसे सूर के ही शब्दों में नीचे अंकित किया जाता है:—

"देखि नृप तमकि हरि चमकि तहाँई गये
दमकि लीन्हो गिरह बाज जैसे।
धमकि मार्‍यौ घाउ गुमकि हृदये रह्यौ,
झमकि गहि केस लै चले ऐसे॥
ठेलि हलधर दियो, झेलि तब हरि लियो,
महल के तरे धरणी गिरायो।
अमर जय ध्वनि भई धाक त्रिभुवन गई
कंस मार्‍यौ निदरि देवरायो॥

धन्य वाणी गगन धरणि पाताल धनि धन्य हो धन्य वसुदेव ताता
धन्य अवतार सुर धरनि उपकार को सूर प्रभु धन्य बलराम भ्राता।"

सूरसागर (ना०प्र०स० ३६६७)

कंस इस प्रकार मारा गया, जैसे वह पहले से ही मरा पड़ा हो, उसकी शक्ति, उसके प्राण पूर्व ही शरीर से कूँच कर गये हों। वलराम ने ठेल कर और श्रीकृष्ण ने उठाकर उसे महल के नीचे पृथ्वी पर पटक दिया। कंस के मरने ही तीनों लोकों में श्रीकृष्ण की जयध्वनि होने लगी। मथुरा नगरी के नर-नारी हर्ष के मारे फूल उठे। सबने ऐसा अनुभव किया जैसे पृथ्वी का भार दूर हो गया हो।

कंस की मृत्यु के उपरांत आर्य राजा उग्रसेन गद्दी पर बैठे और वसुदेव तथा देवकी ने जो अबतक कारागार के क्लेशों से पीड़ित रहे थे, बहुत वर्षों के उपरान्त वात्सल्य-सुख तथा पुत्र-स्नेह-जनित आह्लाद का अनुभव किया।

कंस के मरते ही अनार्य शक्तियाँ दल-बादल के समान उमड़ती हुई मथुरा की ओर अभियान करने लगीं। जरासन्ध इन सबका नेता था। इसने सत्रह बार मथुरा पर आक्रमण किया। प्रजा को युद्ध-जन्य कष्टों से त्राण देने के लिए श्रीकृष्ण सबके साथ द्वारका चले गये, पर उनकी दृष्टि अनार्यत्व के पराभव और आर्यत्व की प्रतिष्ठा की ओर सदैव लगी रही। समय पाते ही, अर्जुन और भीम को लेकर वे जरासन्ध की राजधानी में पहुँचे और गदायुद्ध में भीम द्वारा जरासन्ध का प्राणान्त कराया। जरासन्ध का साथी और श्रीकृष्ण का घोर विरोधी चेदि देश का राजा शिशुपाल भी असुरों का साथ देता रहा था। इसे श्रीकृष्ण ने स्वयम् युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अपने चक्र सुदर्शन से समाप्त किया। महाभारतीय युद्ध में अनेक असुर राजा मारे गये। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अपने बल तथा राजनैतिक कार्य-कुशलता से एक बार भारतवर्ष को असुर-प्रभाव से मुक्त किया था और आर्यत्व की स्थापना की थी। सूर ने जरासन्ध-वध और शिशुपाल-वध का वर्णन दशमस्कन्ध के उत्तरार्द्ध में किया है।

आसुरी प्रवृत्तियों में बाल-हत्या, स्त्री-अपहरण और आग लगाना इन तीन प्रकार के क्रूर कर्मों की जघन्य भीषणता विद्यमान रही है। कंस की आज्ञा से उसके असुर सैनिक इन्हीं कार्यों में निरत रहते थे। पूतना शिशु कृष्ण को मारने के लिये ही भेजी गई थी। कागासुर, शकटासुर, प्रलम्ब, केशी और कमाई के-से कर्म वाला निष्ठुर ब्राह्मण कंस द्वारा श्रीकृष्ण के वधार्थ ही भेजे गये थे। वत्सासुर, बकासुर और अघासुर बालक और बछड़ों की हत्या करने के लिए ही वन में आये थे। बकासुर और अघासुर ने तो अपने गुहाकार मुख में सब को निगल ही लिया था। श्रीकृष्ण की चतुरता से ही गोप बालकों का उद्धार हुआ था। दावानल-पान वाली कथा में असुरों द्वारा लगाई हुई आग का ही तो वर्णन है। भौमासुर गोप-बालकों को चुरा-चुरा कर ले जाता था और अपनी कन्दरा में छिपा कर रखता था। किसी-किसी दानव ने गोपियों का भी अपहरण किया था। आर्य आचार को भंग करने वाले ऐसे असुरों का वध अनिवार्य हो गया था। ये असुर अपनी इच्छानुसार रूप भी धारण कर लेते थे। कोई शकट, कोई काक, कोई बछड़ा और कोई गोप-बालक बन जाता था, और इस प्रकार गोपों तथा गोवत्सों में सम्मिलित होकर उपद्रव मचाता था। श्रीकृष्ण और बलराम सदैव इनकी ताक में रहते और इन हत्यारों, आततताइयों एवम् क्रूरकर्मा असुरों के वध द्वारा जनता का कल्याण सम्पादन करते। असुरों का रूप-परिवर्तन जनता को धोखा दे सकता था। इसी कारण इन्हें मायावी, यातुधान और राक्षस कहा गया है।

वेद के शब्दों में असुर पहले तो अपनी माया से मानवता की आँखों में धूल झोंककर बढ़ता है, बढ़कर सारे संसार पर आच्छादित भी हो जाता है, पर अन्त में अपने ही कर्मों से, जिनके मूल में विनाश सन्निहित है, वह क्षय को प्राप्त होता है[1]। कंस जैसे असुर की भी अन्त में यही दशा हुई थी। श्रीकृष्ण के समान जन-नेता अथवा अवतारी महाप्राण तो निमित्त रूप होते हैं, वास्तव में आततायियों के नृशंस कर्म ही उन्हें मार डालते हैं। पापी असत है, अतः उसकी सत्ता होती ही नहीं, सत्ता-सी ज्ञात होती है, जो परिणाम में पुनः असत हो जाती है, नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। कंस के प्राण श्रीकृष्ण के पराक्रम को सुनते ही निकल गये थे।

आध्यात्मिक क्षेत्र में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों में सदैव संघर्ष चला करता है। गीता में आसुरी प्रवृत्ति की तम से और दैवी शक्ति की ज्योति से उपमा दी गई है। चन्द्रिका—चर्चित निशा चोरों के अतिरिक्त सबको अच्छी लगती है, अन्धकार किसी को भी फूटी आँखों नहीं सुहाता। जब आसुरी प्रवृत्ति जाग्रत होती है, तो मनुष्य को कर्म और अकर्म का ज्ञान नहीं रहता। शौच और सदाचार उससे विदा हो जाते हैं। दम्भ, गर्व, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान आकर उसे घेर लेते हैं। वह इनके विकट बन्धन में पड़ कर अकाण्ड ताण्डव करने लगता है और इस प्रकार अपने आपको अपने ही हाथों नष्ट कर लेता है। ऐसे व्यक्ति सदैव अतृप्त रहते हैं और अपरिमित चिन्ताओं के जटिल जाल में फँसे हुए नाना प्रकार के अन्यायोचित कार्य किया करते हैं। लक्ष्मी कहीं आ गई, तो आभिजात्य का ढोंग भरते हुए दूसरों का अपमान करते हैं। आसुरी प्रवृत्तियाँ अन्दर से बाहर आकर मानव को मानव-सुलभ गुणों, चेष्टाओं और आकृतियों से पृथक करके दानव शरीर और दानव दुर्गुणों से युक्त कर देती हैं। इस निबन्ध के प्रारम्भ में ही हम लिख चुके हैं, कि मानसिकता का ही स्थूल रूप पार्थिवता है। अतः कंस, केशी, प्रलम्ब, भौम आदि राक्षस उनके अन्तस्थल में छिपी हुई आसुरी प्रवृत्तियों के ही बाह्य स्थूल रूप हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण और बलराम आन्तरिक दैवी ज्योति को ही साकार रूप में चरितार्थ करने वाले हैं।

१—प्रगद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारं मृच्छतुः ॥ अ० ४,१९,६
पाप भूमि से उत्पन्न होता है और बड़े भारी रूप में फैल कर द्युलोक तक चढ़ जाता है। फिर वहाँ से कर्ता को सन्तप्त करता हुआ लौटकर उस पापी पर ही आ पड़ता है।

आसुरी और दैवी प्रवृत्तियों में जो द्वन्द्व आध्यात्मिक क्षेत्र में चलता है, वही स्थूल रूप धारण करके कृष्ण और कंस, राम और रावण के रूप में समाज के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होने लगता है। भारतीय संस्कृति ने इस द्वन्द्व को जड़ से पकड़ा है, उसके मूल को देखा है, और इसी कारण उसने जिस साधना को जन्म दिया है, वह एकांगी न रहकर मानव का सर्वांग में विकास करने वाली सिद्ध हुई है।

जीव का विविध योनियों में जाना उसके इन्हीं प्रवृत्तियों में पड़ने का परिणाम है। अतः पाश्चात्य मनीषियों के चिन्तन के अनुसार श्रीकृष्ण की सत्ता केवल रूपक को प्रकट करती है, ऐसा मानना अर्द्ध सत्य को मानना है। श्रीकृष्ण भगवान ने अस्थि चर्म के बने हुए वास्तविक शरीर द्वारा आविर्भूत हो कर कंस जैसे असुरों का वध किया था, यह उतना ही सत्य है, जितना दो और दो को जोड़ कर चार कहना।

सप्तम अध्याय

सूरदास के राधाकृष्ण

सूर के राधाकृष्ण

राधा और कृष्ण का विकास पीछे हमने सांख्य के प्रकृति एवं पुरुष से दिखलाया है। वेदान्तियों के माया और ब्रह्म, तांत्रिकों के शक्ति और शिव, वैष्णवों के श्री और विष्णु, लक्ष्मी और नारायण भी तात्विक रूप से यही जान पड़ते हैं। अन्तर इतना ही है कि जहाँ सांख्यकार प्रकृति और पुरुष को भिन्न-भिन्न मानता है, वहाँ शुद्धाद्वैतवादी उनमें भेद नहीं करते। तत्वरूप में सूर ने भी यही बात स्वीकार की है, जैसे:—

प्रकृति पुरुष श्रीपति सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर इती रस रीति स्याम सों तैं ब्रज बसि बिसराई ॥६५

सूरसागर (ना०प्र०स० ३४३४)

ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानो बातनि भेद करायो ॥२६।२६२

सूरसागर (ना०प्र०स० २३०५)

प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूल गई।२७।२६२

सूरसागर (ना०प्र०स० २३०६)

परन्तु शुद्धाद्वैती भावना के अनुकूल उन्होंने कृष्ण को साक्षात् ब्रह्म और राधा को ब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति[1] के रूप में माना है। यह ब्रह्म घट-घट में समाया हुआ है। यही सूर का हरि, विष्णु, राम और कृष्ण है। इन चारों में सूर ने अभेद की स्थापना की है। तृतीय स्कंध के ग्यारहवें पद में सूर लिखते हैं:—

हरि स्वरूप सब घट पुनि जान्यो। ऊँख माँहि ज्यों रस है मान्यो।

सूरसागर (ना०प्र०स० ३६४)

जैसे ईख में ओर से छोर तक रस ओत-प्रोत है, वैसे ही हरि सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। इन हरि या ब्रह्म का अपना रूप निराकार है। न उनका

१—आचार्य वल्लभ ने तो नहीं, पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने राधा की दार्शनिक व्याख्या में उसे ब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति के रूप में ही स्वीकार किया है।

कोई माता-पिता है, न उनका कोई शरीर; परन्तु लीला के लिए वे निराकार से साकार, निर्गुण से सगुण हुआ करते हैं। सूर के शब्दों में ही सुनिये:—

> गण गन्धर्व देखि सिहात।
> धन्य व्रजललनानि करते ब्रह्म माखन खात॥
> नहीं रेख न रूप, तन, नहिं बरन नहिं अनुहारि।
> मात-पितु दोऊ न जाके हरत मरत न जारि॥
> आपु करता आपु हरता आपु त्रिभुवन नाथ।
> आपुही सब घट के व्यापी निगम गावत गाथ॥
> अंग प्रति प्रति रोम जाके कोटि कोटि ब्रह्मांड।
> कीट ब्रह्म पर्यन्त जल थल इनहिं ते यह मण्ड॥
> विश्व विश्वंभरन एई ग्वाल संग बिलास।
> सोई प्रभु दधिदान माँगत धन्य सूरजदास॥८२॥पृष्ठ २५०

सूरसागर (ना०प्र०स० २२२१)

> विश्वम्भर जगदीश कहावत ते दधि दोना माँझ अघाने।
> आपुहिं हरता, आपुहिं करता आपु बनावत आपुहि भाने॥
> ऐसे सूरदास के स्वामी ते गोपिन के हाथ बिकाने।

सूरसागर (ना०प्र०स० २२२६)

जो ब्रह्म विश्व का रचयिता, पालक और संहारक है, जो स्वयं रूप, [illegible], शरीर, वर्ण आदि से विहीन है, जो सर्व व्यापक है, जिसके एक भाग में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समा जाते हैं, वही अवतार लेकर कृष्ण रूप में ग्वाल-बालों के साथ विलास कर रहा है और दधि-दान माँगता हुआ गोपियों के हाथ का [illegible] हुआ है।

[illegible] ब्रह्म के अवतार हैं, इस बात का उल्लेख सूर ने कई [illegible] किया है। कुछ उदाहरण लीजिये:—

> [illegible] सनातन हरि अविनासी। सदा निरन्तर घट-घट बासी।
> [illegible] पुराण बखानें। चतुरानन सिव अन्त न जानें॥
> [illegible] निगम नहिं पावैं। ताहि यशोदा गोद खिलावैं॥
> [illegible] नागा। ता पद पानि न गुन परगासा॥

× × × ×

> [illegible] पलोवैं। [illegible] नैक नैन भरि जोवैं॥
> [illegible]। सो राधावश कुञ्ज विहारी॥

सूरसागर (ना०प्र०स० [illegible])

गोकुल प्रकट भये हरि आई ।
अमर उधारन असुर संहारन अन्तर्यामी त्रिभुवन राई ॥१२
सूरसागर (ना०प्र०स० ६३१)

पौराणिक युग में ब्रह्मा, विष्णु, महेश नाम के त्रिदेवों की स्थापना हो चुकी थी । परात्पर ब्रह्म की ही ये तीन शक्तियाँ मानी गई थीं, जिनके कार्य क्रमशः सृजन, पालन और प्रलय थे । सूर ने एक स्थान पर पौराणिक मत का अनुसरण करते हुए इस बात का प्रतिपादन भी किया है । चतुर्थ स्कन्ध में भागवत के आधार पर यज्ञ पुरुष का वर्णन करते हुये वे लिखते हैं:—

यज्ञ प्रभु प्रकट दरसन दिखायो ।
विष्णु विधि, रुद्र मम रूप ए तीनिहूँ दच्छ सों वचन यह कहि सुनायो ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ४००)

परन्तु अन्य स्थानों पर उन्होंने विष्णु को ही महत्ता प्रदान की है । शैव संप्रदाय के प्रचार से महादेव को भी उच्च स्थान प्राप्त हो गया था, पर विष्णु के महत्व में उससे कुछ भी न्यूनता न आ सकी । वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रवाह में तो अन्य सभी देव डूब कर हीन कोटि को प्राप्त हो गये । सूर ने ब्रह्मा और महादेव को बड़ा देवता माना है, पर विष्णु के सामने इनको भी भिखारी बना दिया है । सूर के मत में हरि और विष्णु एक ही हैं, इस बात को न भूलना चाहिये । एक स्थान पर सूर लिखते हैं:—

हरि के जन सबके अधिकारी ।
ब्रह्मा महादेव ते को बड़ तिनके सेवक भ्रमत भिखारी ॥१६॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४)

जो स्वयं याचक है, उससे कोई क्या याचना करेगा ।[1] महादेव और ब्रह्मा को सूर ने विष्णु का सेवक भी माना है:—

सिव विरंचि सुरपति समेत सब सेवत प्रभु पद चाये ।
तुम अनादि अविगत अनंत गुण पूरण परमानन्द ।
सूरदास पर कृपा करो प्रभु श्री वृन्दावन चन्द ॥१०३
सूरसागर (ना०प्र०स० १६३)

मुनि मन मधुप सदा रस लोभित सेवत अज सिव अम्ब ॥
सारावली १००१

१—याचक पै याचक कहा याचै, जो याचै सो रसना हारी ॥१-१६

जैसा कहा जा चुका है, हरि, विष्णु, कृष्ण, राम सब एक ही हैं। ही साक्षात् ईश्वर, ब्रह्म और भगवान हैं। सूर ने सर्वत्र इन्द्र, सनक, ब्रह्मा और महादेव को इनसे नीचा स्थान दिया है। कुछ उदाहरण लीजिये:—

निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि-जन भृंग अनेक।
सिव विरंचि खंजन मन-रञ्जन छिन-छिन करत प्रवेस ॥१८६॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३३८)

इस पद में ब्रह्मा और महादेव को नारदादि मुनियों की कोटि में रक्खा है।

विनती केहि विधि प्रभुहिं सुनाऊँ।
महाराज रघुवीर धीर को समय न कबहूँ पाऊँ॥
दिनकर किरण उदित ब्रह्मादिक रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगणित भीर अमर मुनिगन की तेहि ते ठौर न पाऊँ ॥१६८।६५
सूरसागर (ना०प्र०स० ६१६)

यहाँ भी ब्रह्मा और महादेव को देव और मुनियों में स्थान दिया है। सूर ने जहाँ-जहाँ कृष्णावतार का वर्णन किया है, वहाँ ब्रह्मा और महादेव को इतना नीचे गिरा दिया है कि वे यशोदा, गोपी तथा ग्वालों के समान भी सुखी प्रतीत नहीं होते। बाललीला-वर्णन में इस विषय के कई स्थल आये हैं। सूर लिखते हैं:—

"सूरदास प्रभु यशुमति के सुख सिव विरंचि बौरायो ॥६४॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ६५२)

ब्रजवासी पटतर कोउ नाहीं।
ब्रह्म सनक सिव ध्यान न पावत, इनकी जूँठनि लै लै खाहिं॥
धन्य नन्द, धनि जननि यशोदा, धन्य जहाँ अवतार कन्हाई।
धन्य धन्य वृन्दावन के तरु जहँ विहरत त्रिभुवन के राई॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १०८७)

[illegible] ब्रह्मा, शिव, सनकादि कोई भी अन्त नहीं पा सकते।[1]
[illegible] कोटों में से एक कोटे के समान हैं।

---

[1] [illegible] अन्त नहिं पावैं, [illegible] कल्याँ। पद ४९, पृष्ठ १५६
सूरसागर (ना०प्र०स० ११००)

ऐसे करोड़ों ब्रह्मा, करोड़ों शिव इस ब्रह्म के एक रोम में समाये हुए हैं।[२] सूर ने महादेव और ब्रह्मा को पूर्ण ब्रह्म के अवतार विष्णु, हरि, राम या कृष्ण से सर्वत्र पृथक् रक्खा है। इन्द्र कोप से ब्रज को बचाने पर जब देवता कृष्ण की स्तुति करके अपने-अपने घर चलने लगे तो सूर लिखते हैं:—

अस्तुति करि सुर घरनि चले।
सिव विरंचि सुरपति कहँ भापत पूरण ब्रह्महि प्रकट मिले॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६००)

कृष्ण को इस प्रकार परात्पर पूर्ण ब्रह्म मान कर सूर ने वल्लभ के मतानुसार अन्य सबको उनका अंश बना दिया है।

सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥११०१॥
सारावली।

जैसे अग्नि से चिनगारी उसका अंश होते हुए भी भिन्न है, वैसे ही सूर ने नारायण, श्री (कमला) प्रकृति और पुरुष को ब्रह्म का अंश तो कह दिया है, पर उन्हें ब्रह्म से पृथक् स्वतन्त्र सत्तावाला भी माना है।[३] पुरुष से तात्पर्य हिरण्यगर्भ का है। प्रकृति सत् और विश्व का उपादान है।[४] श्री, कमला और रमा एक ही प्रतीत होती हैं, जिनका नारायण से सम्बन्ध है। यह नारायण भी देवकोटि से ऊपर नहीं जान पड़ते और वैकुण्ठ में निवास करते हैं। रास-लीला के समय सूर ने इनको भी मुरली-ध्वनि से मोहित कर दिया है। सूर लिखते हैं:—

मुरली ध्वनि वैकुण्ठ गई।
नारायण कमला दम्पत्ति सुनि अति रुचि हृदय भई॥

२—मैं ब्रह्मा इक लोक को ज्यों गूलरि बिच जीव।
प्रभु तुमरे इक रोम प्रति कोटि ब्रह्म अरु शीव॥ पद २६, पृष्ठ १५८
सूरसागर (ना०प्र०स० १११०)

३—बृहद् ब्रह्म संहिता १, १० में भी यही लिखा है। ब्रह्मा कहते हैं:—
'यस्यांशभूता हि वयं भवन्तः प्रवर्तयामः खलु लोक यात्रम्,' वहीं १२वें श्लोक में प्रभु को 'सर्वात्मभूतः चिदचिच्छरीरः।' अर्थात् सबका आत्मा और चित अचित रूपी शरीर वाला कहा गया है। फिर १, ४१ में लिखा है: जैसे बीज में वट-वृक्ष निहित है, वैसे ही चराचर विश्व परमात्मा में स्थित है।

४—आचार्य वल्लभ इसे ब्रह्म का 'संदेश' कहते हैं: 'सदंशेन जडा अपि।'

सुनहु प्रिया यह वाणी अद्भुत वृन्दावन हरि देख्यो।
धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि जीवन व्रज को लेख्यो॥
रास विलास करत नन्द नन्दन सो हमते अति दूरि।
धनि वन धाम, धन्य व्रज धरनी, उड़ि लागे ज्यों धूरि॥
यह सुख तिहूँ भुवन में नाहीं जो हरि संग पल एक।
सूर निरखि नारायण इकटक भूले नैन निमेख॥५१॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६८२)

तथा

नारायण धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर सुनि बैन।
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी विहरत हैं वन स्याम॥५५॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६८७)

यहाँ रमा के साथ नारायण का वर्णन होने से उनमें विष्णु का भ्रम हो सकता है, पर नारायण को सूर ने हरि और विष्णु से पृथक ही समझा है। हरि या विष्णु हैं गोलोकवासी और नारायण हैं वैकुण्ठ के रहने वाले, जो स्वयं ही हरि का ध्यान किया करते हैं।[1] दूसरी बात यह भी है कि सूर ने जहाँ ब्रह्मा और महादेव को देव कोटि में रक्खा है, वहाँ विष्णु का नाम प्रायः बचा दिया है। केवल एक या दो स्थानों पर उन्होंने विष्णु का नाम ब्रह्मा और महेश के साथ लिया है और वहाँ भी उन्हें ब्रह्म के रूप में ही स्वीकार किया है। हमने इसी हेतु विष्णु को हरि और कृष्ण के साथ रक्खा है। वैसे भी हरि को विष्णु और हर को महादेव कहा जाता है। कृष्ण के लिए हरि का नाम तो सूरसागर में अनेक स्थानों पर आया है। विष्णु और हरि की एकता सूरसागर की नीचे लिखी पंक्तियों से भी सिद्ध होती है:—

तिन्हें संतोषि कह्यौ देहु माँगे मोहिं विष्णु की भक्ति सब चित्त धारो।

× × × ×

कह्यौ यह ज्ञान यह ध्यान सुमिरन यहै, निरखि हरि रूप मुखनाम लीजै॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ४०५)

१—रमाकान्त जासु को ध्यायो। सो सुख नन्द सुवन व्रज आयो॥६०, पृ०३६३
सूरसागर (ना०प्र०स० १७६७)

महाभारत के निर्माण-काल तक विष्णु और नारायण की एकता स्थापित हो चुकी थी और कृष्ण[१] को नारायण का ही अवतार माना जाता था। परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण को ब्रह्म का विशेष रूप दिया गया। निम्बार्क और विष्णु स्वामी का भी इस नवीन कृष्ण-भक्ति पर अधिक प्रभाव पड़ा। महाभारत में नारायण को एक ऋषि माना गया है। शुद्धाद्वैत संप्रदाय में, इसी हेतु, वे ब्रह्म रूप कृष्ण से हेय और निम्न कोटि के दिखाए गए हैं। परन्तु सूर ने विष्णु को हरि माना है और उन्हें ब्रह्मा एवं महादेव के साथ नहीं रक्खा है। इस नाम को उन्होंने प्रायः बचाने का प्रयत्न किया है। पुष्टिमार्ग की विशेष प्रकार की भक्ति ही इसका कारण है, जिसमें गोलोक को वैकुण्ठ से ऊँचा स्थान दिया जाता है। वृन्दावन धाम तो मधुर रस के कारण सर्वश्रेष्ठ है ही, जहाँ[२] परम पुरुष अपनी ह्लादिनी शक्ति राधा[३] तथा सन्धिनी और संवित शक्तिरूपी गोपियों और गोपों के साथ नित्य रास-विहार किया करते हैं :—

१—महाभारत आदि पर्व, अध्याय २२०, श्लोक ५ में अर्जुन और कृष्ण दोनों को सखा और क्रमशः नर और नारायण कहा है:—
आस्तां प्रिय सखायौ तौ नर नारायणा वृषी ॥

२—लोक में मधुर रस सबसे नीचा समझा जाता है। इसके ऊपर वात्सल्य, सख्य, दास्य फिर शान्त रस की क्रमशः प्रतिष्ठा है, परन्तु वैष्णव भक्ति में शांतरस का निर्गुण या ब्रह्मलोक सबसे नीचे है। उसके ऊपर दास्यरूप वैकुण्ठ तत्व है। नारायण यहीं रहते हैं। उसके ऊपर सख्य रस का गोलोक और सबसे ऊपर मधुर-रस का वृन्दावन है, जहाँ परम ब्रह्म अपनी शक्तियों (व्रजांगनाओं) के साथ क्रीड़ा करते हैं। हरिवंश, विष्णु पर्व, अध्याय १६ में श्लोक २६ से लेकर ३५ तक लोकों का वर्णन है। इसके अनुसार नीचे जल लोक, उसके ऊपर नाग (महीधर) लोक, फिर क्रमशः भू लोक (मनुष्य लोक) आकाश (खगलोक), स्वर्ग का द्वार (सूर्यलोक) और उससे परे विमान-गमन देव लोक है, जहाँ कृष्ण देवों के ऐन्द्र पद पर प्रतिष्ठित हैं और जिसे स्वर्गलोक भी कहते हैं। स्वर्ग से ऊपर ब्रह्मलोक है, जो ब्रह्मर्षिगणों से सेवित है। ज्योति-सिद्ध महात्माओं के कर्मों की गति यहीं तक है। इस गति को सोमगति कहा गया है। इसके ऊपर गोलोक है:—तस्योपरिगवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि, स हि सर्वगतः कृष्ण महाकाश गतो महान् ।३०। गोलोक में भी ऊपर से ऊपर भगवान् की ही तपोमयी गति है, जिसे हम मानव समझ नहीं सकते। अवो-

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

नित्यधाम वृन्दावन स्याम, नित्य रूप राधा व्रज वाम।
नित्य रास, जल नित्य विहार, नित्य मान खंडिताभिसार ॥
ब्रह्म रूप ऐई करतार, करन हरन त्रिभुवन संसार ॥८२॥४२६।
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४६१)

सूर की राधा और तुलसी की सीता दोनों एक हैं। तुलसी ने सीता को उद्भव-स्थिति संहार-कारिणी, क्लेश-हारिणी और सर्व श्रेयस्करी कहा है। सूर ने राधा को निम्न लिखित रूप में अनुभव किया है।

नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन में दमकति है दामिनि।
शेप महेश लोकेश शुकादिक नारदादि मुनि की है स्वामिनि ॥

× × × ×

रमा उमा अरु शची अरुंधति दिन प्रति देखन आवें।
निरखि कुसुम सुरगण बरसत हैं, प्रेम-मुदित यश गावें ॥
रूप राशि, सख राशि राधिका शील महा गुण रासी।
कृष्ण चरण ते पावहिं स्यामा जे तुव चरण उपासी ॥
जग नायक जगदीश पियारी जगत जननि जगरानी,
नित विहार गोपाललाल संग वृन्दावन रजधानी ॥
अगतन की गति, भक्तन की पति श्रीराधा पद मंगल दानी।
अशरन शरनी, भव भय हरनी, वेद पुराण वखानी ॥४१॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६७३)

पिछले पृष्ठ की शेप टिप्पणी

लोक दुष्कृतियों के लिये है। नागलोक भी दारुण है। भूलोक कर्मशील पुरुषों के लिए कर्म का क्षेत्र है। आकाश वायुतुल्य वृत्तिवाले अस्थिर जीवों का विषय है। शम, दम से पूर्ण सुकृतियों की गति स्वर्गलोक है। ब्राह्म तप में लीन जीवों की परम गति ब्रह्म लोक है, परन्तु-"गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः ॥३४॥ स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना। धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम् ॥३५॥" इन श्लोकों के अनुसार गोलोक श्रीकृष्ण भगवान का निवास स्थान है।

२—गोपनादुच्यतेगोपी श्री लीला राधिकाभिधा।
देवी कृष्णमयी ज्ञेयाराधिका परदेवता ॥५०॥
सर्व लक्ष्मी स्वरूपा च श्रीकृष्णानन्दायिनी।
अतः सा ह्लादिनी शक्तिर्नानाकेलि विशारदा ॥५१॥
वृहद् ब्रह्म संहिता, द्वितीयपाद, पंचम अध्याय।

तुलसी की सीता राम-वल्लभा हैं, तो सूर की राधा जगदीश की प्रिया हैं।[1] वह उद्भव-स्थिति-कारिणी हैं, तो यह जगत-जननी हैं। वह क्लेश-हारिणी हैं, तो यह भव-भय-हरनी हैं, वह सर्व श्रेयस्करी हैं, तो यह असरन-सरनी और अगतिन की गति हैं।

सीता और राधा दोनों शेष, महेश और नारदादि की स्वामिनी हैं। ब्रह्म की एक ही शक्ति के सीता और राधा दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। रामचरितमानस और सूरसागर दोनों में वर्णित देवगण इस शक्ति को जगत-जननी और जगरानी के रूप में वंदनीय मानते हैं। अमित और अपार है इस जननी की शोभा! तुलसी इसी जगदम्बा से राम-भक्ति पाने की प्रार्थना करते हैं:—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरीयौ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ॥ विनय पत्रिका

सूर भी इसी जगज्जननी से कृष्ण-भक्ति की याचना करते हैं:—

कृष्ण भक्ति दीजे श्री राधे सूरदास बलिहारी॥

तुलसी ने सीता और राम को भिन्न होते हुए भी अभिन्न अर्थात् दो शरीर पर एक प्राण के रूप में चित्रित किया है।[1] सूर उनसे पूर्व ही ये पंक्तियाँ लिख चुके हैं:—

सूर स्याम नागर इह नागरि एक प्राण तनु द्वै हैं ॥८१। पृष्ठ २८७।
सूरसागर (ना०प्र०स० २५२१)

राधा हरि आधा आधा तनु एकै ह्वै द्वै ब्रज में अवतरि॥३२।
सूरसागर (ना०प्र०स० २३११)

१—पद्मपुराण, पाताल खंड अ० ६६ श्लोक ११७ में लिखा है:—
तत्प्रिया प्रकृतिस्त्वाद्या राधिका कृष्ण वल्लभा॥

१—गिरा अरथ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीता राम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

हरिवंश कार ने कृष्ण और बलराम में एकत्व की प्रतिष्ठा की है:—

उभावेकशरीरौ स्वौ जगदर्थे द्विधाकृतौ॥४६॥
अहं वा शाश्वतः कृष्णस्त्वं वा शेषः पुरातनः।
आवयोर्देहमात्रेण द्विधेदं धार्यते जगत्॥४७॥
अहं यः स भवानेव यस्त्वं सोऽहं सनातनः॥४८।

हरिवंश, विष्णुपर्व अ० १४

द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोऊ सुख कारण उपजाये ॥२६॥ २६२
सूरसागर (ना०प्र०स० २३०५)

जैसे गुण गुणी से पृथक नहीं होता, शक्ति अपने आश्रय से अलग नहीं होती, उसी प्रकार राधा कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। सीता और राम, राधा और कृष्ण, प्रकृति और पुरुष का यह कोई नवीन सम्बन्ध नहीं है। दोनों शाश्वत रूप से एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं। सूर लिखते हैं:—

तब नागरि मन हरप भई।
नेह पुरातन जानि स्याम को अति आनन्द मई।
जन्म जन्म युग युग यह लीला प्यारी जानि लई ॥२७॥२६२
सूरसागर (ना०प्र०स० २३०६)

समुझि री नाहिंन नई सगाई।
सुनु राधिके तोहि माधौ सों प्रीति सदा चलि आई॥
सिंधु मथ्यौ, सागर बल बाँध्यौ, रिपु रण जीति मिलाई।
अब सो त्रिभुवन नाथ नेह बस बन बाँसुरी बजाई॥
प्रकृति पुरुष, श्रीपति सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर इती रस रीति स्याम सों ते ब्रजबसि बिसराई ॥६५॥पृ०४०८
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४३४)

सूर ने जैसे राम और कृष्ण के अवतारों में अन्तर नहीं समझा, उसी प्रकार सीता और राधा में भी भेद नहीं किया। ऊपर उद्धृत पद में वे लिखते हैं:—"राधा तू वही तो सीता है, जिसे राम ने समुद्र पर पुल बाँध कर और रावण जैसे दुर्धर्ष शत्रु को रण में पराजित करके प्राप्त किया था।" सीतापति शब्द तो इस अभेद को और भी अधिक स्पष्टता पूर्वक प्रकट कर देता है। समुद्र-मंथन और श्रीपति शब्दों से सूर ने राधा और लक्ष्मी की एकता भी सूचित की है। सूर ने एक और स्थान पर इन दोनों की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है:—

लक्ष्मी सहित होत नित क्रीड़ा सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषै रस छीलर वा समुद्र की आस ॥१८४॥पृ०२६
सूरसागर (ना०प्र०स० ३३७)

परन्तु जैसे उन्होंने विष्णु को नारायण से पृथक कर दिया है, उसी प्रकार लक्ष्मी को रमा से। निम्नलिखित पंक्ति में सूर ने रमा को उमा, शची और अरुंधती के साथ रक्खा है:—

रमा, उमा अरु सची अरुंधति दिन प्रति देखन आवैं ॥४१॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६७३)

परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं है। सामान्य रूप से सूर ने रमा, कमला और श्री को एक ही माना है और तात्विक दृष्टि से राधा, लक्ष्मी और श्री एक ही हैं। नीचे लिखे पद में रमा को भगवान की दासी कहा गया है:—

देखि री देखि सोभा रासि।
काम पटतर कहा दीजै रमा जिनकी दासि ॥५५॥ पृष्ठ २७६
सूरसागर (ना०प्र०स० २४३७)

राधा और कृष्ण के इस दार्शनिक विवेचन के पश्चात् हम सूर के हृदय की उस भूमिका में प्रवेश करते हैं, जहाँ उसने अप्राकृत को प्राकृत और अनन्त को सान्त बना दिया है। राधा और कृष्ण अतिमानव होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। मानव भी मूक और कृत्रिम नहीं, साधारण जीवन से तटस्थ और चहार दीवारी के अन्दर रंगरेलियाँ करने वाले नहीं, वरन् जीवन के सामान्य धरातल पर बालोचित क्रीड़ा, यौवन-सुलभ हास-परिहास, एक के सुख में सुख और दुःख में दुःख का अनुभव करने वाले, परिस्थिति के अनुकूल क्रिया-उद्योग-शील एवं प्रवृत्ति-परायण हैं। सूर ने उस परम पुरुष और परम प्रकृति को कृष्ण और राधा के रूप में अवम बना कर, ऊपर से नीचे लाकर, हम सबके पास बिठा दिया है। तरः पूत वैदिक ऋषि जो प्रार्थना किया करते थे:—

आ ते वत्सो मनो यमत् परमात् चित् सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ ऋ० ८-११-७

हे परम प्रकाशमय परमात्मन्! तुम अत्यन्त परम, अतीव ऊँचे स्थान पर हो। तुम जिस चिदानन्दघन धाम में निवास करते हो, उस धाम तक मुझ अवम धाम में पड़े हुए तुच्छ जीव की पहुँच कहाँ? तुम अनन्त, असीम, विभु और मैं सान्त, ससीम, अणुरूप!! तुम्हारा सान्निध्य प्राप्त हो तो कैसे? हाँ, एक आशा है—एक सहारा है, जो मुझे तुम्हारे चरणों में निवेदन करने के लिए प्रेरित कर रहा है। यह है मेरा अपना ही रूप। तुम पिता हो और मैं तुम्हारा वत्स हूँ। जो पिता का रूप होता है, वही तो पुत्र को भी प्राप्त होता है। तुम चिदानन्दघन हो, तो मैं भी चित् स्वरूप आत्मा हूँ। पिता का घर ही तो पुत्र का घर है। अतः तुम्हारा धाम, फिर वह चाहे जितना ऊँचा हो, मेरा भी धाम है। और नहीं तो, फिर मैं जहाँ पर हूँ, वहीं तुमको भी खींच लाऊँगा। अपनी तोतली बोली में तुम्हारे मन को वशीभूत करके अपने सधस्थ—सहस्थान—पर

खींच लाऊँगा। क्या तुम न आओगे? नहीं, तुम्हारी अपनी प्रतिज्ञा भी तो यही है। श्रुति कहती है:—

> आ घा गमत्, यदि श्रवत्, सहस्त्रिणीभिः ऊतिभिः।
> वाजेभिः उप नो हवम्। ऋ० १-३०-८

यदि भक्त का कातर क्रन्दन भगवान के कान में पड़ गया, तो वे उसे सुनते ही अपनी सहस्रों रक्षा-शक्तियों तथा बलों के साथ भक्त के पास आ जाते हैं।

तो प्रभु! तुम भी मेरे सधस्थ बनोगे। मेरी प्रार्थना तुम्हें खींच कर, परम से अवम बनाकर, इस धरातल पर ले ही आवेगी।

सूरसागर में ऋषियों की यही प्रार्थना तो चरितार्थ हो रही है। सूर का कन्हैया परब्रह्म होकर भी शैशव अवस्था में अपने शारीरिक सौंदर्य से ब्रजवासियों को मोहित कर रहा है। उसका बुद्धि-वैभव गोप और गोपियों के लिए मनोरंजन और आकर्षण की वस्तु है। बच्चों के साथ वह खेलता है, हँसता है, राग-द्वेष, प्रतिस्पर्धा आदि भावों को[1] प्रकट करता है, पर 'पद्म पत्रमिवाम्भसा' जल में कमल की भाँति निष्पाप, निरीह बालक के समान निर्लिप्त! बाल्यावस्था में मिट्टी भी खा लेता है। माँ यशोदा उसे डाँटती-फटकारती हैं, तो मुँह बा देता है और उस विचित्र चमत्कार से माँ को विस्मय-विमुग्ध, आश्चर्य-चकित भी कर देता है। सूर बालोचित समस्त लीलायें लिखते हुए भी कृष्ण के ईश्वर रूप को विस्मृत नहीं करते, उसे अपने सामने ले आते हैं, जिससे बीच बीच में अद्भुत रस की सृष्टि होती चलती है।[1]

कृष्ण किशोरावस्था को प्राप्त हुए। अब वे गोचारण के लिए वन में जाते हैं। संध्या समय धूलि-धूसरित अवस्था में थके-माँदे लौटते हैं, तो यशोदा और रोहिणी लपक कर उन्हें गोद में उठा लेती हैं। नाना प्रकार के व्यंजन उन्हें जीमने के लिए दिये जाते हैं। कभी-कभी कृष्ण बलदाऊ की शिकायत

१—खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
सूरसागर (ना०प्र०स० ८६३

२—जाको ब्रह्मा अन्त न पावे।
तापै नन्द की नारि यसोदा घर की टहल करावै।५२। पृष्ठ १४७
सूरसागर (ना०प्र०स० १०११)

भी कर देते हैं।[1] उनके रोते हुए शिकायत करने के ढंग को देख कर तो कोई भी हँसे बिना नहीं रह सकता। यशोदा भी हँस पड़ती है और बलराम को डाटकर कृष्ण को सान्त्वना देती है। खेल-खेल में ही एक दिन नीलवसन धारण किये विशाल नेत्र वाली, गौरवर्ण राधा के दर्शन हो गए। प्रथम स्नेह ने दोनों को एक दूसरे के निकट ला दिया। सूर ने यहाँ कृष्ण को क्रीड़ा-कौतुक-प्रिय सखा के रूप में चित्रित किया है। राधा कृष्ण के और कृष्ण राधा के घर जाने लगे। कभी-कभी गो-दोहन के समय कृष्ण एक धार दुहनी में, तो एक धार समीप खड़ी राधा के मुख की ओर चला देते हैं। इसके पश्चात् उनका प्रेमी रूप प्रकट होता है। दधि-लीला और चीरहरण-लीला के प्रसंग आते हैं। और अन्त में होती है, आश्विन की दुग्ध-धवल ज्योत्स्नामयी पूर्णिमा की रात्रि में रासलीला।

राधा-कृष्ण-लीला में न जाने कितने विनोद के प्रसंग आये हैं। कभी कृष्ण राधा के आभूषण पहन लेते हैं, तो कभी-कभी राधा पीताम्बर धारण कर लेती हैं और मुरली बजाने लगती हैं।[2] इसी प्रकार रंग-रहस्य के, संयोग सुख के दिन व्यतीत होते गये। अन्त में वियोग की घड़ियाँ भी आईं। संयोग में जिन्होंने सुख लूटा था, वही एक दूसरे के वियोग में दुःख का अनुभव करने लगे।[3]

१—मैया मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनों तू जसुमति कब जायो।
सूरसागर (ना०प्र०स० ८३३)

२—प्यारी कर बाँसुरी लई।
सन्मुख होइ तुम सुनहु रसिक पिय ललित त्रिभंगमयी।
सूरसागर (ना०प्र०स० २७६१)

× × × ×

प्रिया भूषण स्याम पहिरत, स्याम भूषण नारि।। पृष्ठ ३११
सूरसागर (ना०प्र०स० २७६२)

३—सुनि ऊधौ मोहि नैंक न बिसरत वै ब्रजवासी लोग।

× × ×

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

मानव-जीवन के सुख-दुख के सभी चित्र सूर ने परिपूर्ण रूप में चित्रित किए हैं। इन चित्रों में सूर के राधा-कृष्ण शुद्ध रूप से मानव प्रतीत होते हैं। राधा तो गृहस्थ के सुख-दुख का अनुभव करने वाली आर्य महिला के अतीव उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आती है। स्वकीया पत्नी के रूप में संयोग में वह जितनी मुखर, मानवती और चंचल है, वियोग में उतनी ही संयत और गम्भीर। कृष्ण में सूर ने समस्त सद्‌गुणों का सम विकास दिखलाया है। वे हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, नटखट बच्चे हैं, सौंदर्य में उनकी समता नहीं, बलवानों में वे अनुपम हैं और बुद्धिमानो में अद्वितीय हैं। महाभारत ने उन्हें वेद-वेदांग-वेत्ता, राज-नीति-निपुण योद्धा के रूप में, गीता ने उन्हें सात्वत धर्म के उपदेष्टा और योगी के रूप में तथा भागवत ने उन्हें भक्ति के भूखे, प्रेमी प्रभु के रूप में चित्रित किया है। सूर ने इन सबका सामंजस्यात्मक रूप तो लिया ही है, साथ ही उन्हें अत्याचारियों का मान-मर्दन करने वाले, पुत्रपौत्रादि से सम्पन्न गृहस्थ और धीर, गम्भीर महाराज के रूप में भी चित्रित किया है। पर सूर के कृष्ण ईश्वर होते हुए भी मनुष्य हैं। साधारण मानव के रूप में ही वे चरित्र करते हुए दिखाई देते हैं। क्या बाल और क्या तरुण, सभी अवस्थाओं में उनका रूप सूर के लिए मानव के सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता। इसी धरातल पर उनके समस्त सद्‌गुणों का समविकास हुआ है। वे सुदामा के प्रेमी मित्र हैं, अर्जुन के सखा हैं, रुक्मिणी के पति और राधा के प्रेमी हैं। दशमस्कन्ध, उत्त-रार्द्ध के अन्त में जब वे राधा से मिलते हैं, तो राजसी विलास और ठाट-बाट में नहीं, प्रत्युत एक सामान्य प्रेमी के रूप में ही वे उनके सम्मुख आते हैं। सूर उनके ऐश्वर्यशाली, अनन्त, अलौकिक एवं असामान्य रूप को सहन ही नहीं कर सकते। वे सर्वत्र उनके चरित्र को अपनी समभूमि में रखकर प्रकट करते हैं। यही है परम को अवम बनाना, अलौकिक को लौकिक और असीम को ससीम रूप में चित्रित करना। यही अवम, लौकिक और ससीम सूर का ठाकुर है,[1]

पूर्व पृष्ठ की शेष पाद टिप्पणी

सूर उसांस छाँड़ि भरि लोचन बढ़्यो विरहज्वर सोग। ६२। पृष्ठ ५६६
सूरसागर (ना०प्र०स० ४७७३)

उन्नत स्वास विरह विरहातुर कमल बदन कुम्हिलानी,
निन्दति नैन निमेष दिनहिं दिन मिलन कठिन जिय जानी।७७ पृष्ठ ५६७
सूरसागर (ना०प्र०स० ४७५५)

१— सूरदास कौ ठाकुर ठाढ़ो लिए लकुटिया छोटी।
सूरसागर (ना०प्र०स० ७८१

स्वामी है, प्रभु है—सामान्य होते हुए पुनः असामान्य, पूज्य और वंदनीय। अन्य चरित्रों को भी सूर ने अतीव मानव रूप में उपस्थित किया है। यशोदा के मातृहृदय का परिचय सूर ने वात्सल्य रस के उभय पक्षों के वर्णन में दिया है। नन्द प्रेमी पिता और पति के रूप में प्रकट किये गए हैं। उद्धव को ज्ञानी और वैरागी के रूप में चित्रित किया गया है। वे सूरकालीन अद्वैतवादियों के प्रतिनिधि जान पड़ते हैं। उद्धव के चरित्र में सूर ने अद्वैतवादियों के ज्ञान-मार्ग पर प्रेम-मार्ग एवं निर्गुण उपासना पर सगुण उपासना की विजय दिखाई है। राधा प्रथम रसकेलि विलासवती स्वकीया पत्नी के रूप में और पश्चात् विरहा-श्रुओं के घूँट चुपचाप पीती हुई विरहिणी आर्यललना के संयत रूप में प्रकट हुई है। प्रसादान्त आर्य साहित्य के आदर्श के अनुकूल सूर ने राधा-कृष्ण का अन्त में मिलाप भी करा दिया है। पर, इन सभी मानव सुलभ, सामान्य जीवन-दशाओं का चित्रण करते हुये सूर ने वल्लभीय भक्तिमार्ग के आधार पर इनका पर्यवसान प्रभु की पूजा में ही किया है। गोपियों के व्रत, नियम आदि का उद्देश्य तो स्पष्ट रूप से ही कृष्ण की प्राप्ति है। अन्य चरित्रों के क्रियाकलाप की भी अन्तिम परिणति कृष्ण-भक्ति में ही है। यशोदा और नन्द वात्सल्य-प्रेम के रूप में, उद्धव और गोप सखा भाव से, गोपियाँ और राधा दाम्पत्य प्रेम-भाव से कृष्ण की भक्ति करती हैं। एक सामान्य जीवन लीला, पर कितनी उदात्त! यह लोक उस लोक को छूता हुआ और वह लोक इस लोक से मिला हुआ! सामान्य का असामान्य से और असामान्य का सामान्य से सुन्दर सम्मिलन!

राधा-माधव-भेंट का वर्णन करते हुए सूर लिखते हैं:—

राधा माधव भेट भई।
राधा—माधव, माधव-राधा क्रीट भृंग गति होई जु गई॥
माधव राधा के रँग राँचे राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना' कहि न गई॥४१। पृष्ठ ५६२

सूरसागर (ना०प्र०स० ४६१०)

जैसे भृंग कीट को पकड़ कर अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है, उसी प्रकार राधा माधव में और माधव राधा में मिलकर एक हो गये। भक्त ने प्रभु को अपने धरातल पर खींच लिया और प्रभु ने भक्त को अपने रंग में रँग दिया, अपने में मिला लिया। हृदय की रागानुगा वृत्ति के लिए कितना सुन्दर आश्रय है यह। यहाँ प्रेम भी है और पूजा भी। काव्य भी है और भक्ति भी। सख्य एवं मधुर भाव की भक्ति के धनी सूर के लिए यह नितान्त सहज और स्वाभाविक था। सूरसागर इसीलिए कवियों का कंठहार और भक्तों की माला का सुमेरु बना है।

अष्टम अध्याय

सूरदास और शृंगार रस

सूरदास और शृंगार-रस

श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण और ब्रह्मवैवर्त में हरिलीला का जो शृंगारी रूप प्रकट हुआ है, वह उसके साथ मूलतः सम्बद्ध है। सूरदास की रचना में शृंगारी वैभव की जो अतुल राशि विद्यमान है और जिसने परवर्ती हिन्दी साहित्य को अपनी अनूठी शब्दावली एवं अप्रतिम भाव-विभूति से प्रचुर मात्रा में प्रभावित किया है, उसका स्रोत इन्हीं ग्रन्थों में पाया जाता है। कुछ शृंगारी प्रसंग ऐसे अवश्य हैं, जिनका उद्गम खोजने में हमें पूर्व-प्रचलित ग्रामीण वैष्णव गीतों की ओर जाना होगा और कुछ सूर की मौलिक एवं स्वतंत्र उद्भावना शक्ति के परिणाम भी सिद्ध हो सकते हैं।

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, श्रीमद्भागवतकार शृङ्गार वर्णन को अश्लीलता की सीमा पर नहीं पहुँचने देता। जहाँ कहीं वह उसकी अतिशयता का अनुभव करने लगता है, वहीं उसे और सम्बन्धित प्रसंग को भी आध्यात्मिकता के रंग में रँग देता है। सूर में हमें यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। सूर ने शृंगार रस का वर्णन किया है और खुलकर किया है, पर वह बीच-बीच में आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक संकेतों द्वारा उसकी लौकिकता पर आवरण भी डालता गया है।

'हरिलीला और वेद' शीर्षक प्रकरण में शृङ्गार की मूल प्रवृत्ति काम को हमने, सबके अग्रज तथा सृष्टि के बीज रूप में प्रदर्शित किया है। वेद इसे मन का प्रथम रेत (वीर्य, कारण) और सत का बन्धु कहता है, जिसे कवियों ने अपने बुद्धिबल तथा भावना शक्ति के द्वारा असत में, विनश्वर सृष्टि में, उपलब्ध किया। सृष्टि के मूल तत्व, प्रकृति और पुरुष की 'एकोऽहं बहुस्याम्' वाली कामना लोक में सर्वत्र प्रजनन-शक्ति के रूप में फैली हुई कार्य कर रही है। प्रकृति भी पुरुष से भिन्न नहीं, प्रत्युत उसी की शक्ति है।

शरीर में इन्द्रियों से पूर्व प्राण, प्राण से पूर्व मन, मन से पूर्व बुद्धि और बुद्धि से भी पूर्व काम है। गीता के तीसरे अध्याय के अन्त में, श्लोक ४२

के अन्तर्गत इन्द्रियों से लेकर काम तक यही क्रम दिया हुआ है ।[1] जो जिसका पूर्वज है, वह अपनी सन्तान में आश्रय पाता ही है । काम भी सबका जनक होकर सब में समाया हुआ है, सर्वत्र व्याप्त है । इसकी यह व्याप्ति भी इसके प्रभविष्णु रूप को प्रकट कर रही है ।

हिन्दी के अमर कलाकार श्री प्रसाद जी कामायनी में लिखते हैं:—

काम मंगल से मंडित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम । —श्रद्धासर्ग

काम मंगल से मंडित है, कल्याण का निकेतन है । सर्ग (सृष्टि) के मूल में यही कार्य कर रहा है । प्रभु की समस्त लीला का यही आधार है । जो काम श्रेयस्कर है, मंगलमय और आनन्द रूप है, वह लौकिक वासनाओं से विकृत, अमंगल-जनक और दुख का कारण भी वन जाता है । मनुष्य की निम्नगा प्रवृत्ति काम के विशुद्ध स्वरूप को कलुषित कर देती है । इसी कारण सूरदास जैसे स्वयं-प्रकाश कवियों ने काम की लौकिकता पर अलौकिकता का आवरण चढ़ाने का प्रयत्न किया है । उन्होंने संयोग शृंगार का नग्न वर्णन करते हुये भी, कहीं तो उसे दृष्टकूट का जामा पहना दिया है और कहीं समस्त वर्णन को रहस्योन्मुख कर दिया है ।

जैसा लिखा जा चुका है, काम-भावना जड़ एवं चेतन सभी में विद्यमान है और सर्वत्र अपना प्रभाव जमाये हुये है । काम को इसी हेतु निखिल भावों का उर्ध्वस्थानी और शृंगार को सब रसों का सम्राट, रस-राज, माना गया है । सूरदास ने शृंगार-रस की इस स्थिति को अनुभव किया है । उन्होंने शृंगार के ही अन्तर्गत अन्य रसों का भी वर्णन किया है । वीर रस को वे शृंगार की भूमि पर उतार लाये हैं । करुणरस तो विप्रलम्भ शृंगार के साथ चलताही है, संयोग के पूर्व भी वे, कभी-कभी, उसकी झलक दिखा देते हैं, जिससे

१—इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।

कुछ टीकाकार इस श्लोक का अर्थ करते हुए भ्रम में पड़ गये हैं । उन्होंने 'बुद्धि से परे आत्मा है' ऐसा अर्थ कर दिया है, जो पूर्वापर प्रसंग को मिलाते हुए संगत नहीं जान पड़ता । इस श्लोक से पहिले भी काम का वर्णन है और वाद में भी । अतः "बुद्धि से भी परे काम है" ऐसा अर्थ करना ही युक्तियुक्त है । वेद और उपनिषद के प्रमाण इस सम्बन्ध में "हरिलीला और वेद" प्रकरण में दिये जा चुके हैं ।

उसकी आकुलता संयोग-सुख में परिणत होकर अपूर्व आह्लाद की सृष्टि कर सके। अद्भुत रस शृंगार रस की रहस्योन्मुखता में प्रकट हो जाता है। हास्य रस तो शृंगार का साथी ही है। रौद्र और भयानक रसों को वे लीला के अन्तर्गत ले आये हैं। सूर का शृंगार, अन्ततोगत्वा, भक्ति रस है, उज्ज्वल रस है और इस प्रकार शान्त रस को अपने में अन्तर्भूत किये हुए है। शृंगार में इन सब रसों का अन्तर्भाव करके सूर ने उसकी रसराजता और व्यापकता विशद रूप से सिद्ध कर दी है।

आचार्यों ने शृंगार रस की महनीय महत्ता एवं पवित्र स्थिति को सदैव ध्यान में रखा है। भरत मुनि अपने नाट्य शास्त्र में लिखते हैं: "यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपनीयते।" अर्थात् लोक में जो कुछ पवित्र, श्रेष्ठ, उज्ज्वल और दर्शनीय है, उसे शृंगार कहा जाता है। महापात्र विश्वनाथ साहित्यदर्पण में लिखते हैं:—

शृंगं हि मन्मथोद्भेद स्तदा गमन हेतुकः ।
उत्तम प्रकृति प्रायो रस शृंगार इष्यते ॥ ३।१८३ ॥
स्थायि भावो रतिः श्यामवर्णोयं विष्णुदेवतः ॥ ३।१८६ ॥

कामदेव का उद्बोध, मिलन-आकांक्षा का उद्रेक शृंग है और उसके आगमन अर्थात उत्पत्ति का कारण शृंगार-रस है। परन्तु उत्तम प्रकृति का ही कामोद्रेक शृंगार रस के अन्तर्गत आता है, जिसमें शारीरिक ऐन्द्रिय वासनाओं के स्थान पर मानसिक, पूत भावना का प्राधान्य रहता है। यह पूत भावना अनुराग या प्रेम की भावना है। अनुराग, रति या प्रेम की परिभाषा विश्वनाथ जी ने इस प्रकार की है:—

"रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ॥" ३।१७६ ॥

मन के अनुकूल अर्थ (वस्तु) की ओर मन के प्रवणायित अथवा उन्मुख होने के भाव को रति कहते हैं। रसगंगाधर के रचयिता पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार "स्त्री पुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्य श्चित्तवृत्ति विशेषो रतिः" स्त्री और पुरुष, नायक और नायिका की एक दूसरे पर अवलम्बित प्रेमनाम की जो विशिष्ट चित्तवृत्ति है, उसे रति कहते हैं। स्त्री और पुरुष के हृदय में एक दूसरे के प्रति जो आकर्षण है, प्रवण होने का भाव है और जो अनुकूल परिस्थिति पाते ही उद्दीप्त हो उठता है, वही प्रेम या रति नाम से पुकारा जाता है। यह रति सर्व प्रथम मानसिक क्रियाओं में और उसके पश्चात् शारीरिक चेष्टाओं में अभिव्यक्त होती है।

मानसिक एवं शारीरिक व्यापार भी अन्योन्याश्रित हैं। मन के स्पन्दन शरीर की चेष्टाओं को अनिवार्य रूप से प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत भौतिक जगत पर अपनी छाया डालता है। सूर ने इसी कारण पुरुष और प्रकृति की, राधा और कृष्ण की, आध्यात्मिक क्रीड़ा (लीला) को भौतिक जगत के व्यापार-चित्रण द्वारा अभिव्यक्त किया है।

शृंगार की अनुभूति मूलतः आनन्दमयी है जो धृति, हर्ष, असूया आदि मानसिक भावों में होती हुई, इन्द्रियों के संवेदनों तथा शरीर की चेष्टाओं में अपना प्रकाश करती है।

रस-निष्पत्ति के उपादानों में शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिका हैं; उद्दीपन आभूषण, परिहास, प्रकृति की मनोरम वनस्थली, अनुकूल ऋतु और चन्द्र आदि हैं; अनुभावों में रोमांच, स्वर-भंग, विवर्णता, स्वेद, स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन आदि आते हैं और संचारी भाव धृति, असूया आदि हैं। शृङ्गार का स्थायी भाव रति है।

शृङ्गार रस के निष्पादक अवयवों पर विचार करने से शृङ्गार रस की व्यापकता तथा उसके महत्वपूर्ण प्रभाव का थोड़ा-सा आभास मिल जाता है। शृङ्गार रस का क्षेत्र अन्य रसों की अपेक्षा विशाल है। इसके संचारियों की संख्या सबसे अधिक है। सात्विक भाव, एकादश अवस्थाएँ एवं हाव तो इसकी अपनी सम्पत्ति हैं। मानव-जीवन का अधिकांश भाग शृङ्गार रस की मूल प्रवृत्ति से ही प्रेरित होता है। शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति या प्रेम हमारी मनोवृत्तियों में संतुलन रखने की अपूर्व क्षमता रखता है। प्रेम के द्वारा मन की एकाग्रता तथा सर्वस्व समर्पण की भावना सफल एवं चरितार्थ होती है और अहंकार विलीन हो जाता है।

शृङ्गार रस के दो पक्ष हैं: संयोग और वियोग। सूरसौरभ में हम सूरदास लिखित शृंगार के इन दोनों पक्षों का विस्तृत वर्णन कर चुके हैं। यहाँ हम सूर द्वारा वर्णित शृंगार रस की कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करना चाहते हैं, जिनका सम्बन्ध आध्यात्मिक पक्ष के साथ है।

आध्यात्मिकताः—सूरसागर में अध्यात्म-सम्बन्धी कुछ शृंगारी-कथन तो अत्यन्त सीधे, प्रत्यक्ष और स्पष्ट हैं, तथा कुछ व्यंजना-परक। व्यंजना-परक पदों के अर्थ को राधा और कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से भी आध्यात्मिक ही समझना चाहिये, पर उनका लौकिक अर्थ पाठक के मन पर सहज प्रभाव डालता है। अतः व्यंजना के द्वारा लौकिक पक्ष को दृष्टि से हटा,

पर आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी अर्थ करने से पाठक का मन निरावरण, अकलुष और पवित्र वातावरण में विहार करने लगता है। इस प्रकार का अर्थ सूर के पदों में प्रायः ध्वनि पर अवलम्बित है। कहीं-कहीं प्रतीकों का भी अद्भुत प्रयोग पाया जाता है।

पहले सीधे और स्पष्ट कथन लीजिये। दानलीला के अन्तर्गत, दही बेचने के लिए जाती हुई गोपियों को जब कृष्ण दान देने के लिये रोक लेते हैं, तो गोपियाँ उन्हें अनेक प्रकार के उलाहने देने लगती हैं, उनके माखन चुराने और यशोदा द्वारा उलूखल में बाँधे जाने का उल्लेख करती हैं तथा नन्द और यशोदा की दुहाई देती हैं। कृष्ण कहते हैं: "हमारी कौन माता है? कौन पिता है? तुमने हमें जन्म लेते हुए कब देखा? कब हमने माखन-चोरी की और कब माता ने बाँधा? तुम्हारी बातें सुनकर हँसी लगती है। तुम समझती हो, मैं नन्द का पुत्र हूँ। अच्छा बताओ, नन्द का आगमन कहाँ से हुआ? मैं पूर्ण, अविगत और अविनाशी हूँ। मैंने ही सबको माया में भुला रखा है। मैं भक्तों के लिए अवतार धारण करता हूँ। गर्व की बातें सुनकर मेरा जी जलने लगता है। भक्तों की दीन वाणी सुनकर उनके दुख दूर कर देता हूँ। मैं केवल भाव के आधीन हूँ। जहाँ भाव है, वहाँ से मैं कभी दूर नहीं होता।" १०।११०१ सूरसागर (ना०प्र०स० २१३८, २१४०)।

यहाँ कृष्ण स्पष्ट रूप से अपने को परमात्मा कहते हैं। दान लीला के शृङ्गारी पदों को सूर ने दृष्टकूट का रूप इस प्रकार दिया है:—

लैहों दान इनन को तुमसों।
मत्त गयंद हंस तुम सोहैं, कहा दुरावति हमसीं॥
केहरि कनक कलस अमृत के कैसे दुरैं दुरावति।
विद्रुम हेम वज्र के किनुका नाहिंन हमहिं सुनावति[1] ॥११२६॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २१६७)

इसके आगे ११४३ पद में कृष्ण गोपियों से फिर कहते हैं:—"मैं मिथ्या बातें नहीं जानता। जो मुझे जिस भाव से भजता है, उसको मैं उसी भाव रूप

१—यहाँ मत्त गयन्द गति के लिए, हंस नूपुरों के लिये, केहरी कटि के लिए, कनक कलश स्तनों के लिये, विद्रुम ओष्ठ के लिये, हेम कांति के लिये और वज्र किनुका दाँतों के लिये प्रयुक्त हुये हैं। संयोग शृङ्गार के भी अनेक पद इसी दृष्टकूट शैली में लिखे गये हैं।

में स्वीकार कर लेता हूँ।[1] मैं अन्तर्यामी हूँ। तुमने मुझे मन से अपना पति बनाया है। मैं योगी के सामने योगी रूप में और कामी के सामने कामी रूप में प्रकट होता हूँ। यदि तुमने मुझे झूठा समझा था, तो मेरी प्राप्ति के लिए तप क्यों किया? अब तुम निष्ठुर क्यों हो गई हो, जो दान भी नहीं दिया जाता?"

इसके पश्चात् कृष्ण और गोपी एक दूसरे पर जादू डालने का अभियोग लगाते हैं। कृष्ण कहते हैं:—

मोसों कहा दुरावति नारी।
नयन शयन दै चितहि चुरावति इहै मंत्र टौना सिर डारी॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २२०३)

गोपियाँ इसके उत्तर में कहती हैं:—

अपनों गुण औरनि सिर डारत।
मोहन जोहन मंत्र यंत्र टोना सब तुम पर वारत?
मुरली अधर बजाइ मधुर स्वर तरुनी मृग वन घेरत॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २२०४)

कृष्ण ने कहा:—"तुम्हीं तो क्रोध करके मुझे बुलाती हो, अपने नेत्र रूपी दूत मार्ग में लगा देती हो और मन की तरंग रूपी आज्ञाकारी भृत्यों को बुलाने के लिए भेजती हो।" गोपियाँ यह सुनकर मन में प्रसन्न हो उठीं और आत्म-विस्मृत हो कहने लगीं:—

मन यह कहति देह बिसराये।
यह धन तुमही कों संचि राख्यौ तिहि लीजै सुखपाये॥
जोवन रूप नहीं तुम लायक, तुमको देत लजाति।
ज्यों वारिधि आगे जल कनिका विनय करति एहि भाँति॥
अमृत रस आगे मधु रंचक मनहिं करत अनुमान॥
सूर स्याम सोभा की सीमा को पट तर को आन॥६६॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २२०८)

१—हरि वंश, विष्णु पर्व, ८८, ३२ में भी यही भाव प्रकट हुआ है। पुराणकार कहता है:—

यस्या यस्यास्तु यो भावस्तां तां तेनैव केशवः।
अनुप्रविश्य भावज्ञो निनायात्मवशं वशी॥

सबको अपने वश में करने वाले, भावज्ञ केशव ने जिसका जैसा भाव था, उसमें उसी भाव से प्रवेश करके उसे अपने वशीभूत कर लिया।

"यह शरीररूपी धन तुम्हारे लिये ही संचित कर रखा गया है। इसे सुखपूर्वक ग्रहण करो। यद्यपि हमारा यौवन और रूप आपके योग्य नहीं है, इन्हें आपको समर्पित करते हुये लज्जा भी लगती है, तथापि समुद्र के आगे जल-बिन्दु की भाँति हम आपके सामने विनय करती हैं। अमृत रस के सामने थोड़ा-सा मधु जैसे कोई रख दे, उसी प्रकार आपके सामने इस शरीर-समर्पण की भावना है—ऐसा हम अपने मन में अनुमान करती हैं। आपके सौंदर्य की समता तो कोई कर ही नहीं सकता।"

अन्तर्यामी कृष्ण ने उनकी हृद्गत भावना को समझ लिया और यौवन-दान लेकर सबको सुख प्रदान किया।[1] (७०)

सूर कहते हैं, जिस प्रभु के वश में तीनों लोक हैं, वह आज स्वयं युवतियों के वशीभूत हो रहा है।[2] (७३) शिव जिसका ध्यान करते हैं, शेष-नाग सहस्र मुखों से जिसका यशोगान करता है, वही प्रभु व्रज के अन्दर, प्रकट रूप से, राधा के मन को चुरा रहा है।[3] (७७)

साक्षात् भगवान कृष्ण को व्रजांगनाओं के हाथ से माखन खाते देख-कर गंधर्व भी प्रसन्न हो रहे हैं। सूरदास कहते हैं : "जिनका न कोई रूप है, न कोई रेखा है, न शरीर है, न पिता है, न माता है; जो स्वयं कर्ता, हर्ता, त्रिभुवन-नाथ और घट-घट में व्यापक हैं; जिनके एक रोम में करोड़ों ब्रह्मां[ड] समा जाते हैं; जो विश्वम्भर हैं, वे ही गोपिकाओं से दधि-दान माँग रहे हैं।[4] (८२) जो योग, यज्ञ, तप और ध्यान द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकते, वे गोपिये[ों] के हाथ बिके हुए हैं।"[5] (८७) सूर इसी स्थल पर गोपी, ग्वाल और कृष्ण सबको एक कहते हैं। (८४)[6]

१२२६वें पद में श्रीकृष्ण राधा से कहते हैं कि प्रकृति और पुरु[ष] एक ही हैं, केवल बातों का भेद है।[7] जल और थल जहाँ भी मैं रहता हूँ तुम्हारे साथ ही रहता हूँ, तुमसे पृथक होकर नहीं। हमारे तुम्हारे शरीर द[ो] हैं, पर जीव एक ही है। हम तुम दोनों ही ब्रह्म रूप हैं। राधा इस बा[त] को सुनकर कृष्ण के मुख की ओर देखती हुई आनन्द में मग्न हो गई। राध[ा] ने समझ लिया कि वह प्रकृति है, नारी है और श्रीकृष्ण पुरुष हैं, पति हैं यह कोई नवीन स्नेह नहीं है। यह तो पुरातन, शाश्वत प्रेम है—युग-यु[ग] की लीला है।[8] १२३०वें पद में श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं : "राधा, मेर[ा]

सूरसागर (ना०प्र०स०) १—२२०६, २—२२१२, ३—२२१६ ४—२२२१, ५—२२२६, ६—२२२३, ७—२३०५, ८—२३०६)

बात सुनो। इस पुरातन प्रीति को छिपाकर रखो। मैं और तुम दो नहीं, एक ही हैं।[1]

पद संख्या १५६० में सूर कहते हैं : "जो प्रभु तीनों लोकों का नायक है, सुर और मुनि जिनका अन्त नहीं पाते, शिव जिसका दिन-रात ध्यान करते हैं, सहस्रानन शेष जिसका कीर्तिगान गाते हैं, वही हरि वृषभानु-सुता राधा के वशीभूत हो रहे हैं। राधा के अतिरिक्त उन्हें और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। जैसे छाया शरीर के साथ रहती है, वैसे ही श्रीकृष्ण राधा के साथ रहते हैं।"[2] सूरसागर (ना०प्र०स० २६३८)

"वेद जिनका नेति-नेति कहकर गीत गाते हैं, राधा ने उन्हीं को अपने वश में कर रखा है।"

मुरली-ध्वनि सुनते ही जब गोपिकायें रात्रि के समय श्रीकृष्ण के पास पहुँचीं, तो श्रीकृष्ण ने उन्हें घर लौट जाने और पातिव्रत धर्म पालने की अनेक प्रकार से शिक्षा दी। गोपियों ने कहा : "यह कैसे हो सकता है? घर जाकर हमें क्या प्राप्त होगा? जिस दर्शन-लाभ को हम लूट रही हैं, वह तीनों भुवनों में भी नहीं है। फिर किसका पति, पिता और माता? हमतो केवल आपको ही जानती हैं। और यदि आप शरीर को उधर भेज भी दें, तो मन तो यहीं आपके चरणों में लिपटा रह जायगा। इन्द्रियाँ मन के पीछे ही चलती हैं। अतः वे भी यहीं रहेंगी।"

श्रीकृष्ण ने कहा : "तुम्हारा प्रेम सच्चा है। लोक-लज्जा की मर्यादा को तुमने मेरे कारण तृण से भी तुच्छ समझा है। तुम्हारे हृदय में कपट नहीं है। तुमने मुझे अच्छी तरह जान लिया है। ब्रजबालाओ, तुम धन्य हो। तुम्हारे अन्दर कच्चापन नहीं रहा। धन्य है तुम्हारा दृढ़ नियम! तुमने जिस कारण तप किया है, उसका फल रास-रस रचकर मैं तुम्हें अभी देता हूँ।[3] (१०,१७२१)
सूरसागर (ना०प्र०स० १६५३)

सूर कहते हैं : "कृपालु केशव प्रेम के वशीभूत हैं। वे सबके भाव को जान लेते हैं।"

रासक्रीड़ा प्रारम्भ हुई। सब मिलकर परस्पर हास-रहस में निमग्न हो गये। सुर-ललनायें इस आनन्द-क्रीड़ा को देखकर कहने लगीं : "विधि ने हमें ब्रजांगना क्यों न बनाया? अमरपुर में रहने से हमें क्या लाभ हुआ? हरि

सूरसागर (ना०प्र०स०)१—२३०६, २—२३६८, ३—१६५६,

के साथ जो सुख प्राप्त होता है, वही श्रेष्ठ है। यदि दूसरा जन्म हो, तो विधि हमें वृन्दवन के द्रुम, लता आदि ही बनादे।"[1] [१०-१७३२]

इसके आगे पद ४१ में सूर ने राधा को भी स्पष्ट रूप से शेष, महेश आदि की स्वामिनी, जगनायक जगदीश की प्यारी और जगजननी लिख दिया है, जिसकी राजधानी वृन्दावन में है।

ये तो स्पष्ट रूप से अध्यात्म कथन हैं। अब हम व्यंजना-परक पदों पर विचार करेंगे। ध्वनि, प्रतीक, व्यंजना आदि पर अवलम्बित आध्यात्मिक कथन भी सूरसागर में भरे पड़े हैं। आचार्य वल्लभ ने भागवत दशम स्कन्ध के सुबोधिनी भाष्य में इस विषय के अनेक संकेत किये हैं। सूरदास आचार्य वल्लभ के शिष्य थे। आचार्य की कृपा से ही उन्हें श्रीमद्भागवत की हरिलीला सम्पूर्ण रूप में स्फुरित हो गई थी। अतः सूरसागर में भी इस प्रकार के आध्यात्मिक संकेत अनेक स्थानों पर हैं। दान-लीला के अन्तर्गत गोपियाँ एक दूसरी से कहती हैं:—

सुनहु सखी, मोहन कहा कीन्हों।
एक एक सों कहति बात यह दान लियो की मन हरि लीन्हों॥
यह तो नाहिं बदी हम तिनसों बूझहु धौं यह बात।
चकृत भई विचार करत यह बिसरि गई सुधि गात॥
उभचि जाति तबहीं सब सकुचति बहुरि मगन ह्वै जाति।
सूर स्याम सों कहौं कहा यह कहत न बनत लजाति॥१०-११६०

सूरसागर (ना०प्र०स० २२२६)

गोपियाँ सोचती हैं, दधि-दान के साथ यह मन उधर कैसे चला गया? इसका तो हमें स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। गोपियाँ, इस कारण, कुछ संकोच में भी पड़ती हैं, पर फिर प्रसन्न हो उठती हैं। आध्यात्मिक पक्ष में वाह्य समर्पण के साथ शारीरिक प्रसाधन एवं वैभव का ही त्याग नहीं होता, उसके साथ मन आदि आन्तरिक शक्तियाँ भी ब्रह्मोन्मुख हो जाती हैं। वाह्य त्याग अन्तरंग को भी प्रभावित करता है। यही है दधि-दान के साथ मन का कृष्ण की ओर आकर्षित हो जाना।

दानलीला में गोपियों का मन कृष्ण में अनुरक्त हो गया। वे स्याम-रस छक कर मतवाली हो गईं। यह प्रेम-भाव का प्राथमिक प्रकाश था। अतः खुमारी का आना, नशे का चढ़ना, स्वाभाविक था। गो-रस देने के लिये अब वे उतावली हो रही थीं। सूर लिखते हैं:—

१—सूरसागर (ना०प्र०स० १६६४),

तरुणी स्याम रस मतवारि ।
प्रथम जोवन रस चढ़ायौ अतिहिं भई खुमारि ॥
दूध नहिं, दधि नहीं, माखन नहीं, रीतो माट ।
महारस अंग अंग पूरण, कहाँ घर कहँ वाट ॥६६॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २२४२)

मटका रीता है। उसमें न दूध है, न दही है और न माखन। पर गोपियाँ समझती हैं, उनके पास सब कुछ है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण था, उनके अंग-अंग में श्याम रस, महारस का ओत-प्रोत होना। यहाँ मटके का दूध से रिक्त होना संसारी वैभव से विरक्ति का द्योतक है। यह मटका (अध्यात्म पक्ष में शरीर) बाहर से खाली, पर अन्दर से भरा हुआ था। भगवत्प्रेम का महारस उनके अंग-अंग में परिपूर्ण हो रहा था।

गोपियाँ लोक का सकोच और कुल की मर्यादा का परित्याग करके श्याम-अनुराग में मग्न हो गईं। माता-पिता ने डाँटा, फटकारा, त्रास दिखाया, पर वे न लज्जित हुईं, न भयभीत। सूर कहते हैं:—

लोक सकुच कुल कानि तजी ।
जैसे नदी सिंधु कों धावै तैसे स्याम भजी ॥
मात पिता बहु त्रास दिखायो, नेंक न डरी लजी ।
हार मानि बैठे नहिं लागति बहुतै बुद्धि सजी ॥
मानत नहीं लोक मर्यादा हरि के रंग मँजी ।
सूर स्याम कों मिलि चूने हरदी ज्यों रंग रँजी ॥७३॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २२४६)

जैसे नदी समुद्र की ओर जाती है, वैसे ही गोपिकायें कृष्ण की ओर प्रवणायित हो गईं। जैसे चूना और हल्दी दोनों का रंग मिलकर एक हो जाता है, वैसे ही गोपिकायें कृष्ण के साथ अनुराग-राग से रंजित होकर एक हो गईं। यह है रागानुगा भक्ति का परिणाम जिसमें विधि-निषेध आदि मर्यादा के सभी अनुष्ठान नष्ट हो जाते हैं। लौकिक, वैदिक आदि विधानों में से कोई भी विधान साथ नहीं रहता। परिमिति के पाश छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मर्यादा भंग हो जाती है और भक्त भगवान में तन्मय हो उठता है।

मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों में आँख और कान दो ही प्रधान हैं। आँख रूप से और कान स्वर से आकर्षित होते हैं। कृष्ण के पास रूप-माधुरी और स्वर-सौष्ठव दोनों अपरिमित मात्रा में थे। अध्यात्म पक्ष की ओर दृष्टि ले जाइये,

तो विश्ववपु परब्रह्म अनन्त सौन्दर्य का स्रोत है ही। गोपिकाओं के नेत्र और श्रवण दोनों श्रीकृष्ण के इन द्विविध सुषमा-पाश में आबद्ध हो गये। सूर के शब्दों में "नयन जहाँ दरसन हरि अटके, श्रवण थके सुनि बचन सुहाई।" पर भगवान का वह अपार सौन्दर्य भक्त (जीव) की इन परिमित शक्तिवाली इन्द्रियों से कैसे ग्राह्य हो सकता है? अतः गोपियाँ अनुभव करती हैं: "विधि भाजन ओछो रच्यौ सोभा सिन्धु अपार।[1] हाँ, बूँद सिंधु में अपने को डुबा सकती है, गोपियाँ भी कृष्ण के शोभा-सिंधु में मग्न हो गईं। मोहन के मनोहर मुख-मण्डल को देखकर आँखें और मुरली की रसीली स्वर-लहरी को सुन कर कान भगवान के प्रति उन्मुख ही नहीं हुए, उनमें समा भी गये। सूर ने रूप का तो अप्रतिम चित्रण किया ही है, मुरली-राग का भी अलौकिक प्रभाव उनकी रचनाओं में वर्णित हुआ है। प्राकृतिक सौंदर्य ने सूफियों को प्रेम-रूप प्रभु की ओर आकर्षित किया था। सूर भी प्रकृति की इस रूप-राशि के चित्रण से पराङ्मुख नहीं हैं। पर उन्होंने प्राकृतिक सौंदर्य को भी उस पुरुष विशेष, पुरुषोत्तम के अनन्त सौंदर्य का वाह्य रूप ही समझा है और पुरुष-सौंदर्य के चित्रण में इस बात का पर्याप्त आभास दे दिया है कि वह प्राकृतिक सुषमा से कहीं आगे जा सकता है।

रूपराशि मोहन के सामीप्य की कामना करती हुई एक गोपी कहती है:—

> कैसे रह्यौ परै री सजनी एक गाँव को बास।
> स्याम मिलन की प्रीति सखी री जानत सूरजदास ॥१०।१२०४
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० २२८२)

> एक गाँव को वास, धीरज कैसे कै धरों।
> लोचन मधुप अटक नहिं मानत, यद्यपि जतन करों ॥१०।१२०५
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० २२८३)

कृष्ण कहीं दूर होते, तो संभव है, गोपियों की आँखें निवारण-आज्ञा को मान भी जातीं। पर यह तो एक ग्राम का रहना है, अतः कृष्ण को बिना देखे धैर्य कैसे धारण किया जाय? एक ग्राम के वास में जीव और ईश्वर के एक ही स्थान में रहने की व्यंजना भी ध्यान देने योग्य है। वेद ने दोनों को एक ही वृक्ष पर बैठा हुआ कहा है। एक ही स्थान के निवासी, दोनों एक दूसरे के सामने, अत्यन्त समीप—पर समीप रहते हुये भी कितने दूर!! शुद्ध जीव

१—सूरसागर ना०प्र०स०२२५८

(गोपिकायें) इसी दूरी को दूर कर भगवान (कृष्ण) के सामीप्य-लाभ के लिये अधीर हो जाते हैं।

गोपियाँ कृष्ण के रूप को देखने के लिए आगे बढ़ती तो हैं, पर उस रूप की सम्पूर्णता को आत्मसात नहीं कर पातीं। नेत्रों के पलक बिना बन्द किये वे दिनरात कृष्ण के साथ ही साथ घूमा करती हैं। उनकी दृष्टि कृष्ण के साथ वैसी ही बँधी रहती है, जैसे पतंग के साथ रस्सी, पर कृष्ण का सामीप्य प्राप्त करते ही, कृष्ण और गोपियों के बीच में शरीर का भारी व्यवधान खड़ा हो जाता है। अपना शरीर ही अपना शत्रु बन जाता है और कृष्ण को नख से शिखा तक (सम्पूर्ण रूप में) नहीं देखने देता।[1]

इस कथन पर चाहे स्वभावोक्ति से दृष्टि डालिये और चाहे ध्वनि का प्रयोग कीजिये (क्योंकि नेत्रों के निमेष और नख-शिख शब्द अध्यात्म-पक्ष में स्वाभावोक्ति के पथ को थोड़ा-सा अवरुद्ध कर देंगे), प्रत्येक प्रकार से जीव और ईश्वर के स्वरूपगत भेद की सुन्दर व्यंजना होती हुई दिखलाई देगी। प्रभु को परिपूर्ण रूप से समझ लेना जीव की स्वल्प शक्ति की सीमा के बाहर की बात है। ईश्वर की पूर्ण अनुभूति जीव को हो ही नहीं सकती। इस अनुभूति में मुख्य बाधक उसका शरीर है, प्रकृति है, माया है या अहंकार है। सूर ने कई स्थानों पर इस तथ्य का उद्घाटन किया है। जैसेः—

मो ते यह अपराध पर्‍यौ।
आये स्याम द्वार भये ठाढ़े, मैं अपने जिय गर्व धर्‍यौ।
जानि बूझि मैं यह कृत कीन्हों, सो मेरे ही सीस पर्‍यौ १०।१६६८

सूरसागर (ना०प्र०स० २७१६)

मैं अपने मन गर्व बढ़ायौ।
इहै कह्यौ पिय कंध चढ़ौंगी, तब मैं भेद न पायो ॥१०।१८०२॥

सूरसागर (ना० प्र० स० १७२८)

१—कहा करौं नीके करि हरि को रूप देखि नहिं पावति।
संगहि संग फिरत निशिवासर नैन निमेष न लावति॥
बँधी दृष्टि ज्यों डोर गुडीवश पाछे लागी धावति।
निकट भये मेरी ये छाया मोकों दुख उपजावति॥
नख सिख निरखि निहारयौइ चाहति मन मूरति अति भावति।
अपनी देह आपको बैरिनि दुरति न दुरी दुरावति॥
सूर स्याम सों प्रीति निरन्तर अन्तर मोहि करावति॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २४७१)

श्याम आते हैं, पर जीव के अन्दर निहित या उसके ऊपर आवरण रूप में पड़ा हुआ अहंकार उसे प्रभु की ओर बढ़ने से रोक लेता है। प्रभु की झलक सामने आकर ही रह जाती है, जीव उसे आत्मसात नहीं कर पाता। इस प्रकार प्रभु का कुछ ज्ञान तो जीव को होता ही है; पर उसका संपूर्ण ज्ञान अहंकार के कारण नहीं हो पाता। अहंकार के दूर होने पर आत्मा निर्मल हो जाती है और उस समय वह प्रभु में अपने स्वरूप को ही मग्न कर देती है, अतः उस अवस्था में सम्पूर्ण अनुभूति की चर्चा उठ ही नहीं सकती। अतः प्रभु ज्ञात और अज्ञात दोनों ही प्रकार का रहता है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने इसी हेतु लिखा है: "God is both-revealed as well as concealed" प्रभु व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकार का है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार प्रभु की करुणा का द्वार तो भक्त के लिये सदैव उन्मुक्त है, पर जीव के अपने कर्म ही उसे उसमें प्रवेश करने से वंचित कर देते हैं। इस भाव की व्यंजना सूर के नीचे लिखे पद से हो रही है:—

उनको यह अपराध नहीं।
वे आवत हैं नीके मेरे, मैं ही गर्व कियो तिनही ॥१०।१६७५॥
सूरसागर (ना० प्र० स० २७२३)

ऊपर उद्धृत दोनों पदों से भी यही भाव टपकता है। जब जीव को अपनी यह भूल विदित हो जाती है, तब वह सूर की गोपी के रूप में पश्चात्ताप से भरा हुआ इस प्रकार रुदन करने लगता है:—

चूक परी मोते मैं जानी, मिले स्याम वकसाऊँरी।
हा हा करि दसननि तृण धरि धरि लोचन जलनि ढराऊँरी॥
चरण गहों गाढ़े करि कर सों, पुनि पुनि सीस छुवाऊँरी।
मिलों धाय अकुलाय भुजनिभरि उर की तपनि जनाऊँरी॥
सूरसागर (ना० प्र० स० २७२१)

इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि में पिघल कर जब हृदय आँखों के द्वारा बहने लगता है, तो उसके साथ ही गर्वरूपी समस्त कल्मष भी बह जाता है। इसी अवस्था में जीव निम्नांकित पद में समाविष्ट सूर की गोपी के उद्गारों में प्रभु-मिलन की अपनी उत्कट भावना को प्रकट करने लगता है:—

अरी मोहि पिव भावै। को ऐसी जो आनि मिलावै॥

× × × ×

नेक दृष्टि भर चितवें, मो विरहिन को माई, काम द्वन्द्व
विरह तपनि तनु ते बुझावें ॥१०।१६७७॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २७२५)

इस उत्कट आकांक्षा के जाग्रत होते ही प्रभु किसी न किसी दैवी दूत को उसके पास भेज ही देते हैं। सूर की अपनी अनुभूति ही इसका साक्ष्य उपस्थित कर रही है।

प्रभु-प्राप्ति, जीव और ईश्वर मिलन की अवस्था को सूर ने रासलीला के रम्य रूपक द्वारा अभिव्यंजित किया है। आत्मा में परमात्मा और परमात्मा में आत्मा की व्याप्ति का चित्र सूर के इस पद में अंकित हुआ है:—

"मानों माई घन घन अन्तरदामिनि। घन दामिनि, दामिनि
घन अन्तर, सोभित हरि ब्रज भामिनि" ॥१०।१७३४॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १६६६)

विद्युत में बादल और बादल में विद्युत की भाँति हरि में गोपी और गोपी में हरि की स्थिति जीव में ईश्वर की व्याप्ति को ही प्रकट करती है।

प्रिया मुख देखौ स्याम निहारि।
कहि न जाइ आनन की सोभा रही विचारि विचारि ॥
छीरोदक घूँघट हातौ करि सम्मुख दियौ उघारि।
मनों सुधाकर दुग्ध सिंधु ते कढ्यौ कलंक पखारि ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २७३६)

सूर के इस पद में निहित प्रतीकों और उनसे अभिव्यक्त भावों की व्याख्या चीर-हरण लीला प्रकरण में हो चुकी है।

रासलीला में गोपियों को कृष्ण-सामीप्य रूपी अपने व्रत-साफल्य की पूर्णता प्राप्त हो जाती है। सूर के ही शब्दों में:—

जा फल को ब्रजनारि कियो व्रत सो फल पूरण पायो।
मन कामना भई परिपूरण सब हित मान मनायो॥
अतिहि सुघर पिय को मन मोह्यो अपवश करति रिझावति।
सूर स्याम मोहन मूरति को बार बार उर लावति ॥१०।१७७१।

सूरसागर (ना०प्र०स० १७६२)

रासलीला के रस का वर्णन, सूर के अपने ही शब्दों में अवर्णनीय है। यह भावसाध्य है।

प्रेम का आदर्श:—[illegible]

[illegible]:—

राधेहि निमिष प्रतीति न आवति।
यद्यपि नाथ त्रिभुवन विलोकति सुन्दर को सुख पावति॥
भरि भरि लोचन रूप परम निधि उर में आनि दुरावति।

सूरसागर (ना०प्र०स० २७८१)

राधा को कृष्ण-मिलन में भी विश्राम नहीं है। वह बार-बार कृष्ण के मुखारविन्द की ओर देखती है, दर्शन का सुख प्राप्त करती है, सौंदर्य की उस परम निधि को नेत्रों में भरकर हृदय की कोठरी में ले जाती है और वहाँ छिपा कर रखती है, पर उसकी अभिलषित निधि की [illegible] से व्याकुलित हो उठती है। इसकी हार्दिक आकांक्षा यह है कि प्रेम का यह रूप सतत, निरन्तर, बिना किसी विघ्न बाधा के, उधर, प्रभु की ओर, ही लगा रहे।[1]

खंडिता नायिका के वर्णन में भी सूर ने प्रेम के इसी आदर्श रूप को ध्यान में रखा है। श्रीकृष्ण कभी चन्द्रा, कभी ललिता, कभी शीला और कभी किसी अन्य गोपी से उसके घर संध्या समय आने के लिए कह आते हैं, पर नहीं जाते हैं दूसरी गोपी के पास। जिससे कह आते हैं, वह बेचारी संध्या समय से ही प्रतीक्षा कर रही है। सुगंधित सुमनों से शैया को सजा रही है। बाट जोहते-जोहते और गगन के तारे गिनते-गिनते सारी रात्रि व्यतीत हो जाती है, पर कृष्ण नहीं आते। बहुनायक कृष्ण के लिए यह खेल है, पर गोपी के लिए, भक्त के लिए, यह अनवरत रुदन का कारण है। प्रेम को इस प्रकार सतत अतृप्त रखकर सूर ने उसके बराबर बने रहने का साधन जुटा दिया है। सूर ने प्रेम के इस आदर्श को प्रकट करने वाले कुछ दोहे प्रथम स्कंध में लिखे हैं। उनमें से दो दोहे हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

सुनि परिमिति प्रिय प्रेम की, चातक चितवत पारि।
घन आशा सब दुख सहै, अनत न याँचै बारि॥
मीन वियोग न सहि सकै, नीर न पूछै बात।
देखि जु तू ताकी गतिहि, रति न घटै तनु जात॥१।२०५

सूरसागर (ना०प्र०स० ३२५)

तुलसी ने भी प्रेम का यही आदर्श निश्चित किया है। उनका नीचे लिखा दोहा इस विषय में अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

१—ब्रह्मसूत्र ३-४-५१ के अणुभाष्य, पृष्ठ १२५१ पर आचार्य वल्लभ लिखते हैं:—
एवं सति मुक्ति पर्यन्त साधनम् भगवद्भाव इति निर्णयः सम्पन्नः।

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि ।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटेगी आनि ॥

प्रेम का केन्द्र—सूर ने राधा तथा अन्य गोपियों के प्रेम का केन्द्र एक कृष्ण को ही रक्खा है। एकनिष्ठ प्रेम ही वास्तविक प्रेम होता है। गोपियों ने अपना मन सबसे हटाकर उस कृष्ण में केन्द्रित कर दिया है। एक गोपी कहती है:—

मैं अपनों मन हरि सों जोर्‌यों ।
हरि सों जोरि सबनि सों तोर्‌यों ॥ १०।१२०१

गोपियाँ श्याम को ही अपना सर्वस्व समझती हैं। उनका तन, मन, धन—सब कुछ श्याम पर ही न्यौछावर है। श्याम को छोड़ कर उनका मन अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता। सूर लिखते हैं:—

राधा नंदनंदन अनुरागी ।
भय चिन्ता हिरदै नहिं एकौ स्यामरंग रस पागी ॥
हरद चून रंग, पय पानी ज्यों दुविधा दुहुं की भागी ।
तन मन प्राण समर्पण कीनों अंग अंग रति खागी ॥१०।१४८६

सूरसागर (ना०प्र०स० २५२७)

गोपी स्याम रंग राँची ।
देह गेह सुधि बिसारि बढ़ी प्रीति साँची ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २५२८)

स्यामरंग राँची ब्रजनारी । और रंग सब दीन्हे डारी ॥
कुसुम रंग गुरुजन पितु माता । हरित रंग भैनी अरुभ्राता ॥
दिना चारि में सब मिटि जैहैं । स्यामरंग अजरायल रैहैं ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २५३०)

जैसे हल्दी और चूने का रंग मिलकर एक हो जाता है, दूध और पानी मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही गोपियाँ और कृष्ण मिलकर एक हो गये। ब्रजनारियों ने अन्य समस्त रंगों का परित्याग करके एक श्यामरंग में अपने को अनुरक्त कर लिया। अन्य रंग तो दो-चार दिन ही ठहरने वाले हैं। एक श्याम रंग ही पक्का है, अजर-अमर है। सूर लिखते हैं, यह श्यामरंग गोपियों के अंग-अंग में भिद गया। उनकी आँखों में, हृदय में, मन में, तन में, रसना में, स्मृति में, बुद्धि में और वन तथा गृह सर्वत्र श्याम ही रमण करने लगा। उन्होंने कंचन-खंभ में कंचन की डोर से कन्हैया को बाँध रखा

है । इसमें का रंग लाल होता है । अनुराग का रंग भी लाल होता है, अतः यह प्रेम और अनुराग के ही हैं । इस सागर में प्रेम की डोर से ही पकड़ा जाता है । गोपियों ने अपने श्याम को इसी प्रेम के पाश में बांध रखा है ।

ब्रह्म एक है, जीव अनेक हैं । भगवान एक है, भक्त अनेक हैं । इसी प्रकार कृष्ण एक है, गोपियाँ अनेक हैं । शृङ्गार के पक्ष में नायक एक है, नायिकाएँ अनेक हैं । इसी कारण सूर की गोपी कहती है:—

'सूर श्याम प्रभु वे बहुनायक, मो सी उनके कोटि त्रियो ॥१०॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २६८४)

यह अनेकता भी तो एकता में मग्न होती है । यही इस विचित्रमयी सृष्टि का प्रयोजन है ।

गोपियों में राधा की प्रधानता—कृष्ण वैसे तो सभी गोपियों से प्रेम करते हैं, पर उनका सर्वाधिक प्रेम राधा से ही है । सूर जब संयोग शृङ्गार का वर्णन करता है, तो श्यामा श्याम को ही अपनी दृष्टि में रखता है । कुंजगृह में उन्हीं के लिये कुसुम शैया तैयार की जाती है । ललिता राधा की अन्तरंग सखी है, चन्द्रावली से भी उनके अधिक निकट । पर श्याम के साथ श्यामा की पदवी वह भी प्राप्त नहीं कर सकती ।

राधा का प्रेम कृष्ण के साथ उसी प्रकार का है, जैसा चकोर का चन्द्र के साथ । उस रतिनागर की ओर जब-जब राधा की दृष्टि जाती है, तो मुख-मंडल की आभा उसके नेत्रों में विंध-सी जाती है । और कृष्ण ? वे भी राधा की अनिंद्य छवि पर आसक्त हैं । कृष्ण के चित्त से वह क्षण भर के लिए भी नहीं हटती । सूर ने राधा और कृष्ण दोनों को एक दूसरे की ओर आकृष्ट करके उनके अन्योन्य प्रेम का अद्भुत वर्णन किया है । सूर लिखते हैं:—

चितै रही राधा हरि को मुख ।
भृकुटी विकट विसाल नयन युग देखत मनहिं भयो रतिपति दुख ॥
उतहिं स्याम एकटक प्यारी छवि अंग अंग अवलोकत ।
रीझि रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोंकत ॥१०।१३०२
सूरसागर (ना०प्र०स० २३८३)

राधा ने हरि के मुख को देखा, तो उसकी दृष्टि वहीं स्थिर हो गई । उसकी तिरछी भौंहें और बड़े-बड़े नेत्रों को देखकर कामदेव का मन भी दुखी हो गया । उधर श्याम भी टकटकी लगाकर राधा के अंग-अंग की अनुपम

छवि का दर्शन-सुख लूट रहे थे। इधर हरि राधा पर रीझे हुए थे, तो उधर राधा हरि पर। परन्तु अरस-परस को दोनों ही छिपा रहे थे, क्योंकि दोनों ओर कुछ सखियाँ और सखा भी तो खड़े थे।

राधा कृष्ण को देखकर आत्म-विस्मृत हो जाती है। नन्दनन्दन के अनूप रूप के सामने आते ही उसकी बुद्धि की गति लड़खड़ाने लगती है। कुछ सखियों का संकोच, फिर अपनी हानि का अनुभव, दोनों के कारण वह सुध-बुध भूली-सी खड़ी रहती है, पर राधा श्याम के रंग में रँग चुकी है, श्याम उसके रोम-रोम में, अंग-अंग में भिद चुके हैं, इस तथ्य को गोपियों ने अनुभव कर लिया। वे आपस में कहने लगीं:—

सखियन इहै विचार पर्यो।
राधा कान्ह एक भये दोऊ हमसों गोप कर्यो ॥१०।१२५९

सूरसागर (ना०प्र०स० २३३८)

राधा और कृष्ण दोनों मिलकर एक हो गये हैं। कहाँ तो राधा श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में सखियों से पूँछताछ ही करती थी, उनसे पहिचान तक नहीं थी, पर आज यह दशा है कि वे सखियाँ कहीं की न रहीं, राधा और कृष्ण एक दूसरे के लिये सब कुछ हो गये। अनुराग समय के पदों में गोपियाँ कहती हैं:—

पुनि पुनि कहति है ब्रजनारि।
धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरिधारि॥
धन्य नन्दकुमार धनि तुम धन्य तेरी प्रीति।
धन्य तुम दोऊ नवल जोरी कोक कलानि जीति॥
हम विमुख तुम कृष्ण संगिनी प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित दुहुनि एक सनेह॥
एक छिनु बिनु तुमहि देखे स्याम धरत न धीर।
मुरलि में तुम नाम पुनि पुनि कहत हैं बलबीर॥
स्याम मणि में परखि लीन्हों महा चतुर सुजान।
सूर प्रभु के प्रेम ही बस कौन तो सरि आन ॥१०।१४२०

सूरसागर (ना०प्र०स० २४६०)

राधा! तू बड़भागिनी है! तू धन्य है!! गिरिधर आज तेरे ही वश में है! तेरा प्रेम धन्य है। नंद कुमार भी धन्य हैं। तुम दोनों की अभिनव जोड़ी धन्य है। तुम दोनों कोक कलाओं में व्युत्पन्न हो। प्रेम-प्रणाली पर तुम्हीं ने विजय प्राप्त की है। हम तो विमुख ही रहीं, पर तुम कृष्ण की संगिनी बन

गई । जो अलग होते हुए भी एक दोनों एक प्राण हो । दोनों के समान मन, समान बुद्धि, समान चित्त (समानं मनः सह चित्तमेषाम्) और समान प्रेम । श्याम भी एक क्षण के लिए मुझे बिना देखे नहीं रह सकते । बन्सी की ध्वनि में श्रीकृष्ण [illegible] ही गाते थे । [illegible] है । [illegible] श्याम से कोई अलग नहीं है, क्योंकि तुम प्रभु के प्रेम को प्राप्त कर चुकी हो ।

राधा जैसी भक्त का यह अनन्य प्रेम उसे अन्य भगवत्-प्रेमिका गोपियों में प्रधान पद का अधिकारी बना देता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? गीता के शब्दों में जो एक मन, एक बुद्धि, एक निष्ठ होकर प्रभु-परायण बन जाता है, वह प्रभु का हो जाता है और प्रभु उसके हो जाते हैं ।[1] पुष्टि-मार्गीय भक्ति में इस भाव की प्रधानता है । राधिका नायिका आदि के पद सूरसागर में इसी विशिष्ट भावना के द्योतक हैं ।

जिस साधक ने प्रभु का साक्षात् कर लिया, भगवान का सामीप्य और सादृश्य प्राप्त कर लिया, वह भक्तों के शब्दों में पतिव्रता, पति-परायणा स्त्री के समान हो गया, जो अनन्य और एकनिष्ठ है । जो साधक अभी विषयवासनाओं में फँसा है, वह पतिव्रता की समकक्षता में कैसे आ सकता है ? वह तो उस दुराचारिणी, कुलटा कामिनी के सदृश है, जो अपने पति को छोड़ कर अन्य जनों से प्रेम करती है । गोपियाँ इसीलिए राधा से कहती हैं : "श्याम को एक नुही जान्यों दुरावनी और" धनी अपने धन को छिपाकर रखता है, उसे प्रकट नहीं करता, इसी प्रकार जिसे प्रभु प्राप्त हो गया, वह उसे दूसरों को कैसे बताये ? बताने की शक्ति रह गई हो, तब न ? गोपियों के ही शब्दों में "धनी धन कबहुँ न प्रकटै धरै धनहि छिपाइ । तैं महानग स्याम पायो प्रकटि कैसे जाय ।" जब साधारण धन को गुप्त रखा जाता है, तो श्याम तो महा नग हैं, प्रभु तो अमूल्य रत्न हैं,[2] उन्हें तो मन भी नहीं, साक्षात आत्मा के अन्तरतम

१—तद् बुद्धयस्तदात्मानः तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्य पुनरावृत्तिं ज्ञान निर्धूत कल्मषाः ॥५।१७

२—वेद कहता है:—

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय न शताय शतामघ ॥ऋ० ८।१।५॥

हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! मैं तुझे बड़े से बड़े मूल्य पर भी न बेचूँ । हे अनमोल प्रभु ! मैं तुझे सहस्रों, करोड़ों के बदले में भी किसी को न दूँ ।

कोने में छिपाकर रखना चाहिए।[1] वहीं पर वह रह सकता है और वहीं पर वह रहता भी है।

राधा श्याम की सर्वाधिक प्यारी बन गईं, क्योंकि श्याम को वही सुचारु रूप से पहिचान सकी थी। वही उनकी झलक, उनकी कान्ति, उनकी ज्योति को भलीभाँति हृदयंगम कर सकी थी। उसके सच्चे प्रेम को जानकर भगवान भी उसके हाथों बिक गये। सूर के शब्दों में "हृदय ते कहुँ टरत नाहीं कियो निहचल वास।" भगवान अपने भक्त के हृदय में अविचल भाव से निवास करने लगे।

सूर ने इस भाव को कई पदों में कई प्रकार से प्रकट किया है। पुष्टि-मार्गीय विशेषताओं को उन्होंने अत्यन्त निकटता से पहिचाना है और उसी रूप में उनका वर्णन भी किया है। आचार्य वल्लभ और गोस्वामी विट्ठलनाथ के सर्वाधिक निकट वे थे भी।

सूर ने राधा-कृष्ण के अनन्य प्रेम का अन्योन्य रूप में जहाँ वर्णन किया है, वहाँ संयोग के साथ वियोग-भावना के अनुभव को भी दोनों में समान रूप से प्रदर्शित किया है। राधा यदि श्याम की प्रेमिका है, तो हरि भी राधा के प्रेमी हैं। कृष्ण के शरीर में राधा का निवास है, तो राधा के शरीर में कृष्ण का। राधा हरि के नेत्रों में बसी है, तो हरि राधा के नेत्रों में। इसी प्रकार राधा यदि हरि-मिलन के लिये आकुल होती है, तो हरि भी राधा-विरह से व्याकुल हो उठते हैं। सूर ने लिखा है:—

> स्याम अति राधा विरह भरे।
> कबहूँ सदन कबहुँ आँगन ही कबहूँ पौरि खरे ॥१०।१५५४
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० २५६७)

राधा-विरह से व्यथित, राधा-मिलन के लिए आतुर श्रीकृष्ण कभी घर में टहलते हैं, कभी आँगन में और कभी ड्योढ़ी पर जाकर खड़े हो जाते हैं। मन की भ्रमित दशा के साथ शरीर की चलायमान अवस्था का सूर ने कैसा सुन्दर चित्र खींचा है।

मानवती राधा का मान भंग करने के लिये और स्वयं अपनी विरह व्यथा की शान्ति के लिये श्रीकृष्ण राधा से कहते हैं:—

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ३-४-४६ के भाष्य में पृष्ठ १२४७ पर भगवद्भाव की गोपनीयता के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं:—भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वात् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद् भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत्।

कहा भई मनि बावरी कहि तुमहिं सुनाऊँ ।
तुमते को है भावती जेहि हृदय बसाऊँ ॥
तुमहिं श्रवण तुम नैन हौ तुम प्रान अधारा ।
वृथा क्रोध त्रिय क्यों करौ कहि बारम्बारा ॥
भुज गहि ताहि बतावहु जो हृदय बतावति ।
सूरज प्रभु कहैं नागरी तुमते को भावति ॥१०।२८६८॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३०३५)

यह पद खंडिता नायिका के भी अन्तर्गत आ सकता है । मानवती राधा को समझाते हुए श्रीकृष्ण राधा के प्रति अपने अनन्य प्रेम-भाव की दुहाई देते हैं और कहते हैं कि राधा ही उनके प्राणों का आधार है । राधा से बढ़ कर प्यारी तो उनके लिये अन्य कोई भी नहीं है । राधा के अतिरिक्त वे अन्य किसी को भी अपने हृदय में स्थान नहीं देते । फिर यह मान कैसा ? क्रोध कैसा ?

भावना-क्षेत्र में भक्त भी अपने प्रभु से रूठ सकता है, वैसे ही जैसे पुत्र माँ से और पत्नी पति से रूठती है । पर, भगवान बड़े दयालु हैं, उनकी कृपा का कोष जब दूसरे साधकों तथा असाधकों के लिये भी खुला रहता है, तो अपने निकटस्थ, हृदयस्थ, सखस्थ भक्तों के लिये वह कैसे बन्द हो सकता है ! माँ जैसे अपने रूठे हुये बालक को मनाती है, रोते हुए पुत्र को उठाकर गोद में ले लेती है, उसी प्रकार भगवान अपने भक्त की साध पूरी करते हैं, उसकी अभिलाषा को सफल बनाते हैं ।

मर्यादा-भंग और स्वच्छन्द प्रेम—रागानुगा भक्ति की कल्लोलिनी मर्यादा के कगारों में बँधकर नहीं चलती । वह उन्हें तोड़ती फोड़ती हुई अपनी उद्दाम धारा को स्वच्छन्द गति से आगे ले जाती है । पुष्टिमार्गीय भक्ति में यद्यपि साधना की प्रारम्भिक अवस्था में मर्यादा आवश्यक मानी गई है, परन्तु अन्त में उसका त्याग ही श्रेयस्कर समझा गया है । आचार्य वल्लभ के शब्दों में मर्यादा में कृष्ण की अधीनता रहती है, परन्तु पुष्टिपथ पर आरूढ़ होकर साधक इस बन्धन को भी तोड़ देता है । कृष्ण से उसका स्वच्छन्द, असमर्यादित प्रेम-सम्बन्ध हो जाता है । इसी को स्वतन्त्र और व्रजभाव की भक्ति कहते हैं । सूर की गोपियाँ इसी स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, पुष्टिपथ की पथिक हैं । वे उन्मुक्त कंठ से कहती हैं : "आरज पन्थ चले कहा सरिहै स्यामहि संग फिरौं री ।" आर्यपथ अन्योन्य पराधीनता का पथ है, मर्यादा का मार्ग है । इस पथ पर चलते हुये मानव को दूसरों का भी ध्यान रखना पड़ता है । प्रत्येक हितकारी

नियम के पालन में तो सब स्वतन्त्र हैं, परन्तु सामाजिक सर्व हितकारी नियमों के पालन में सबको परतन्त्र रहकर कार्य करना पड़ता है। विश्व का संचालन इसी पद्धति से होता है। पर, जो विश्व से नाता तोड़कर, उधर लौ लगाये है और उसे प्राप्त कर भी चुका है, उसके लिये मर्यादा के ये बन्धन, पराधीनता के ये पाश व्यर्थ हैं। इन्हें तो वह तोड़ चुका है—स्वाधीन होकर प्रभु का एकान्त स्वच्छन्द प्रेमी बन गया है। इसी कारण सूर की गोपियाँ रागानुगा भक्ति की इस मर्यादा-हीनता को, प्रेमपथ में बाधा डालने वाली परिमित की शृंखलाओं के चूर्ण कर देने की बात को कई बार अपने शब्दों में प्रकट कर देती हैं।

सूर की गोपियाँ इतनी स्वच्छन्द हो जाती हैं कि वे कृष्ण के हाथ से मुरली छीन कर बजाने लगती हैं। कृष्ण का मुकुट अपने शिर पर धारण कर लेती हैं और उन्हें अपना शीश फूल पहना देती हैं। उनके वस्त्र स्वयं पहिन लेती हैं और इस प्रकार कृष्ण बन जाती हैं तथा अप ने वस्त्र उन्हें पहिना कर राधा बना देती हैं। धृष्टता कहिये या स्वतन्त्रता—वे और भी आगे बढ़कर कृष्ण से कहती हैं कि "तुम सुर पूरो और हम मुरली के रंध्रों पर अँगुलियाँ चलावें।" इतना ही नहीं कृष्ण राधा के रूप में मानिनी बनकर बैठ गये और गोपियाँ कृष्ण के रूप में उनकी मनुहार करने लगीं।[1]

प्रेम का यह स्वच्छन्द रूप नेत्रों के वर्णन में भी आता है। गोपियों के नेत्र लोक-लज्जा तथा वेदमार्ग-मर्यादा का परित्याग करने से नहीं डरते। वे लोक, वेद और कुल की कानि को मानकर चलना आवश्यक नहीं समझते। यही नहीं, मुरली-वादन के समय तो सुत-पति-स्नेह और भवन-जन-शंका आदि की समस्त बाधायें नष्ट हो जाती हैं। गोपियाँ अपने शरीर और उस पर धारण किये जाने वाले वस्त्रों तथा आभूषणों की क्रम-मर्यादा को भी भूल जाती हैं। वे कंचुकी को कटि में लटकाती हैं, तो लहँगा को वक्षस्थल पर। चरणों में हार बाँधती हैं, तो ग्रीवा में जेहरि। इस स्थल पर मर्यादा-भंग के ऐसे अनेक उदाहरण सूर ने प्रस्तुत किये हैं।

खंडिता नायिका के वर्णन में नायक स्वयं मर्यादा भंग करता है। साथ ही उसकी पाग पर जावक की लाल छवि, कपोलों पर सिंदूर का रंग, अरुण अधरों पर अंजन की श्यामिका आदि चिह्न भी मर्यादा-भंग के ही द्योतक हैं। पुष्टिमार्गीय भक्ति का निरूपण करने में सूर ने इसी शैली से काम लिया है,

---

१—सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस, सम्वत् १९९१ का छपा, पृष्ठ ३९५ और ३९६।
सूरसागर (ना०प्र०स० २७५८—२७६२)

जिनमें बन्धन टूटकर उसी प्रकार निकम्मे हो जाते हैं, जैसे उत्कट वेग वाली सरिता के आगे बाँधा हुआ बाँध।

लोक-लाज को लुप्त करने वाला गोपिकाओं का यह स्वतन्त्र प्रेम रास लीला के पश्चात जलक्रीड़ा और वसन्त अथवा होली-लीला-वर्णन में विशेष रूप से पाया जाता है। इन लीलाओं में गोपिकायें कृष्ण की अधीनता को भूल जाती हैं और स्वच्छन्द गति से क्रीड़ा करती हैं। यमुना-जल-विहार के समय सभी गोपियाँ निर्भय होकर जल-क्रीड़ा करती हैं। वे एक दूसरी का हाथ पकड़े हुए भुजाओं पर लगे चन्दन को जल में फेंकती हैं। जल के छींटे भी एक दूसरे पर पड़ते हैं। राधा जलधारा-गत बिन्दुओं को कृष्ण के ऊपर फेंकती है। कमल जैसे हाथों में पानी भर भर कर छिड़काना ऐसा प्रतीत होता है जैसे कनक लता से मकरन्द झड़ रहा हो और पवन का संचार पाकर वह हिल रही हो। शरीर पर पड़ी हुई बूँदें अतसी के कुसुम का प्रतिबिम्ब जान पड़ती हैं। राधा ही नहीं, अन्य गोपियाँ भी इसी प्रकार इधर-उधर एक दूसरे पर अपने कमल के समान कोमल करों से पानी फेंकती हैं।

हिंडोल वर्णन में भी थोड़ी-सी स्वच्छन्दता के दर्शन हो जाते हैं, पर वसन्त और होली के वर्णन में तो यह प्रेम स्वच्छन्दता की सीमा पर पहुँच जाता है। सूर कहते हैं:—

> इत श्री राधा उत श्री गिरिधर, इत गोपी उत ग्वाल।
> खेलत फाग रसिक ब्रज वनिता सुन्दर स्याम रसाल॥
> खावा साखि जवारा कुंकुम छिरकत भरि केसरि पिचकारी।
> उड़त गुलाल अबीर जोर तहँ बिदिस दीप उजियारी॥
> ताल पखावज बीन बाँसुरी डफ गावत गीत सुहाये।
> रसिक गोपाल नवल ब्रज वनिता निकसि चौहटे आये॥
> झूमि झूमि झूमक सब गावति बोलति मधुरी बानी।
> देति परस्पर गारि मुदित मन तरुनी बाल सयानी॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३४७२)

ब्रज-वनितायें, श्याम और गोप मिलकर फाग खेल रहे हैं। इधर राधा है, तो उधर गोपाल; इधर गोपियाँ हैं, तो उधर ग्वाले। पिचकारियों में केशर और कुंकुम का जल भरकर छिरका जा रहा है। गुलाल और अबीर उड़ रहा है। ताल, पखावज आदि बाजे बज रहे हैं। कृष्ण और गोपिकायें बाहर निकल कर चौराहे पर आ गये। झूम-झूम कर मधुरवाणी में सब झूमक गा रहे हैं। बालायें तथा सयानी तरुणी स्त्रियाँ प्रसन्न होकर परस्पर गालियाँ दे रही हैं।

सुन्दर वर संग ललना विहरी वसंत सरस ऋतु आई।
लै लै छरी कुँवरि राधिका कमल नयन पर धाई॥
× × ×
द्वादश वन रतनारे देखियत चहुँदिशि टेसू फूले।
मौरे अँबुआ अरु द्रुम बेली मधुकर परिमल भूले॥ १०।२३६२
सूरसागर (ना०प्र०स० ३४७२)

सरस वसंत ऋतु के आगमन पर ललनायें अपने प्रिय पतियों के साथ विहार करने लगीं। राधा भी छड़ी लेकर कमल-नयन कृष्ण के ऊपर दौड़ीं। व्रज के द्वादश वनों में पलाश कुसुमित हो रहे हैं और लालिमा छाई हुई है। आमों पर बौर निकल आया है। मधुकर द्रुम तथा लताओं के परिमल में बेसुध हो रहे हैं।

राधा ने ललिता, विशाखा आदि अपनी सखियों से कहा:—"आँगन को लिपाओ और रोरी से चौक पूरो। कमोरियों में चन्दन, केशर और कस्तूरी को मथ-मथ कर भरो। झोरियों में गुलाल भर लो। आज मैं नन्दलाल कृष्ण के साथ होरी खेलूँगी।" जब सब तैयारी हो गई, तो राधा गोपियों के बीच में खड़ी होकर ऐसी शोभा देने लगी, जैसे तारागणों के बीच में चन्द्रमा शोभा पाता है। कोई किसी का वर्जन नहीं मानती। सब पिचकारियाँ ले-लेकर दौड़ीं और कृष्ण को रंग में डुबो दिया। (१०।२३६५)

सूरसागर (ना०प्र०स० परिशिष्ठ११६)

कुछ सखियाँ मनभावन गालियाँ देती हुई मिलकर चलीं और कृष्ण को कमर से उचकाकर और पकड़ कर ले आईं। स्वर्णघट में अबीर और अरगजा भरकर उन्होंने कृष्ण के शिर के ऊपर से डाल दिया। कृष्ण इस रंग में सराबोर हो गये। (१०।२३६६) सूर ने यहाँ भी गोपियों को कुल के अंकुश और लोक, वेद तथा कुल की धर्म-मर्यादा को न मानने वाली लिखा है।

रागानुगा भक्ति का यह निरूपण सूर ने लीला-वर्णन के अन्तर्गत ही किया है। प्रेम का यह स्वरूप सहसा प्राप्त नहीं हो जाता। जिस दिन से साधक इस पथ पर पैर रखता है, उसी दिन से उसकी निद्रा और भूख सब दूर हो जाते हैं। सूर के शब्दों में:—

"जा दिन ते हरि दृष्टि परे री।
ता दिन ते इन मेरे नैननि दुख सुख सब बिसरेरी॥"

तथा

जब ते प्रीति स्याम सों कीन्हीं।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नेकहु नींद न लीन्हीं॥

सदा रहै मन चाक चढ्यौ सौ और न कछू सुहाय।
करत उपाय बहुत मिलिवे को इहै विचारत जाय॥
सूर सकल लागत ऐसी यह सो दुख कासों कहिये।
ज्यों अचेत बालक की वेदन अपने ही तन सहिये॥१०।१४४२॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २४८३)

जब से रागानुगा भक्ति प्रारम्भ हुई, तब से कृष्ण-मिलन की आकांक्षा में नेत्र सतत जागरण करते रहे हैं, दुख-सुख समस्त विस्मृत हो चुके हैं, निद्रा तो आती ही नहीं। मन सदैव चाक पर चढ़ा हुआ-सा प्रतीत होता है। अन्य कुछ अच्छा ही नहीं लगता। कृष्ण कैसे मिलें, बस इसी उधेड़बुन में सारा समय निकल जाता है। अपने अन्तस्तल की वेदना किसी से कहते भी तो नहीं बनती। जैसे अज्ञान बालक अपनी पीड़ा किसी को बता नहीं सकता, स्वयं ही सहता रहता है, वैसे ही अपनी व्यथा को मैं अपने ही अन्दर सहती रहती हूँ।

सूर ने प्रेम का प्रारम्भ, विकास और उसकी चरम परिणति—सभी अवस्थाओं का वर्णन किया है। प्रेम का प्रारम्भ तो माखन-चोरी के समय से ही हो जाता है, उसका विकास दानलीला, पनघट-प्रस्ताव और चीरहरण लीला में दिखलाया गया है और उसकी परिणति, पूर्ण परिपाक, रासलीला में होता है। इस विकास में गोपियों की विवशता, दैन्य, आकुलता, आकांक्षा आदि उन सभी दशाओं का वर्णन आ जाता है, जो शृङ्गार रस के अन्तर्गत स्थान पाती हैं। इस विकास में कृष्ण की अधीनता बनी रहती है। स्वाधीन या स्वतन्त्र प्रेम, जो ब्रह्मभाव की भक्ति कहलाता है, जलक्रीड़ा तथा होली-लीला में ही प्रकट हुआ है। रासलीला में भी उसकी एक झलक उस समय दिखाई दे जाती है, जब राधा कृष्ण के कन्धों पर बैठने के लिये हठ करती है। इस प्रकार सूर का शृङ्गार लौकिकता का आधार ग्रहण करके भी सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक प्रेम के पवित्र स्वरूप की, उसके विकास और अन्तिम परिणति की व्याख्या करने वाला है।

भगवान कृष्ण के इस प्रेम को प्राप्त करने के लिये सूर ने राधा-वर्णन के अन्तर्गत राधा के चरणों की उपासना करना आवश्यक साधन के रूप में बताया है। जैसे:—

रूप रासि, सुख रासि राधिका सील महा गुण रासी।
कृष्ण चरण ते पावहिं स्यामा जे तुव चरण उपासी॥ १०।१७४१
सूरसागर (ना०प्र०स० १६७३)

पद्म पुराणकार ने पाताल खंड, अध्याय ८२ के श्लोक ८३, ८४ और ८६ में इसी भाव को प्रकट किया है।[1] इससे यह भी सिद्ध होता है कि वल्लभ सम्प्रदाय में भगवान कृष्ण के साथ भगवती राधा की उपासना भी विहित मानी गई है।

ऊपर प्रेम के जिस स्वरूप की विवेचना की गई है, वह शृंगारी होते हुये भी आध्यात्मिक है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि अंधे सूर ने सम्भवतः गोपियों के रूप में अपने ही प्रेम की व्याख्या की है। वह स्वयं लिखता है:—

धनि शुक मुनि भागवत बखान्यौं।
गुरु की कृपा भई जब पूरन तब रसना कहि गान्यौं॥
धन्य स्याम वृन्दावन को सुख संत मया ते जान्यौं।
जो रस रास रंग हरि कीन्हें, वेद नहीं ठहरान्यौं॥
सुर नर मुनि मोहित सब कीन्हें शिवहि समाधि भुलान्यौं।
सूरदास तहाँ नैन बसाये और न कहूँ पतान्यौं॥१०।१८५७॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७६१)

शुक मुनि धन्य हैं जिन्होंने भागवत का वर्णन किया। गुरु की जब पूर्ण कृपा हुई, तब मैं भी अपनी रसना से इसका गान करने में समर्थ हुआ हूँ। श्याम ने वृन्दावन में जो सुखमयी रासलीला की, उसे संतों की कृपा से मैंने समझा है। भगवान के रास-रहस्य के सामने वेद भी नहीं ठहर पाते। सुर, नर और मुनीश्वर सब इस रासलीला से मोहित हो चुके हैं और शिव जी ने भी अपनी समाधि का लगाना भुला दिया है। सूरदास कहते हैं: "मैंने अपने नेत्रों को वहीं बसा दिया है। अन्यत्र कहीं भी मेरा विश्वास नहीं जम सका।"

१—[illegible] प्रकुर्वन्ति [illegible] मत्प्रियामेकिकामुत।
[illegible] मामेति न संशयः॥८३॥
[illegible] मत्प्रियां न महेश्वर।
[illegible] मयोदितम्॥८४॥
[illegible] मत्प्रियां शरणं व्रजेत्।
[illegible]॥८६॥
[illegible] दोनों (राधा और कृष्ण) की अथवा केवल मेरी [illegible] की [illegible] और अनन्य भाव से सेवा करता है, [illegible]
[illegible] मेरी प्रिया (राधा) की शरण में नहीं [illegible]
[illegible] करनी चाहिये। इसी [illegible]

नवम अध्याय

सूरदास और ब्रज की संस्कृति

सूरदास और व्रज की संस्कृति

हिन्दी साहित्य में संस्कृति शब्द का प्रयोग इस समय ठीक उसी अर्थ में हो रहा है, जिस अर्थ में कल्चर (Culture) शब्द का प्रयोग अंग्रेजी में होता है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी नाम के अंग्रेज़ी शब्द-कोष में कल्चर का अर्थ इस प्रकार दिया है: Act of Cultivating, Instruction, Training, enlightenment, refinement. संस्कार डालने का कार्य, शिक्षा, दीक्षा, अभ्यास, प्रकाश, परिमार्जन। संस्कृति, इस प्रकार, एक व्यक्ति के शिक्षण, संस्कार और अभ्यास से प्रारम्भ होती है और उसका अन्त मनुष्य के विकसित व्यक्तित्व में प्रकाश तथा परिमार्जित अवस्था के रूप में दिखलाई देता है। परिमार्जित अथवा संस्कृत-जीवन-सम्पन्न मानव का अनुभव उसके अपने काम तो आता ही है, साथ ही वह मानव-समाज के लिए भी हितकारी होता है। इसी कारण संस्कृति सामाजिक रूप धारण कर लेती है और समाज में ही उसकी वास्तविक चरितार्थता सिद्ध भी होती है। संस्कृति जहाँ एक व्यक्ति के जीवन को अनुप्राणित और पुष्ट करती है, वहाँ सामूहिक रूप से समस्त समाज को संस्कृत करने में भी सहायक होती है।

साधना और संस्कृति का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। साधना विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत और संस्कृति सामान्य रूप से सामाजिक होती हुई भी एक दूसरी की सहायिका है। सहायक ही क्यों, एक में दूसरी के प्रतिबिम्ब का पड़ना अवश्यंभावी है। साधक को पूजा, व्रत, अनुष्ठान आदि के संस्कारों का सहारा लेकर चलना ही पड़ता है। आचार का परित्याग वह नहीं कर सकता। अतः जब हम किसी देश, प्रदेश अथवा प्रान्त की संस्कृति की चर्चा करते हैं, तब हमारा उद्देश्य उस प्रदेश के विकसित आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज,-पर्व-उत्सव संस्कार, कलाकौशल, ज्ञान-विज्ञान, पूजा आदि के विधि-विधान एवं अनुक्रम का ही उल्लेख करना होता है। एक व्यक्ति और समग्र समाज का भी विकसित एवं संस्कृत जीवन इन्हीं रूपों में प्रकट होता है। इस प्रकार साधना से संस्कृति

का विकास होता है और संस्कृति-निष्ठ समाज में ही साधना फलती और फूलती है।

व्रज-प्रदेश अत्यन्त प्राचीन काल से आर्य संस्कृति का केन्द्र रहा है। आर्य धर्म की विभिन्न शाखाओं, दर्शनों, कलाओं, साहित्य एवं विज्ञान के विकास में इसने महत्वपूर्ण भाग लिया है। चौदहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक इस प्रदेश में कृष्ण-भक्ति की जो अभिनव धारा प्रवाहित हुई, उसने न केवल इस प्रदेश की बोली को उन्नत, मधुर-भाव-व्यंजक एवं साहित्यिक रूप ही प्रदान किया, प्रत्युत इस प्रदेश की संस्कृति को भी विदेशी प्रभाव से सुरक्षित कर एक अभिनव एवं रमणीय ढाँचे में ढाला। व्रज का अर्थ गोचर भूमि है जहाँ पशु विचरण करते, तिनके चुँगते और अपने शरीर को पुष्ट करते हैं। व्रज के द्वादश वन अपनी निसर्ग सुषमा तथा रमणीयता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन वनों में पशुओं के लिए बड़े-बड़े चरागाह थे। सूर ने अपने सूरसागर में इन सबका हृदयहारी वर्णन किया है। इस प्रदेश की बोली भी अपने साहित्यिक रूप में व्रज नाम से ही प्रख्यात हुई। , इस कोमल बोली में सोलहवीं शताब्दी के आस-पास ऐसे साहित्य की सृष्टि हुई, जिसने अपनी मधुरिमा से न केवल व्रज, प्रत्युत समग्र उत्तराखंड को आप्यायित कर दिया। इस बोली के माध्यम द्वारा व्रज की संस्कृति का विस्तार दूर-दूर तक हो गया और उसकी सरसता एवं भाव-प्रवणता ने यहाँ की जनता को, लोक समुदाय को, अत्यधिक प्रभावित किया। अठारहवीं शताब्दी तक व्रज भाषा एवं व्रज संस्कृति के प्रचार का क्रम अबाध गति से चलता रहा।

व्रज संस्कृति के अभिनव रूप और उसके प्रसार में महा प्रभु वल्लभाचार्य, उनके वंशज तथा अनुयायियों का विशेष हाथ है। अनुयायियों में अष्टछाप के आठ कवि और इन आठ कवियों में भी महात्मा सूरदास अग्रगण्य समझे जाते हैं।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने व्रजवासियों के सात्विक एवं सरल स्वभाव से प्रभावित होकर और उनकी हृदय भूमि को भक्ति-बीज के अंकुरित तथा पल्लवित होने के योग्य समझकर व्रज-प्रदेश को अपने पुष्टिमार्ग के प्रचार का प्रधान क्षेत्र बनाया। यहाँ रहकर उन्होंने आर्य संस्कृति के उद्धार का भी व्रत लिया। व्रज के निकट ही आगरा में महिमाशाली मुगल साम्राज्य की राजधानी थी। राज्य की चमचमाती चकाचौंध में सामान्य जनता आत्मविस्मृत हो शासकों के आचार-व्यवहार को अपनाने के लिए बाध्य हो जाती है और अपनी संस्कृति से हाथ धो बैठती है। आचार्य वल्लभ ने इसी का निराकरण करने के लिए

व्रज में अपनी योगशक्ति का प्रयोग किया। गोवर्धन पर श्रीनाथ मंदिर की स्थापना मानों इस प्रयोग का एक साधन था। इसके द्वारा उन्होंने आर्य जाति में प्रचलित संस्कारों, पर्वों और उत्सवों के प्रचार का ऐसा क्रम बनाया कि जनता मुगल-महिमा द्वारा आत्म-वंचित होने से बच गई। उसे उन्होंने भक्ति के ऐसे रंग में रँगना प्रारम्भ किया कि विदेशियों के वैभव-प्रभाव का एक भी रंग उसके ऊपर न चढ़ सका। आचार्य जी के पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इस क्रम को और भी अधिक बढ़ाया। परिणाम यह हुआ कि लोक-समुदाय अपनी संस्कृति के प्रति आकृष्ट बना रहा। यही नहीं, भक्ति के इस रूप ने रसखान, रहीम, ताज आदि यवन संस्कृति में पले हुए अनेक व्यक्तियों को भी आर्य संस्कृति की गरिमा मानने के लिये विवश कर दिया।

संस्कार—सूरदास पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के अनुयायी ही नहीं, एक प्रधान अंग थे। उनके सूरसागर में व्रजप्रदेश की इस संस्कृति का प्रमुख रूप से वर्णन हुआ है। सर्व प्रथम हम संस्कारों के सम्बन्ध में सूरसागर में संचित सामग्री का उल्लेख करेंगे। संस्कार ही व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं और एक-एक व्यक्तित्व की निर्मिति समग्र समाज को संस्कृत बना देती है। अतः संस्कारों का संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। सूरदास ने नीचे लिखे रूप में संस्कारों का वर्णन किया है:—

पुत्र जन्म—आर्य संस्कृति में पुत्र का जन्म पुण्य का परिणाम समझा गया है। जिसके पुत्र नहीं है, उसका प्रातःकाल मुख देखना अशुभ एवं अमंगल-जनक माना जाता है। पुत्र की उत्पत्ति और उसका मुख देखने के लिए प्राणी तरसा करते हैं। तभी तो कृष्ण के उत्पन्न होने पर यशोदा नन्द से कहती है:—

"आवहु कन्त, देव परसन भए, पुत्र भयौ, मुख देखौ धाई।"

नन्द दौड़कर जाते हैं और पुत्र का मुख देखते हैं। उस समय की शोभा और सुख का वर्णन किया नहीं जा सकता।

कृष्ण के जन्म के समय स्त्रियाँ बधावा लेकर जाती हैं। स्वर्ण-निर्मित थाल में दूब, दधि और रोचना रखा है। सखियाँ मंगलगान गाती हैं। नाल-छेदन होता है और द्वार पर दुन्दुभि बजती है। सूर ने इस अवसर पर बाजों का बजना, बन्दनवार बाँधना, हल्दी-दही मिलाकर छिड़कना, वेदध्वनि का होना ग्रह-लग्न-नक्षत्र आदि का विचार करके मुहूर्त शोधना, विप्रों को नन्दन का तिलक करना, नान्दीमुख श्राद्ध, पितृ-पूजा, गुरु और ब्राह्मणों को वस्त्र पहिनाना, गोकुल-निवासियों का भेंट ले-लेकर नन्द के द्वार पर आना, द्वार पर साँथिये

(स्वस्तिका) बनाकर सात सींकें चिपकाना, व्रज-वधुओं का अक्षत, रोरी, दूब तथा फलों से भरे हुए थाल लेकर पुत्र-दर्शन के लिए आना, उत्सव का होना विप्र-मागध-सूत आदि का आशीर्वाद देना, ढाढ़ी ढाढ़िन का नाचना, दान लेने के लिए झगड़ना, यशोदा-नन्द द्वारा उनकी पहिरावनी कराना तथा हार, कंकण और मोतियों से भरे थाल दान में देना आदि अनेक बातों का वर्णन किया है।[1]

छठी व्यवहार—छठी के दिन मालिन का बन्दनवार बाँधना, केले लगाना, सुनार का हीरा जटित स्वर्णहार बनाकर लाना, नाइन का महावर लगाना, दाई को लाखटका, झूमक और साड़ी देना, विश्वकर्मा बढ़ई का पालना बनाकर लाना, जाति-पाँति की पहिरावनी करके पुत्र के काजल लगाना, ऐपन (बटे हुए चावल) से चित्र बनाना आदि प्रथाओं का वर्णन पाया जाता है।[2]

नामकरण—इस समय विप्र, चारण, वन्दीजनों का नन्द के घर आकर दूर्वा हल्दी बाँधना तथा गर्ग द्वारा जन्मपत्र बनाकर लक्षणादि का निरूपण करना आदि का वर्णन हुआ है। कृष्ण के स्वजन-उद्धार और असुर-संहार-सम्बन्धी कार्यों की भविष्यवाणी भी यहाँ की गई है।[3]

अन्नप्राशन—कृष्ण के छः मास के होने में कुछ दिन रहने पर शुभ मुहूर्त में अन्नप्राशन संस्कार के करने का वर्णन है। इस अवसर पर स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं। नन्द तथा यशोदा का नाम लेकर गालियाँ भी गाई जाती हैं। यशोदा व्रज-वधुओं को बुला लाती हैं और ज्योनार तैयार होती है। गोप इकट्ठे होते हैं। नन्द स्वर्ण के थाल में खीर भरकर उसमें घृत और मधु मिलाते हैं। जब वह खीर कृष्ण को खिलाई जाती है, तो वे मुँह बिगाड़ते हैं। संस्कार के उपरान्त स्त्रियाँ कृष्ण का मुख चुम्बन करती हैं तथा पत्तलों पर गोप-भोज होता है।[4]

---

१. सूरसागर, दशम स्कंध, छन्द २८ से ३४ तक। सारावली में छन्द संख्या ४०६ से ४२२ तक। दोनों स्थलों के वर्णनों में पर्याप्त साम्य है।
सूरसागर (ना०प्र०स० ६५३-६५७)

२. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ३५। (ना०प्र०स० ६५८)

३. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८८। (ना०प्र०स० ७०५)

४. सूरसागर, दशम स्कंध, पद ९०। (ना०प्र०स० ७०६)

वर्षगाँठ—इस समय कृष्ण को उबटन लगाकर स्नान कराया जाता है। आँगन का लीपना, चौक पुराना, वाद्य बजना, अक्षत दूब बाँधना तथा मंगल गान आदि होता है। [१]

कर्णछेदन—कंचन के दो दुरों (कर्ण के आभूषण, बालियाँ जो उमेट कर नीचे की ओर लटका दी जाती हैं) से कनछेदन कराने के समय सूर लिखते हैं:—

कान्ह कुँवर को कनछेदनो है, हाथ सुहारी भेली गुर की।
विधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि यशुमति के धुकधुकी उर की॥

यशोदा के हृदय में धुकधुकी हो रही है। माता का हृदय सूर ने बड़े निकट से देखा है। इस स्थल पर जो वर्णन पाया जाता है, उससे उस समय के बालकों के वस्त्र, आभूषण आदि कैसे होते थे, इस बात का भी परिचय हो जाता है। कृष्ण की पीत झँगुली, शिर पर कुलही, मणि जटित व्याघ्र, नख से संयुक्त कंठ श्री, किंकिणी, बाहु-भूषण आदि का धारण करना वर्णित हुआ है।

गोकुल में श्रीकृष्ण के इतने ही संस्कार हुए। यद्यपि आभीर क्षत्रिय वंश है और भागवत में नन्द वसुदेव के निकटस्थ बन्धु भी कहे गये हैं, फिर भी गोपालन आदि वैश्य कर्म करने के कारण भागवतकार और हरिवंश के रचयिता दोनों ने उन्हें वैश्य लिख दिया है। वैश्य भी द्विज कोटि में आते हैं और उनका यज्ञोपवीत संस्कार होता है। संभवतः आयु में छोटे होने के कारण कृष्ण और बलराम का यज्ञोपवीत संस्कार गोकुल में नहीं हो सका। यह भी संभव है कि आभीर क्षत्रियों का महत्व मुगल काल में क्षीण हो गया हो और उनके अन्तर्गत यज्ञोपवीत प्रथा का ही लोप हो गया हो। अतः जब कृष्ण मथुरा पहुँचे, तब इस विस्मृत संस्कार को भी पूरा किया गया।

यज्ञोपवीत—सूरसागर के पृष्ठ ४७३ पर २६वें पद में यज्ञोपवीत संस्कार का वर्णन है। इस समय षड्रस ज्यौनार होती है और गर्ग ऋषि कृष्ण को गायत्री मन्त्र का उपदेश देते हैं। ब्राह्मणों को विधिपूर्वक अलंकृत गायें दी जाती हैं। स्त्रियाँ गाना गाती हैं और यशोदा प्रसन्न होकर न्यौछावर करती हैं।

विवाह—यद्यपि सूर ने राधा और कृष्ण का गांधर्व विवाह कराया है, पर उसमें वे सब बातें वर्णित हैं, जो विवाह के अवसर पर सूर के समय में प्रचलित थीं और जो व्रज में आज तक चली आती हैं। जैसे:—

१—सूरसागर, दशम स्कंध, पद ८८। (ना०प्र०स० ७१३)

मौर धारण करना—मोर मुकुट रचि मौर बनायौ ।
माथे पर धरि हरि वरु आयौ ॥

निमंत्रण— गोपीजन सब नेवते आईं ।
मुरली ध्वनि ते पठइ बुलाई ॥

मंडप और गान— बहु विधि आनन्द मंगल गाये ।
नव फूलन के मंडप छाये ॥

गीत और वेद मन्त्रोच्चारण—
गाये जु गीत पुनीत बहु ।
विधि वेद रव सुन्दर धुनी ॥

पाणिग्रहण और भाँवरि—
तापर पाणिग्रहण विधि कीन्हीं ।
तब मंडल भरि भाँवरि दीन्हीं ॥

गालियाँ गाना—
उत कोकिलागण कर कोलाहल, इत सकल ब्रजनारियाँ ।
आई जु निवर्तौ दुहूँ दिशि मनों देत आनन्द गाँरियाँ ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६०)

कंकण खोलना—नहिं छूटै मोहन डोरना हो ।
बड़े हो बहुत अब छोरियो हो, ये गोकुल के राइ ।
की कर जोरि करी विनती, कै छुऔ श्री राधाजी के पाँइ ॥

× × × ×

बहुरि सिमिटि ब्रजसुन्दरी मिलि दीन्हीं गाँठि बनाइ ।
छोरहु वेगि कि आनहु अपनी यशुमति माई बुलाइ ॥

× × × ×

किलकि उठीं सब सखी स्याम की अब तुम छोरौ सुकुमारि ।
पचिहारी कैसेहु नाहिं छूटत बँधी प्रेम की डोर ॥
दुलहिनि छोरि दुलह कौ कंकन की बोलि बबा वृषभान ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६१)

इसके पश्चात् पुनः गालियों का वर्णन है, जैसेः—
कान्ह तुम्हारी माइ महाबल सब जग अपजस कीन्हों ॥
इत्यादि

अन्त में सूर लिखते हैं:—

सनकादि नारद मुनि शिव विरंचि जान।
देव दुंदुभी मृदंग बाजे बर निसान॥
बारने तोरन बँधाये हरि कीन्हों उद्याह।
ब्रज की सब रीति भई बरसाने ब्याह॥पृष्ठ ३४६, पद ६०।
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६७)

अंतिम पंक्ति से स्पष्ट प्रकट होता है कि सूर ने जिन संस्कारों का वर्णन सूरसागर में किया है, वे सब ब्रज की रीति और पद्धति के अनुसार हैं। ब्रज में जिस संस्कृति का विकास हुआ, ऊपर उल्लिखित प्रथायें उसी के अन्तर्गत हैं। कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह-वर्णन में भी ये सब बातें हैं, जिन्हें हम ऊपर लिख चुके हैं। वहाँ राजसी वेश-भूषा और साज-सामान की विशिष्टता अधिक है।

पूजा, व्रत और स्नान—ब्रज की संस्कृति में पूजा, व्रत, स्नान आदि का भी महत्व है। सूरदास ने गौरी-पूजा, शिव-पूजा, सूर्य-पूजा, व्रत रखना, यमुना स्नान करना आदि का वर्णन राधा और गोपियों के सम्बन्ध में किया है। नन्द द्वारा शालग्राम की पूजा और एकादशी व्रत रखने का भी वर्णन है। शकुन आदि भी एकाध स्थान पर वर्णित हुये हैं। सूर ने ब्रजवासियों को दैव से डरने वाला और ईश्वरविश्वासी माना है। बलराम की तीर्थयात्रा का विवरण प्रायश्चित्त के रूप में आता है। उससे भी ब्रजवासियों के इसी स्वभाव का पता चलता है। आर्य संस्कृति के विकास में तीर्थों ने भी अनुपम योग दिया है। इन्हीं तीर्थों पर जाकर मानव अपने भूले हुये संस्कारों को ऋषियों, मुनियों और आचार्यों से पुनः प्राप्त कर लेता था। समाज में यदि किसी नवीन पद्धति का प्रचार करना अभीष्ट होता था, तो वह भी सुगमता से इन तीर्थों पर जुड़े हुये मेलों द्वारा सम्पादित हो जाता था।

पर्व और उत्सव—सूरसागर में गोवर्द्धन-पूजा का समारोह उत्सव के रूप में वर्णन किया गया है। पूजा के लिये विपुल सामग्री तैयार की जाती है। मधु, मेवा, पकवान, मिठाई, षट्रस के व्यंजन, माखन, दधि, दूध आदि शकटों पर लादकर गोप एवं गोपिकायें पूजा के लिये चलते हैं। आनन्दमग्न गोपिकायें षोडश शृङ्गार से सुसज्जित हो पंक्ति बनाकर चलती हैं। गोवर्द्धन पर जनसमूह का सागर उमड़ पड़ता है। यज्ञ तथा वेद-पाठ होता है और गोवर्द्धन को भोग समर्पण किया जाता है।

गोवर्द्धन की पूजा के पश्चात् दीपमालिका का वर्णन है। सामाजिक उत्सवों में वर्षा ऋतु के हिंडोल, वसंत ऋतु के फाग और होली का वर्णन सारावली और सूरसागर, दोनों में पाया जाता है। इन उत्सवों पर नर-नारी सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करते हैं। गान और नृत्य होता है। पखावज, बीन, बाँसुरी, डफ, महुअरि, मृदंग आदि विविध प्रकार के बाजे बजते हैं। अरगजा और अबीर चलता है। स्वर्णघट में रंग भरकर रखा जाता है। सब आमोद-प्रमोद में मग्न हो जाते हैं। पर्वों और उत्सवों का किसी देश की संस्कृति में विशेष स्थान होता है। व्रज-संस्कृति के निर्माण में इन प्रसन्नता-संचारी उत्सवों ने भी महत्वपूर्ण भाग लिया है।

आश्विन की पीयूष-वर्षिणी पूर्णिमा के दिन रासलीला होती है, जो सूर-जीवन का पाथेय बन गई थी। सूर ने इसका अतीव हृदयग्राही वर्णन किया है। सूरसागर में नवरात्र का भी उल्लेख है।

पर्वों में मनोरंजन की पर्याप्त सामग्री रहती है। पर्व का अर्थ है, गाँठ या जोड़। जैसे मानव-शरीर में घुटने, कमर, ग्रीवा, स्कन्ध, कोहनी और पहुँचे पर जोड़ होते हैं और ये जितने ही सुगठित तथा दृढ़ होते हैं, शरीर भी उसी मात्रा में सबल, क्रियाशील और अधिक दिनों तक टिकाऊ रहता है, उसी प्रकार पर्व किसी समाजरूपी शरीर के जोड़ हैं। ये जितने ही सुगठित और सुचारु रूप से सम्पादित होंगे, समाज भी उतना ही सबल, सुसंस्कृत और दीर्घायु होगा। उत्सव का अर्थ ही है प्रसन्नता, आह्लाद, आनन्द। सतोगुण का भी यही रूप है। जो समाज निधन-तिथियाँ मनाकर वर्ष भर हाय-हाय करता रहेगा, जन्म तिथियों, जयन्तियों तथा प्राकृतिक पर्वों को मनाकर प्रसन्नता का संचार अपने जीवन में नहीं करेगा, वह सतोगुण की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। जो स्वयं रोता है, वह दूसरों को भी रुलाना चाहता है। आर्य संस्कृति, इसके विपरीत, उत्सवों को जीवन में स्थान देकर आह्लाद का संचार करती है और परिणामतः संसार को आनन्द की ओर ले जाती है।

उत्सवों में खेलों का भी स्थान है। उत्सव नैमित्तिक होते हैं, परन्तु खेल नैत्यिक और नैमित्तिक दोनों ही। सूरसागर में दोनों प्रकार के खेलों का वर्णन है। दैनिक अथवा नैत्यिक खेलों में आँख मिचौनी, भाग-दौड़, कबड्डी, गेंद खेलना, भौंरा चकडोरी, चौगान तथा नैमित्तिक खेलों में जल-केलि, [illegible], आदि का विवरण प्राप्त होता है।

शृङ्गार-सज्जा—सूर ने अनेक स्थानों पर आभूषणों के नामों का उल्लेख किया है। आभूषण जहाँ शृङ्गार-सज्जा और शोभा के उत्पादक हैं,

वहाँ वे हृदय में प्रसन्नता का भी संचार करते हैं। विशेषज्ञों ने विशिष्ट प्रकार के रत्न, मणि, आदि से निर्मित आभूषणों को विविध प्रकार के रोगों के निवारण और सुख-सम्पादन का हेतु कहा है। आर्य संस्कृति ने सांसारिक वैभव का तिरस्कार नहीं किया। उसने वैभव के प्रतीक आभूषणों को भी उचित स्थान दिया है। हाँ, उसने यह अवश्य ध्यान रखा है कि ये आभूषण अथवा ऐश्वर्य-राशि अपनी उचित मर्यादा में रहें।

सूरसागर के पृष्ठ २३६ और २४० पर क्रमशः पद संख्या ४२ (ना०प्र०स० २०६३) और २० (ना०प्र०स० २१५८) में सूर ने आभूषणों का वर्णन किया है, जिनमें मोतीमाला, कंठश्री, कर्णफूल, तिलक, हमेल, करधनी, नूपुर, बिछिया, नगजटित चौकी, टाड, ककन, बाजूबन्द, बेसरि, दुलरी, तिलरी, टीका, आदि विविध प्रकार के आभूषणों के नाम आये हैं। इन आभूषणों को स्त्रियाँ धारण करती थीं। पुरुष भी आभूषण पहिनते थे। सूर ने इन आभूषणों में हीरा लालजटित मकराकृति के कुण्डल, दुर, कंठमाला, मुद्रिका, वैजयन्ती माला आदि के नाम गिनाये हैं।

भोजन—जो समाज जितना अधिक संस्कृत होगा, वह उतनी ही अधिक भोजन की विविधता तथा व्यवस्था भी रखेगा। असंस्कृत समाज में भोजन सम्बन्धी ये बातें प्राप्त नहीं होतीं। सूरदास के समय में गोस्वामी विट्ठलनाथ ने श्रीनाथ मंदिर में इष्टदेव को भोग लगाई जाने वाली सामग्री की बहुलता कर दी थी। यद्यपि महाप्रभु वल्लभाचार्य के समय से ही मंदिर में भोग-पद्धति की विशेषता पर ध्यान रखा जाता था, फिर भी श्रीविट्ठलनाथ जी के समय में उस पर और भी अधिक मनोयोग दिया जाने लगा। अन्नकूट के दिन श्रीनाथजी को ५६ प्रकार के व्यंजनों का भोग अवश्य लगाया जाता था। कभी-कभी यह विस्तृत समारोह के रूप में भी होता था।

सूरसागर में भोजन की विविधरूपता का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। उसके पृष्ठ ४२१ पर (ना०प्र०स० १८३१) २१वें पद के अन्तर्गत खीर, खांड, खीचरी, मधुर महेरी, भात, हींग से भावित ढरहरी मूँग, तुलसी डालकर तपाया हुआ सद मक्खन, कचौर, पापड़, वरी, विविध प्रकार के अचार, भाजी, साग, पेठा, खीरा, बरा, पकौड़ी, रायता, बेसन, अजवायन मिली रोटी, पूड़ी, कचौड़ी, सुहार, लपसी, मालपुआ, लड्डू, सेव, घेवर, गोझा, मेवा, जलेबी, दही, मलाई, सिखरन, धुँमारा हुआ मट्ठा आदि विविध प्रकार के व्यंजनों का वर्णन है। प्रातःकाल के कलेऊ, दोपहर के भोजन और रात्रि समय की व्यालू का पृथक-पृथक रूप है। होली के वर्णन में वारुणी का उल्लेख भी पाया

जाता है। दानलीला के प्रसंग में लौंग, नारियल, दाख, सुपारी, हींग, मिरच, पीपर, अजवायन, कायफर, सौंठ, चिरायता, बहेरा आदि के भी नाम आ गये हैं। भोजन-वर्णन के अन्त में कपूर से सुवासित पान खाने का भी उल्लेख पाया जाता है।

संगीत—इसका थोड़ा-सा परिचय उत्सवों के वर्णन में आ गया है। सूरसागर में कई अन्य स्थानों पर भी संगीत से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध होती है। सूर स्वयं संगीतशास्त्र में निष्णात थे। उनका सूरसागर विविध राग-रागिनियों में ही लिखा गया है। अनेक रागों की सृष्टि सूरदास ने स्वयं की थी। सारावली के छंद संख्या १०१२ से १०१७ तक सोरठ, मलार, केदारो, जयतश्री, आदि विविध रागों के नाम गिनाये गये हैं, जिन्हें संगीतशास्त्र का कोई विशेषज्ञ ही समझ और समझा सकता है। सूरसागर के पृष्ठ ३५२ पर संगीत के सप्त-स्वरों के नाम दिये हैं[1]। उसके पृष्ठ ३४६ पर उपङ्ग, ताल, मुरज, रबाब, बीना, किन्नरी, मृदङ्ग आदि बाजों के नाम भी आये हैं।[2]

संगीत संस्कृति का विशेष अंग है। संस्कृत समाज में ही संगीत का विकास संभव है। पुष्टिसम्प्रदाय ने संस्कृति के इस पक्ष पर विशेष बल दिया था, जिसने उन दिनों समाज के अन्तर्गत निवृत्ति के स्थान पर प्रवृत्ति-परायणता का प्रचार किया और उसकी खिन्नता एवं उदासीनता को बहाकर उसे आशा, उत्फुल्लता एवं सक्रियता प्रदान की।

साहित्य—सरस्वती के वरद पुत्र, सारस्वत सूरदास के सम्बन्ध में साहित्य की चर्चा करना अनावश्यक ही नहीं, अनुपयुक्त भी है। उसके अमर काव्य सूरसागर की समता करने वाला साहित्य विश्व में ढूँढ़ने से मिलेगा। साहित्य-सिंधु की इतनी अधिक भाव-ऊर्मियाँ, इतनी अधिक कल्पना-तरंगें, इतनी चारु चित्रात्मकता और विशद व्यंजना, इतना विस्तार और इतनी गहराई सूरसागर के अतिरिक्त अन्य किस ग्रन्थ में है? काव्य कला का जो सर्वोत्तम, उज्वलतम रूप सूरसागर में निखरा, वह हिन्दी साहित्य में न उसके पहले दिखलाई दिया था और न उसके पीछे ही उपलब्ध हो सका। वह युग हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग था और सूर निस्संदेह हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य थे।

साहित्य में संस्कृति का सर्वोत्तम और सर्वाङ्गीण रूप प्रस्फुटित होता है। साहित्य और संगीत का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। साहित्य संगीत की

१—सूरसागर (ना०प्र०स० १७६२) २—(ना०प्र०स० १६७७ और १७६८)

लय में और संगीत साहित्य की नवनवोन्मेषशालिनी भावधारा में अपना परम विशुद्ध प्रश्रय पाता है। इन दोनों का मणि-काञ्चन संयोग सूरदास में हुआ है। सूर ने जिस संस्कृति का उद्घाटन, इस प्रकार, अपने व्यक्तित्व में किया, वही सूरसागर में स्वतः परिणत एवं प्रतिफलित हो उठा। सूर को पाकर व्रज की संस्कृति और व्रज की संस्कृति को पाकर सूर धन्य हो गये। संगीत और साहित्य के रूप में व्रज की संस्कृति को सूर की अनुपम देन है। सूर के समय में अष्टछाप के कवियों तथा इस सम्प्रदाय से बाहर रहकर कार्य करने वाले अन्य कवियों ने भी साहित्य सृजन में अनुपम योग दिया है।

साहित्य और संगीत के अतिरिक्त ललित कलाओं में वास्तु, मूर्ति और चित्र कलाओं की भी गणना है, पर ये प्रथम दो की अपेक्षा अवर कोटि की मानी गई हैं। वास्तु कला के थोड़े से दर्शन सूरसागर के दशम स्कंध पूर्वार्ध में मथुरा वर्णन के अन्तर्गत हो जाते हैं, जिसमें महलों पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों, कंचन कोटि के कंगूरों, छज्जों, उच्च अट्टालिकाओं, उन पर फहराती हुई ध्वजाओं और मथुरा को चारों ओर से घेरे हुए उपवन का उल्लेख है। दशम स्कंध के उत्तरार्ध में जहाँ द्वारिका की शोभा का वर्णन हुआ है, वहाँ भी वास्तु कला का किंचित दिग्दर्शन हो जाता है। इस वर्णन में विद्रुम और स्फटिक की पच्चीकारी, कंचन के मणि-खचित मन्दिर, उनमें नीचे के नर-नारी तथा ऊपर के पक्षियों के पड़ते हुए प्रतिबिम्ब, जल तथा स्थल पर विविध प्रकार के विचित्र रंग,वन, उपवन, फूल, फल, सरोवर, शुक, सारिका, हंस, पारावत, चातक, मोर, चकोर, पिक आदि पक्षियों का कल-कूजन, घर-घर संगीत की सरस ध्वनि आदि प्रसंग आये हैं। भूमि पर विविध प्रकार के रंग चित्रकला की ओर भी निर्देश कर सकते हैं। व्रतों और पर्वों के मनाने में भी चित्रकला का प्रचार होता रहा है। श्रावणी, अनन्त चतुर्दशी, जन्माष्टमी, नौत्ता (नवरात्र) करवा चौथ, अहोई, देवोत्थान आदि के अवसरपर व्रज में स्त्रियाँ आज भी दीवालों पर तथा आँगन में ऐपन और गेरू आदि के रंग से चित्र-रचना करती हैं। देवी-देवताओं की पूजा के रूप में मूर्तिकला का भी उल्लेख आ जाता है। गौरी-गौरा की मूर्ति पूजन के समय आज भी बनाई जाती है। वैसे भी उन दिनों ये सभी कलायें विकसित हो रही थीं। श्रीनाथ का मन्दिर, आचार्यों की बैठकें, मूर्तियों की शृङ्गार-सज्जा, मंदिरों की झाँकियाँ, विविध कलाओं के विकास की ही सूचक हैं।

सूरनिर्णय के विद्वान लेखकों ने पर्वों, उत्सवों, झाँकियों और संस्कारों के प्रचुर प्रमाण सूर-साहित्य से निकाल कर अपने ग्रन्थ में एकत्र कर दिये हैं।

अतः हमने इस अध्याय में उनसे सम्बन्धित कुछ विशिष्ट प्रसंगों पर ही प्रकाश डाला है। सूर श्रीनाथ मन्दिर में कीर्तन के अध्यक्ष थे। वे प्रत्येक नवीन अवसर पर नवीन पद बनाकर गाया करते थे। इन पदों से उन दिनों की प्रचलित प्रथाओं, रीति-रिवाजों और आचार-व्यवहार का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। व्रज की संस्कृति पर भी इस रूप में इन पदों से विशद प्रकाश पड़ता है।

सूरसागर में व्रज की महिमा कई स्थानों पर वर्णित है। नीचे लिखी पंक्तियों में व्रज की परिक्रमा से सूर ने शारीरिक पापों का नष्ट होना लिखा है:—

श्रीमुख वाणी कहत विलम्ब अब नेंक न लावहु।
व्रज परिकरमा करहु देह को पाप नसावहु ॥ ३५ । पृष्ठ १५८ ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १११०)

सूर व्रजवासियों के चरित्र की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं:—

कहाँ बसति हो बावरी, सुनहु न मुग्ध गँवारि।
व्रजवासी कहा जानहीं, तामस को व्यवहारि ॥३४॥ पृष्ठ २५४ ।

सूरसागर (ना०प्र०स०२२३६ पृष्ठ ८१६)

सूर के समय में तो व्रजवासी तमोगुण से शून्य, सात्विक स्वभाव के थे ही, उनसे पूर्व भी हुयेनसांग के शब्दों में वे कोमल स्वभाव वाले तथा दूसरों के साथ आदरणीय व्यवहार करने वाले थे। वे परोपकारी, तत्वज्ञान के अध्येता और विद्या के प्रति सम्मान का भाव रखते थे।[1] व्रज की सात्विक संस्कृति व्रजवासियों के सात्विक स्वभाव में परिलक्षित होती थी। सूरदास के सूरसागर में इसी संस्कृति के दर्शन होते हैं।

१—ह्वेनसांग का मथुरा वर्णन—श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी के मथुरा-परिचय से।

दशम अध्याय

सूरदास का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

सूरदास का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

पुष्टि-पथ की सेवाभक्ति और हरिलीला का जो स्वरूप सूरदास ने सूर-सागर में खड़ा किया, उसका परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर प्रभूत मात्रा में प्रभाव पड़ा। राधा और कृष्ण का जो रूप सूर ने अंकित किया है, उसकी अमिट छाप अन्य कवियों के काव्य-ग्रन्थों में दिखलाई देती है। केशव, देव, बिहारी, रसखान, घनानन्द, भारतेन्दु, रत्नाकर, वियोगीहरि सबके सब अपनी काव्य-सामग्री और भावाभिव्यक्ति के लिए सूर के बहुत कुछ ऋणी हैं।

सूर के कृष्ण अपरिमित शोभा के भंडार हैं। वे सौंदर्य के सागर हैं। सुषमा का यह अक्षय स्रोत परम ब्रह्म के अतिरिक्त और कहाँ हो सकता है? अतः कृष्ण साक्षात भगवान हैं। सूर लिखते हैं:—

शोभा सिन्धु न अन्त लही री।
नन्द भवन भरिपूरि उमँगि चलि ब्रज की बीथिनु फिरति बही री॥

× × × ×

जसुमति उदर अगाध उदधि तें उपजी ऐसी सबनि कही री।
सूर स्याम प्रभु इन्द्र नीलमनि ब्रज बनिता उर लाइ गुही री॥
सूरसागर (ना० प्र० स० ६४७)

महाकवि देव ने नीचे लिखे कवित्त में इसी भाव को इसी प्रकार गुंफित किया है:—

सनों के परम पदु ऊनों के अनन्त मदु,
नूनों के नदीस नदु इन्दिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रजबीथी बिथुरै परी॥
भादों की अँधेरी अधराति मथुरा के पथ,
पाय कै संयोग देव देवकी दुरै परी॥

पारावार पूरन अपार परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरै इक बार ही कुरै परी ॥

समुद्र समुद्र से ही उत्पन्न हो सकता है। इसी कारण सूर शोभा के इस अपार सिंधु को यशोदा के उर रूपी उदधि से प्रकट हुआ कहते हैं। उधर देव ने यशोदा की क्रोड़ में परब्रह्म रूपी अपार पारावार को लाकर रख दिया है। जहाँ अपार पारावार स्थान पाता है, उस क्रोड़ का वारापार कौन जान सकता है? दोनों ही कवियों की रचनाओं में यह पारावार ब्रज की वीथियों में बहा-बहा फिरता है।

श्रीमद्भागवत, हरिवंश, वायु पुराण तथा अन्य पुराणों के आधार पर श्रीकृष्ण की जिस बाँकी छवि का सूर ने स्वानुभूतिगम्य अभिव्यंजन किया है, वह ज्यों का त्यों रीतिकालीन कवियों के काव्यों में होता हुआ आज तक के हरिऔध, वियोगीहरि, रत्नाकर प्रभृति कवियों के काव्यों में चला आया है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

गोरज विराजे भाल, लहलही बनमाल,
आगे गैयाँ, पाछे ग्वाल, गावैं मृदु तान री।
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसी,
बंक चितवनि मन्द-मन्द मुसकान री ॥
कदम विटप के निकट, तटिनी के तट,
अटा चढ़ि देखु पीतपट फहरान री।
रस बरसावै, तन तपन बुझावै,
नैन आननि रिझावै वह आवै रसखान री ॥—रसखान

इन्दीवर दलनि मिलाइ सोनजुही गुही,
गुहा माल हाल रूप गुन न परै गनै।
पोरी ये पिछौरी, छोर सीस पै उलटि राखैं,
केसर विचित्र अंग रंग भाव सों सनै ॥
मुरली में गोरी धुनि टेरि घन आनन्द हैं,
तेरे द्वार टहकनि ऊधमधनै ठनै।
हा, हा, हे सुजान! आजु दीजै प्रान दान नैंकु,
आवत गुपाल देखि लीजै बन तें बनै ॥—आनन्दघ

कटि किंकिनि, सिर मोरमुकुट वर उर बनमाल परी है।
हँसि मुसक्यान, चकाचौंधी, चित चितवनि रंग भरी है ॥

सहचरिसरन, सुविश्व विमोहिनि मुरली अधर धरी है।
ललित त्रिभंगी सजल मेघ तनु मूरति मंजु खरी है ॥—सहचरिशरण
लटकि लटकि मनमोहन आवनि।

झूमि झूमि पग धरत भूमि पर गति मातंग लजावनि ॥
गोखुर रेनु अंग अंग-मंडित उपमा दृग सकुचावनि।

× × × ×

मुक्तमाल उर लसी छबीली, मनु बग पाँति सुहावनि।
रुनन झुनन किंकिनि धुनि मानो हंसनि की चुहचावनि॥
जँघिया लसनि, कनक कछनी पै, पटुका ऐंचि बँधावनि।
पीताम्बर फहरानि मुकुट छवि नटवर वेप बनावनि ॥ ललितकिशोरी

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यह बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल ॥—बिहारी

पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै वनमाल सुहाई ॥
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग मन्दिर दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई ॥—देव

मुरली लकुट वारे, चंद्रिका मुकुट वारे,
रित हमारे दरौ राधिका रमन जू।—हरिश्चन्द्र

वह मुरली अधरान की, वह चितवन की कोर।
सघन कुंज की वह छटा, अरु वह जमुन हिलोर॥
पीत पटी लिपटाइ कें, लै लकुटी अभिराम।
बसहु मन्द मुसिक्याइ उर, सगुन रूप घनस्याम॥
मकराकृत कुंडल स्रवन, पीत बरन तन ईस।
सहित राधिका मो हृदय, वास करौ गोपीस ॥—सत्यनारायण

ऊपर उद्धृत छन्दों में कृष्ण की जो छवि वर्णित हुई है, उसमें वही मोर मुकुट है, वही पीतांबर है, वही काछनी है, वही किंकिणी और वनमाल है, वही मुरली और नटवर जैसा वेप है, जो सूरसागर में पाया जाता है। सूर से पूर्व विद्यापति की पदावली में भी कृष्ण की ऐसी ही छवि अंकित हो चुकी थी, पर विद्यापति का इधर व्रज या उत्तराखंड में कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। विद्यापति पूर्वीय प्रान्त को ही अपनी मधुर पदावलि से झंकृत करते रहे! उत्तराखंड में तो सूर की वीणा की ही अमंद, सरस ध्वनि गूँजती रही। इधर

के कवि उस महाप्राण की रचनाओं से ही अनुप्राणित होते रहे। हरिलीला का गायक और कृष्ण का अनन्य भक्त सूर उत्तराखण्ड के कवियों के मानस और हृदय पर विगत ४०० वर्षों से राज्य कर रहा है। उसकी काव्य-ज्योति आज तक जनता के हृदयों को आलोकित कर रही है। उस बाँके बिहारी की बाँकी छवि का उद्घाटन करता हुआ वह कहता है:—

देखि सखी बन तें जु बने ब्रज आवत हैं नँद नन्दन।
सिखंड सीस, मुख मुरलि बजावत, बन्यौ तिलक उर चंदन॥

× × × ×

सजल मेघ घनस्याम सुभग वपु तडित बसन उर माल।
सिखि सिखंड, तन धातु बिराजति सुमन सुगन्ध प्रवाल॥
कछुक कुटिल कमनीय सघन सिर गोरज मंडित केस।
सोभित मनु अम्बुज पराग रुचि रंजित मधुप सुदेस॥
कुंडल किरनि कपोल लोल छवि नैन कमल दल मीन।
प्रति अंग अंग अनंग कोटि छवि सुन सखि परम प्रवीन॥
अधर मधुर मुसक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है होति तहीं लवलीन॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १०६४)

× × × ×

नटवर वेस काछे स्याम।
पद कमल नख इन्दु सोभा ध्यान पूरन काम।
जानु जंघ सुघट निकाई नाहिं रम्भा तूल।
पीत पट काछनी मानहुँ जलज केसर झूल॥
कनक छुद्रावली पंगति नाभि कटि के भीर।
मनहुँ हंस रसाल पंगति रहे हैं ह्रद तीर॥
झलकि रोमावली सोभा ग्रीव मोतिनहार।
मनहुँ गंगा बीच जमुना चली मिलि कै धार॥

सूरसागर (ना० प्र० स० २३७३)

सूरदास के इन पदों में जो अभिनवता, जो ताजगी और जो रमणीयता है, वह उनके निर्माण काल से लेकर आज तक बनी हुई है। ऊपर जो अन्य कवियों के छन्द उद्धृत किये गए हैं, वे वस्तुतः सूर के पदों की जूठन ही प्रतीत होते हैं। सूर की भाव-राशि अमन्द आलोक में ज्योतित हो रही है।

मेरे नैंना विरह की बेलि बई।
सींचत नैन नीर के सजनी मूर पताल गई ॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३८६४)

सूर के इन पद के आधार पर कविरत्न सत्यनारायण ने निम्नांकित काव्य पंक्तियाँ लिखी हैं:—

कृष्ण विरह की वेलि नई तो उर हरियाई।
सोचन अश्रु विमोचन दोउ दल बल अधिकाई ॥
पाइ प्रेम रस बढ़ि गई तन तरु लिपटी धाइ।
फैलि फूटि चहुँघाँ छई विथा न बरनी जाइ।
अकथ ताकी कथा ।

दोनों स्थानों पर विरह का वर्णन है। पुष्टिमार्गीय भक्ति में मधुर रस के संयोग और वियोग दोनों पक्ष आते हैं। सूर का वियोग-वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। कविवर सत्यनारायण जी की पंक्तियाँ सूर काव्य की छाया लेकर लिखी गई हैं! उनके शब्द और भाव दोनों पर सूर का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। सत्यनारायण जी भावुक कवि थे। संयोगी होते हुए भी वे विरह का अधिक अनुभव किया करते थे। उनके जीवन की परिस्थिति दैववश, कुछ ऐसी ही बन गई थी। उनके लिखे हुए "माधव! आप सदा के कोरे"—टेक से प्रारम्भ होने वाले पद में भी सूर की सख्य-भक्ति से सराबोर "ऊधो, कारो कृतहि न मानें"—जैसी पदावलि की स्पष्ट छाया दिखलाई देती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी ही थे। नीचे लिखी पंक्तियों में उन्होंने आचार्य वल्लभ और गोस्वामी विट्ठल नाथ के प्रति अपनी अतुल आस्था प्रकट की है:—

श्री वल्लभ वल्लभ कहौ, छाँड़ि उपाय अनेक।
जानि आपुनों राखि हैं, दीनबन्धु की टेक ॥
जो पै श्री वल्लभ सुतहिं न जान्यों।
कहा भयौ साधन अनेक में परि कैं वृथा भुलान्यों ॥

× × × ×

हरी चन्द श्री विट्ठल बिनु सब जगत झूठ करि मान्यों।

अतएव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी की रचनाओं में यदि सूर द्वारा प्रकटी-कृत पुष्टिमार्गीय भक्ति के सिद्धांतों का प्रभाव दिखाई दे, तो कोई आश्चर्य की

बात नहीं है। भारतेन्दु ने सूर के काव्य की भाँति वेणु-गीत, होली, चन्द्रावलि की उक्तियों में खंडिता नायिका के चित्र, प्रेम-प्रसंग आदि अनेक विषयों पर कवितायें लिखी हैं! सूर ने नेत्रों पर बड़ी सुन्दर वक्रोक्तियाँ लिखी हैं। भारतेन्दु ने भी उनके अनुकरण पर नेत्रों पर उसी प्रकार की वक्रता लिए कई पदों की रचना की है। कुछ उदाहरण लीजियेः—

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तबसों भये पराये हरि सों जबसों जाइ जुरे॥
मोहन के रस बस ह्वै डोलत, तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी, ऐसे ये निगुरे॥

भईं सखि ये अँखियाँ बिगरैल।
बिगरि परीं, मानति नहिं, देखे बिना साँवरो छैल॥
भईं मतवारि धरति पग डगमग, नहिं सूझति कुल गैल।
तजिकें लाज, साज गुरुजन की, हरि की भईं रखैल॥
निज चवाव सुनि औरहुँ हरखति करति न कछु मन मैल।
हरीचन्द सब संग छाड़िकें, करहिं रूप की सैल॥

सखी ये अति उरझौंहे नैन।
उरझि परत सुरझ्यौ नहिं जानत, सोचत समुझत हैं न॥

इन पदों में हरिश्चन्द्र जी ने सूर की पद्धति का ही अनुसरण किया है। वे उन्हें बिगरैल, बुरे और उलझने वाले कहते हैं। सूर ने नेत्रों को कहीं चोर कहीं भ्रमर, कहीं शिशु, कहीं स्वच्छन्द, कहीं लोभी, कहीं अनुरागी, कहीं मृग आदि न जाने कितने रूपों में अनुभव किया है। सूर के नीचे उद्धृत पदों की भाव-राशि पर दृष्टिपात कीजियेः—

(१) मोहन बदन बिलोकत अँखियन उपजत है अनुराग।
सूरसागर (ना०प्र०स० २३६५)

(२) हरि मुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुकर रुचि पंकज लोभी नाहीं ते न उड़ाने॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २३१६)

(३) चितवनि रोके हू न रहीं।
स्यामसुन्दर सिंधु सनमुख सरिता उमँगि बही॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २३८१)

(४) लोचन टेक परे सिसु जैसें।
मांगत हैं हरि रूप माधुरी खोज परे हैं नैसें।
बारम्बार चलावत उत ही रहन न पाऊँ वैसें।
जात चले आपुन ही अब लों राखे जैसें वैसें॥
कोटि जतन करि करि परबोधति कह्यो न मानहिं कैसें।
सूर कहूँ ठग मूरी खाई व्याकुल डोलत ऐसें॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २६७७)

(५) अँखियाँ हरि के हाथ बिकानी।
मृदु मुसकानि मोल इन्ह लीन्ही यह सुनि सुनि पछितानी॥
कैसे रहति रहीं मेरे बस अब कछु औरै भाँति।
अब वै लाज मरति मोहिं देखत मिलि बैठीं हरि पाँति॥
सपने की सी मिलनि करति हैं कब आवति कब जाति।
सूर मिलीं हरि नन्द नन्दन को अनत नहीं पतियाति॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३०२०)

पुष्टिमार्गीय भक्ति रागानुगा कहलाती है, जिसमें लौकिक, वैदिक सभी मर्यादायें पीछे रह जाती हैं। हरिश्चन्द्र जी ने इस सिद्धान्त को कुल-शील, लाज, गुरुजन का साथ आदि को छोड़ने में प्रकट किया है और सूर ने कहना न मानना, ठगमूरी खाना, हरि के हाथ बिकना, किसी मर्यादा का विश्वास न करना और मुरली आदि के प्रसंगों में तो लोक-वेद-कुल-कानि को छोड़ देना आदि स्पष्ट शब्दों द्वारा अभिव्यंजित किया है।[1]

भारतेन्दु का यह पद—'रहैं क्यों एक म्यान असि दोय। जिन नैनन में हरि रस छायो तिहि क्यों भावै कोय'—भी सूर के इस पद की ही छाया है:— 'ऊधो, मन न भये दस बीस। एक हुतो सो गयौ स्याम संग, को आराधै ईस॥' इसी प्रकार-'रंग दूसरो और चढ़ेगो नहीं, अलि साँवरो रंग रंग्यो सो रंग्यो॥' यह पंक्ति भी-'सूरदास कारी कामरि पै चढ़े न दूजो रंग' के अनुकरण पर लिखी गई है। भ्रमरगीत सम्बन्धी कई पंक्तियाँ भी इसी प्रकार की हैं।

१—दोनों भक्तों की नीचे लिखी पंक्तियाँ इस विषय में ध्यान देने योग्य हैं:—
सूर—लोक वेद कुल कानि निदरि कें करत आपनों भायौ॥
हरिश्चन्द्र—प्रीति की रीति ही अति न्यारी।
लोक वेद सब सों कछु उलटी, केवल प्रेमिन प्यारी॥

भारतेन्दु की भाँति महाकवि देव की रचनाओं पर भी सूर काव्य का विपुल प्रभाव पड़ा है। सूर का नीचे लिखा दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

बाँह छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदे तें जब जाइहौ मरद बदौंगो तोहि॥

देव ने इसी दोहे के आधार पर नीचे लिखा सवैया बनाया है:—

रावरो रूप रम्यो भरि नैनन, बैननि के रस सों श्रुति सानी।
गात में देखत गात तुम्हारेइ, बात तुम्हारेइ बात बखानी॥
ऊधो हहा हरि सों कहियो तुम, हौ न इहाँ यह हौं नहिं मानौं।
या तन ते बिछुरे तौ कहा, मन तें अनतें जु बसौ तब जानौं॥

सूर के एक पद में नीचे लिखी पंक्तियाँ आती हैं:—

नयो नाहु नयो नेहु नयो रस नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
नयो पीताम्बर नई चूनरी नईनई बूँदनि भीजति गोरी॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १२०३)

देव ने इन्हीं पंक्तियों के आधार पर यह सवैया लिखा है:—

गौन भयो दिन चारि नयो, दिन वे नव यौवन ज्योति समाते॥
देखिये देव नयेई नये नित भाग सुभाग नये मदमाते॥
× × × ×
नाह नये ये नयी दुलही, ये नये नये नेह नये नये नाते॥

सूर लिखते हैं:—

गोकुल सबै गोपाल उपासी।
जोग अंग साधत जे ऊधौ ते सब बसत ईसपुर कासी॥
× × × ×
का अपराध जोग लिखि पठवत, प्रेम भजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिनि माँगति मुक्ति तजे धन रासी॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ४५४६)

सूर के इस पद में गोपिकायें सीधे-सादे ढंग से उद्धव के सामने अपना [illegible] व्यक्त कर रही हैं। वे कहती हैं, हमारा ऐसा क्या अपराध है, जो [illegible] के स्थान पर योग का उपदेश हमारे लिये भेज रहे हैं? [illegible] श्रीकृष्ण जैसे अपने सर्वस्व धन को छोड़कर [illegible] ने सूर की इस उक्ति को लेकर नीचे

लिखा कवित्त बनाया है, जो सूर के पद से कला-सम्बन्धी मूल्य में कुछ अधिक ही है:—

नेम व्रत संजम के पींजरे परे को,
जब लाज कुलकानि प्रतिबंधहि निवारि चुकीं।
कौन गुन गौरव को लंगर लगावै,
जब सुधि बुधि हू कौ भार टेक करि टारि चुकीं॥
जोग रत्नाकर में साँस घूँटि बूड़ै कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं।
मुक्ति मुक्ता कौ मोल माल ही कहा है,
जब मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकीं॥

जब मन रूपी माणिक्य ही मोहन पर न्यौछावर कर दिया गया, तो मुक्ति रूपी मोती का मूल्य ही क्या रहा?

सूर ने विरह वर्णन में गोपिकाओं की अश्रुधारा से सरिता का निर्माण किया है:—

कैसे पनिघट जाऊँ सखी री, डोलौं सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चलति है इन नैनन के नीर॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३८९३)

सम्भवतः सूर ने जयदेव की नीचे लिखी पंक्तियों के आधार पर इस भाव को अपनाया होगाः—

सर्वे त्वद् विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः।
किन्त्वेका यमुना कुरंग नयना नेत्राम्बुभिर्वर्धते॥

तोष ने इस उक्ति को सूर से लेकर नीचे लिखा कवित्त प्रस्तुत किया है:—

गोपिन के अंसुवान को नीर, पनारे वहे वहि कें भये नारे।
नारेन हू सों भईं नदियाँ, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कगारे॥
वेगि चलो, तौ चलौ ब्रज कों, कवि तोष कहै, ब्रजराज दुलारे।
वै नद चाहत सिंधु भये, अब नाहीं तौ ह्वै हैं जलाहल भारे॥

सूर ने आँसुओं से नदी का ही निर्माण किया था, तोष जी ने तो एक से दो, दो से तीन और तीन से चार का क्रम भिड़ाकर पहले पनारे, फिर नदियाँ, उसके पश्चात् नद और नद से सिंधु बनाने का उपक्रम किया है। तोष जी के कवित्त में अतिशयोक्ति की मात्रा अवश्य अधिक है, पर भाव की तीव्रता तो सूर के पद में ही है। सूर और जयदेव दोनों ने यमुना में नेत्राश्रुओं के द्वारा बाढ़ उपस्थित कर दी है।

सूर का एक पद है:—

जोग ठगोरी ब्रज न विकैहै।

× × × ×

दाख छाँड़ि कें कटुक निबौरी को अपने मुख खै है।

सूरसागर (ना०प्र०स० ४२८२)

विहारी ने इसी पद के आधार पर नीचे लिखा दोहा बनाया है:—

तो रस राच्यौ आन वस, कह्यौ कुटिल मति कूर।
जीभ निवौरी क्यों लगै, वौरी चाखि अंगूर॥

इसी प्रकार:—

चितई चपल नैन की कोर।

× × × ×

कहुँ मुरली, कहुँ लकुट मनोहर, कहुँ पट, कहूँ चन्द्रिका मोर।

सूरसागर (ना०प्र०स० ३३५७)

सूर की इन पंक्तियों को लेकर विहारी ने निम्नांकित दोहा लिखा है:—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल वेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट, कहूँ लकुट, वनमाल॥

सूर के नीचे लिखे पद का भाव ज्यों का त्यों घनानन्द जी की रचना में पाया जाता है:—

सखी इन नैननु ते घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसि-वासर सदा मलिन दोउ तारे॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३८५२)

घनानन्द जी लिखते हैं:—

घन आनन्द जीवन मूल सुजान की कौंधन हू न कहूँ दरसैं।

× × × ×

बदरा बरसैं ऋतु में घिरि कें, नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं॥[1]

---

[1]—ऊपर के पद में सूर ने व्यतिरेक द्वारा नेत्रों का वर्षा से साम्य स्थापित किया है। घनानन्द ने इस सवैये में व्यतिरेक के साथ श्लेष एवं विरोधाभास के द्वारा इन दोनों में वैसा ही साम्य स्थापित किया है। 'उघरी' शब्द [illegible] विरोधाभास का हेतु है।

घनानन्द के नीचे लिखे कवित्त पर भी सूर की छाया पड़ी है:—

सुधा तें स्रवत विष फूल तें जमत सूल,
तम उगिलत चंद भई नई रीति है।
जल जारै अंग और राग करै सुर भंग,
संपति विपति पारै बड़ी विपरीति है॥

इस कवित्त में विरह का वर्णन है। विरह में ये सभी वस्तुयें दुखदायिनी प्रतीत होने लगती हैं, जो संयोग में सुखदायिनी थीं। सूर ने इसी पद्धति पर बहुत पहले ये पंक्तियाँ लिखी थीं:—

बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजें॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ४६८६)

चातक आदि पर कुछ अन्य उक्तियाँ भी घनानन्द ने सूर से ली हैं।

पीछे हमने महाकवि देव की रचनाओं पर पड़े हुए सूर के काव्यप्रभाव की चर्चा की है। यहाँ हम दोनों की कृतियों में से भावसाम्य-सूचक कुछ अन्य छन्द उपस्थित करते हैं। देव लिखते हैं:—

बरुनी बघम्बर में गूदरी पलक दोऊ।
कोए राते बसन, भगोंहे भेष रखियाँ॥
बूड़ी जल ही में, दिन जामिनि हू जागें।
भौंहैं धूम सिर छायौ, विरहानल विलखियाँ॥
अँसुवा फटिक माल, लाल डोरी सेल्ही पैन्हि।
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ॥
दीजिये दरस देव, कीजिये संजोगिनी।
ए जोगिनी ह्वै बैठी हैं बियोगिनी की अँखियाँ॥

देव का यह कवित्त सूर के नीचे लिखे पद के आधार पर बना प्रतीत होता है:—

ऊधो, करि रहीं हम जोग।
कहा एतौ वाद ठानें देखि गोपी भोग॥
सीस सेली केश मुद्रा कनकबीरी बीर।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर॥
हृदय सींगी, टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहते हरि दरस भिच्छा दई दीनानाथ॥

योग की गति युक्ति हमपै सूर देखो जोय।
कहत हमकों करन योग सो योग कैसो होय॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ४३१२)

इसी प्रकार "हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ", शीर्षक सूर के पद को दृष्टि में रखकर देव ने[1] "हौं तौ देव नन्द के कुँवर, तेरी चेरी भई, मेरौ उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ"—इस चरण से अन्त होने वाले कवित्त को लिखा है। देव के एक कवित्त का यह अन्तिम चरण प्रायः कवियों की जिह्वा पर विद्यमान रहता है: "बड़े-बड़े नैननि सों, आँसू भरि-भरि ढरि, गोरौ-गोरौ मुख आजु ओरौ सौ बिलानों जात।" सूरदास देव से बहुत पहले ही इस भाव को निम्नांकित पद में लिख चुके थे:—

देखियत चहुँ दिस ते घन घोरे।
मानों मत्त मदन के हथियनु बल करि बन्धन तोरे॥

× × × ×

अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिनु गरत गात जैसे ओरे॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ३९२१)

राधा और माधव की भेंट दोनों के लिए परस्पर आकर्षण का हेतु बन गई। दोनों एक दूसरे के रूप और गुणों पर रीझ गये। नवीन स्नेह था, अतः दोनों का मोह-मुग्ध मन प्रेम-पाश में ऐसा आवद्ध हुआ कि राधा माधवमय बन गई और माधव राधामय। सूर इस भावना को नीचे लिखे पद में गुम्फित करते हैं:—

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गई॥

× × × ×

सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज विहार नित नई-नई।

सूरसागर (ना०प्र०स० ४९१०

देव ने इसी पद की मधुर भावना और शब्दावलि को लेकर निम्नांकि[illegible] पंक्तियाँ लिखी हैं:—

दोउन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात, रीति नेह की नई नई।

१— [illegible], पृष्ठ ४२०, छन्द २३

मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई ॥

सूर ने मुरली पर बड़ी ही मनोहारी पदावलि प्रस्तुत की है। मुरली जैसे ही बजती है, गोपिकायें वैसे ही अपने कामकाज को छोड़ कर उस वंशी-वादक की ओर चल देती हैं। उन्हें न आभूषणों का ध्यान रहता है, न वस्त्रों का; न घर के साज-सामान का और न अपने सम्बन्धियों का। वंशी की ध्वनि में कुछ ऐसा ही अद्भुत आकर्षण है। सूर लिखते हैं:—

मुरली स्याम अनूप बजाई। विधि मर्यादा सबनि भुलाई॥
निशि बन कों युवती सब धाई। उलटे अंग अभूषण ठाई॥
कोऊ चलि चरन हार लिपटाई। अँगिया कटि लहँगा उर लाई॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६०७)

तथा

सूर स्याम मुख बेनु मधुर सुनि उलटे सब व्यवहार।
सूरसागर (ना०प्र०स० १६८४)

(ना०प्र०स० पद संख्या १७६८ की प्रथम १६ पंक्तियाँ भी इसी भाव पर देखने योग्य हैं।)

देव की गोपिकायें भी मोहन की मधुर मुरली-ध्वनि से इसी प्रकार प्रभावित होती हैं। वेणु-नाद सुनते ही उन्होंने:—

भूषननि भूलि पैन्हे, उलटे दुकूल देव,
खुले भुजमूल, प्रतिकूल विधि वंक में॥
चूल्हे चढ़े छाँड़े, उफनात दूध भाँड़े,
उन सुत छोड़े अंक, पति छोड़े परजंक में,

देव जिसे भूषणों का भूल कर तथा दुकूलों का उलटकर पहिनना लिखते हैं और इस प्रकार वर्णन को सामान्यता दे देते हैं, सूर उसे विशिष्टता तथा निरावरणता देकर स्पष्ट प्रकट कर देते हैं। वे आभूषण, वस्त्र तथा अंगों का नाम भी ले देते हैं। देव के कवित्त में चित्रमयता सूर के पद से कम नहीं है। उनका समस्त वर्णन तुल्ययोगिता तथा भाव-समुच्चय का उत्कृष्ट उदाहरण है। सूर की गोपिकायें मुरली को सौति (सपत्नी)[1] समझती हैं, तो देव की गोपिकायें उसे "बैरिनि बजी है बन बाँसुरी" कह कर पुकारती हैं।

---

[1]—सूर स्याम निकुञ्जतें प्रकटी बँसुरी सौति भई आई ॥७४०॥ पृष्ठ १६०
सूरसागर (ना०प्र०स० १२७४)

अँखियन ते मुरली अतिप्यारी वह बैरनि यह सौति॥
सूरसागर (ना०प्र०स० ३०२७)

सूर के भाव-भरित भक्ति-सम्बन्धी उद्गारों में अनुभूति की इतनी अधिक तीव्रता थी कि वे सूर के मुख से निकलते ही इस देश के वायुमंडल में फैल गये और भावुक भक्तों, कवियों तथा संगीतज्ञों के कंठ-हार ही नहीं, हृदय-हार भी बन गये। ये उद्गार प्रधान रूप से पुष्टिमार्गीय भक्ति और हरिलीला से सम्बन्ध रखते हैं। हरिलीला में भी वात्सल्य और शृङ्गारपरक पदों की प्रमुखता है। रीतिकाल में अधिकतर राधाकृष्ण की शृङ्गारमयी लीला को ही लिखने वाले कवि उत्पन्न हुए। उनमें से कुछ भक्त भी हैं। पर विशुद्ध भक्तिभावना से प्रेरित होकर लिखने वालों की संख्या अल्प है। अधिकांश कवि तो यही सोचकर कविता लिखते रहे कि "आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानों है।" वस्तुतः उस युग के अधिकांश कवियों के लिये राधा और कृष्ण का नाम लेना बहाना ही था। इन नामों की आड़ में उन्होंने अपनी वासनामयी प्रवृत्ति का ही उद्घाटन किया है। हाँ, कवित्व की दृष्टि से उनकी रचनायें प्रायः उच्चकोटि की बन पड़ी हैं। सूर का प्रभाव लगभग सभी कवियों पर व्यापक रूप में दिखलाई देता है। संभव है, किसी कवि ने भागवत के अध्ययन या श्रवण से भी अपनी भाव-राशि ग्रहण की हो, पर शैलीगत विशेषता तो उसने सूर से ही ली है, इसमें संदेह नहीं।

एकादश अध्याय

सूर साहित्य की विशेषतायें

सूर साहित्य की विशेषताएँ

काव्य की कोटियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन कोटियों के निर्धारण करने में विद्वानों ने अपनी रुचि विशेष के अनुकूल प्रयत्न किया है। किसी को अलंकारमयी रचना अच्छी लगी है, तो किसी को विविध शब्दावलि से विभूषित नाना-छन्द-प्रस्तारमयी कृति ने आकर्षित किया है। किसी को वाच्यार्थ में ही समस्त अर्थों की प्रतीति हुई है, तो किसी को व्यंग्यमयी सूक्तियों में कवित्व के दर्शन हुए हैं। इन सब वादों के होते हुए भी रस को काव्य की आत्मा असंदिग्ध रूप से प्रायः सभी ने स्वीकार किया है।

कुन्तक की वक्रोक्ति और आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त का अभिव्यंजनावाद रस-कोटि के निकट आ गए हैं। महात्मा सूरदास की रचना रसमयी है, इससे तो कोई भी सहृदय पाठक असहमत नहीं है। उनका सूरसागर वस्तुतः वात्सल्य और शृङ्गार रस का अगाध सागर है। एक ही क्षेत्र के विविध-रूप भावों की जो राशि सूरसागर में सन्निहित है, वह अन्यत्र ढूँढ़ने से मिलेगी।

वात्सल्य—वात्सल्य रस की पूर्ण प्रतिष्ठा करने का श्रेय तो महात्मा सूरदास को ही दिया जा सकता है। वे इस रस के धनी हैं। उनके सूरसागर की प्रख्याति एवं प्रचार के प्रमुख कारणों में उनका वात्सल्य रस का चित्रण भी है। सूर ने इस रस के समस्त अंग-प्रत्यंगों का वर्णन किया है। वात्सल्य रस के अंतर्गत जितनी मनोदशायें तथा क्रीड़ा-कौतुक के विधान आ सकते हैं, उन सबका अत्यन्त हृदयहारी वर्णन सूरसागर में उपलब्ध होता है। बच्चों की छवि और उससे उत्पन्न सुख की राशि का अनुभव, उसके गभुआरे केश, आकर्षक नेत्र, मनोमुग्धकारी तोतली बोली, अपनी छाया को अपने ही हाथ से पकड़ने की इच्छा, अपने मुख-प्रतिविम्ब को देखकर उसे दूसरा बालक समझना और हाथ का मक्खन उसे खाने के लिये देना, खिलखिलाते हुए आगे के दो दाँतों का प्रकाश, हाथ और पैरों की रमणीय शोभा, गीत गा-गाकर और धीरे-धीरे थपकियाँ देकर बच्चों को सुला देना, बच्चा सोने से जग न पड़े, इसलिये माता का

संकेतों द्वारा दूसरों से वार्तालाप करना इत्यादि अनेक गार्हस्थ्य-दिनचर्या-सम्बन्धी अत्यन्त सामान्य एवं घरेलू बातों का वर्णन सजीव और स्वाभाविक रूप में सूर सागर के अन्तर्गत हुआ है। सूरसागर वात्सल्य रस के चित्रों से ओतप्रोत है।

शृंगार—हरिलीला शृङ्गार परक है और इसीलिए वह संयोग और वियोग दो पक्ष रखती है। भ्रमरगीत वियोग-पक्ष को लेकर लिखा गया है। उपालम्भ के इतने सुन्दर चित्र अन्यत्र नहीं मिलेंगे। भ्रमरगीत में व्यंग्य और चित्रात्मकता दोनों ओतप्रोत हैं। भ्रमरगीत का एक उद्देश्य भी है। यह है ज्ञान के ऊपर भक्ति की, योग के ऊपर प्रेम की और निर्गुण के ऊपर सगुण की विजय स्थापित करना। पुष्टि मार्ग अपने स्वरूप में योग, ज्ञान, कर्म, तप, यज्ञ आदि सभी की निरर्थकता सिद्ध करता हुआ भक्ति को ऊँचा पद देता है। भ्रमरगीत में इसी तथ्य का निरूपण पाया जाता है।

सूरदास ने युवावस्था की शारीरिक वासनाओं का अपने ढंग से परिष्कार किया है। उसने इन्द्रियजन्य संवेदनाओं को अतीन्द्रिय जगत की मनोहारिणी, काल्पनिक सौंदर्य-धारा में निमज्जित कर दिया है! उसने कृष्ण का जहाँ-जहाँ रूप-चित्रण किया है, वहाँ-वहाँ उसे अपार्थिव रूप में ही चित्रित किया है। गोपियों के भाव-प्रवण हृदय के सामने कृष्ण सदैव अनिन्द्य, सुन्दर शोभा-सिन्धु के रूप में ही उपस्थित होते हैं। विद्यापति से इस विषय में सूर ने भिन्न पथ का अवलम्बन किया है। विद्यापति के एकान्त पार्थिव कृष्ण को सूर ने अपार्थिव बना दिया है। इसी कारण जहाँ सूर के विरह-वर्णन में निराशा ही निराशा परिलक्षित होती है, वहाँ विद्यापति प्रत्येक पद में गोपियों को आशा का संदेश देते चलते हैं। सूरसागर में गोपियों के प्रेम की पीर गंभीर आँसुओं की कभी न सूखने वाली धारा बनी हुई है। "देखियत कालिन्दी अति कारी" इस टेक से प्रारम्भ होने वाला पद इस उक्ति की पुष्टि में उपस्थित किया जा सकता है। सूर का विरह भी सामान्य विरह नहीं है, जो केवल सजीव हृदय को ही पीड़ित करता हो। यह वह विरह है जो चेतन, अर्ध चेतन तथा अचेतन सभी को प्रभावित कर रहा है। प्रभाव की यह अवस्था संयोग और वियोग दोनों पक्षों में [illegible] प्रदर्शित की है। संयोग के अवसरों पर जब मोहन मुरली बजाने लगते हैं, [illegible], जल, अनल, चराचर, झरने, खग, मृग, धेनु, द्रुम, लता, [illegible], पवन, सरिता, सभी मोहित हो जाते हैं। वियोग के अवसर पर कालिन्दी [illegible], [illegible], [illegible] आदि भी कृष्ण के विरह का वैसा ही अनुभव करने लगते हैं। [illegible] होता है।

मानवता की विश्वजनीन भावनाओं में विश्वास रखनेवाला हृदय प्रेम से व्याकुल और व्यथित होकर भी अपनी भावना में आनन्द की संभावना कर सकता है। यह भावना व्याकुलता में शीतलता का संचार करती है और विषाद में आह्लाद को आश्रय देती है। मानव-जीवन के अधिक निकट यह है भी। सूर ने यद्यपि अपार्थिव एवं अलौकिक सत्ता के प्रति अपनी प्रेमाभिलाषाओं की अभिव्यंजना की है, और इसीलिए उनकी अनुभूतियाँ अत्यन्त तीव्र और मार्मिक बन सकी हैं, परन्तु इसके साथ ही मानव-बुद्धि इनके कारण उलझन और संभ्रम में भी पड़ी है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति मानवोचित एवं लौकिक न रहकर रहस्यमयी बन गई है। यह भी ठीक है कि भ्रमरगीत में उद्धव ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन गोपियों के सम्मुख किया है, उसके अनुसार वासनाओं की अतृप्ति अथवा निवृत्ति का पथ जीवन-सुधार का मार्ग है। सूर ने उद्धव के इस सिद्धांत का खण्डन किया है और उन्होंने हरिलीला का गायक होने के कारण वासनाओं की शृङ्गारमयी तृप्ति को साधक ही समझा है। फिर भी स्थान-स्थान पर अलौकिकता की ओर संकेत करते रहने से मानव-मस्तिष्क के लिए कुछ उलझन तो पैदा हो ही जाती है। हरिलीला में प्रभु का अमित सौन्दर्य साधकों को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। सूर ने इस सौन्दर्य के अनेक अनाघ्रात चित्र खींचे हैं। उन्होंने कहीं-कहीं अन्तहीन विराट सौन्दर्य-चित्रों की भी अवतारणा की और उनकी समता मानव-सौन्दर्य से की है। इस प्रकार वे मानव-सौन्दर्य अलौकिकता को वास्तविकता की भूमि पर उतार लाये हैं। प्राकृतिक दृश्य प्रेमी जो शृङ्गारिक चित्रों को पढ़कर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, यदि ऐसे स का अनुशीलन करेंगे, तो उन्हें प्रतीत होगा कि मानव सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्द भी ऊपर उठ सकता है। वस्तुतः जायसी आदि सूफी कवियों ने जिस सौन्दर्य का दर्शन प्राकृतिक क्षेत्र में किया, वह मानव के चेतन रूप झलक रहा है। परन्तु इसको दिखाने के लिए सूर और तुलसी जैसा दृष्टि का कवि चाहिए। इन कवियों ने प्रकृति को भी विस्मृत नहीं कि तुलसी का चित्रकूट वर्णन, सूर का व्रज, निकुञ्ज, यमुना, प्रभात आदि व इसके साक्षी हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों का समन्वय आर्य संस्कृति की रही है और वह इन कवियों की कृतियों में भी विद्यमान है।

व्यंजना—आचार्यों ने व्यंजना-प्रधान काव्य को सर्वोच्च काव्य कहा है। सूरसागर से बढ़कर किसी अन्य व्यंग्य-प्रधान काव्य असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। "सूरदास और शृङ्गाररस" शी अध्याय में हम सूर की आध्यात्मिक अभिव्यंजनाओं का पर्याप्त उल्ले

हैं। स्व० आचार्य शुक्ल जी ने "नन्द व्रज लीजै ठोंकि बजाय" टेक से प्रारम्भ होने वाले पद में अत्यन्त सुन्दर भाव-शबलता की अभिव्यंजना प्रदर्शित की है। सूर का भ्रमरगीत व्यंग्य के सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करता है।

दृष्टकूट—व्यंजना से मिलती-जुलती एक शैली दृष्टकूट की भी है। सूरदास ने अपनी भावराशि को चित्रित करने में इस शैली का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। व्यंजना में यदि एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक ध्वनि द्वारा पहुँचा जाता है, तो दृष्टकूट शैली में कई शब्दों से एक मुख्य अभिप्रेत शब्द के ग्रहण द्वारा एक नवीन अर्थ प्राप्त किया जाता है, जो प्रयुक्त शब्दों से एकदम पृथक होता है। दोनों शैलियों में इस प्रकार मार्ग-विभिन्नता होते हुए भी एक चमत्कारमयी वक्रता सन्निहित रहती है, जो अभिनव अर्थ को प्रस्तुत करती है। हरिलीला के गायक सूर ने लीला की विनोदप्रियता को ध्यान में रखते हुए शब्द और अर्थ दोनों के साथ जो विनोद किया है, वह अतीव उपयुक्त है। दृष्टकूट शैली यदि शब्दों के साथ क्रीड़ा करती है, तो व्यंजना का विनोद भावों की विविध रूपता में परिलक्षित होता है। 'सूरसौरभ' में सूरसागर की शैली का उद्घाटन करते हुए हमने महात्मा सूरदास की क्रीड़ामयी, लीला-प्रधान वृत्ति का प्राचुर्य से वर्णन किया है। जो लीला नित्य और शाश्वत है, वह अक्षर ब्रह्म और भाव ब्रह्म में प्रकट होनी ही चाहिए। सूरसागर में आए हुए दृष्टकूटों को हमने सूरसौरभ के परिशिष्ट २ और ३ में अंकित कर दिया है। सूर की साहित्यलहरी तो प्रमुख रूप से इसी दृष्टकूट शैली में लिखी गई है।

कल्पना—भावों की विशाल भूमिका में विचरण करने के लिए कवि को प्रखर एवं तीव्र कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। जिस कवि की कल्पना जितनी ही प्रखर होगी, उतने ही अधिक भावों के चित्र वह उतार सकेगी। सूर की कल्पना का तो कहना ही क्या? इसी कल्पना के बल से सूर ने निर्जीव से निर्जीव पदार्थ में भी जान डाल दी है और साधारण से साधारण वाक्य को गंभीर अर्थ-गर्भित बना दिया है। इसी के सहारे उसने अनेक भावचित्रों की अवतारणा की है। एक ही दृश्य पर दो कल्पनाओं का चमत्कार देखिए:—

> चलत पद प्रतिबिम्ब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
> जलज संपुट सुभग छवि भरि लेत उर जनु धरनि॥

× × × ×

> कनक भूमि पर कर पग-छाया यह उपमा इक राजत।
> करि कर, प्रति पद, प्रति मनि बसुधा कमल बैठकी साजत॥

नन्द के भवन में मणि-जटित आँगन है। कृष्ण उसमें घुटनों के बल चल रहे हैं। मणियों पर उनके हाथ, पैर और घुटनों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। सूर कहते हैं:—यह प्रतिबिम्ब मानों कमल का दोना है, जिसमें श्रीकृष्ण की छवि को भरकर पृथिवी अपने हृदय में धारण कर रही है। अथवा आँगन की स्वर्ण भूमि में जड़े हुए मणियों पर जो हाथ और पैरों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह कमलों के समान है। आज रत्नों को धारण करने वाली वसुधा ने इन कमलों की पंखुड़ियों से अपनी बैठक सुसज्जित की है, और इस बैठक में वह सौन्दर्य के सदन श्याम को मनोज्ञासन देकर सम्मानित करना चाहती है। इस कार्य द्वारा वह स्वयं भी सम्मानित हो रही है, क्योंकि आज साक्षात स्वर्ग उसके समीप आ गया है।

मुरली पर सूर ने कई कल्पनाएँ की हैं। एक कल्पना देखिए और उस पर विचार कीजिये:—

"मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुनरी सखी जदपि नन्द नन्दहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाँय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै आवति॥
अति आधीन, सुजान कनौड़े गिरधर नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल कोपि नासापुट हम पर कोपि कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सुसीस डोलावति॥"

यहाँ मुरली को एक धृष्ट स्त्री का रूप दिया गया है, जो पति को अपने शासन में रखती है। वह अधिकारपूर्वक आज्ञा देती है, तो पतिदेव श्रीकृष्ण एक पैर से खड़े हो जाते हैं। इस मुद्रा में वह उन्हें देर तक रखती है। श्रीकृष्ण के अंग कोमल हैं, अतः बहुत देर तक एक पैर से खड़े रहने के कारण उनकी कमर टेढ़ी हो जाती है। पर हैं वे स्त्री के वशीभूत, उसके अत्यन्त आधीन। अतः जैसे ही वह कुछ कहती है, श्रीकृष्ण गर्दन झुकाकर उसे शिरोधार्य करते हैं। इतना ही नहीं, धृष्टता उस समय सीमा का उल्लंघन कर जाती है, जब मुरली (पत्नी) कृष्ण के अधरों को शैया बनाकर लेट जाती है और उनके हाथों से अपने पैर दबवाती है। कृष्ण को यह सब कुछ करना पड़ता है। उनकी भृकुटी टेढ़ी हो जाती है, नासापुट फड़कने लगते हैं। इस रूप में मानों मुरली गोपियों (सपत्नियों) पर स्वयं क्रोध करती है और श्रीकृष्ण

से भी कराती हैं। इस प्रकार द्विगुणित क्रोध उसकी सपत्नियों पर जाकर टूटता है। मुरली बजाने के समय श्रीकृष्ण के अधर और शिर हिलने लगते हैं। इससे उनकी प्रसन्न मुद्रा प्रकट होती है। सूर कल्पना करते हैं कि मुरली उन्हें प्रसन्न देखती है, तो अधर और शिर को भी हिलाने लगती है।

इस पद में जिन शृङ्गारी भावों की अभियंजना हुई है, क्या सूर के वास्तव में वही लक्ष्य थे ? नहीं, थोड़ी देर सोचिये, विचार कीजिए। इन भावों की लपेट में सूर लिख क्या रहे हैं ? एक अत्यन्त साधारण बात। मुरली बजाने के समय श्रीकृष्ण की जो त्रिभंगी मुद्रा हो जाती है, सूर उसी मुद्रा का चित्र खींचना चाहते हैं। चित्र पूरा खिंच जाता है, पर पाठक उसे थोड़ी देर में विचार करने के अनन्तर समझ पाते हैं। सूर की यही तो विशेषता है कि वे पार्थिव, मूर्त पदार्थ तक को चेतना के सजीव आवरण में लपेट कर उपस्थित करते हैं, अचर को चर बना देते हैं, प्रकृति को चिति में परिवर्तित कर देते हैं।

मुरली के प्रसंग में एक पद और देखिए:—

"ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु।
बूझहु जाय स्याम सुन्दर कों जेहि विधि जुर्‌यौ सनेहु॥
बारे ही तें भई विरत चित, तज्यो गात गुन गेह।
एकहि चरन रही हौं ठाढ़ी, हिम ग्रीसम ऋतु मेह॥
तज्यो मूल साखा स्यों पत्रनि, सोच सुखानी देह।
अगिन सुलाकत मुर्‌यो न मन, अंग विकट बनावत बेह॥
बकती कहा बाँसुरी कहि-कहि करि-करि तामस तेहु।
सूर स्याम इहि भाँति रिझै कैं तुमहु अधर रस लेहु॥"

इस पद में केवल मुरली का बाह्य रूप अंकित हुआ है। किस प्रकार और कैसा उसका निर्माण हुआ, बस यही बात सूर कहना चाहते हैं। पर इतना करने के लिये वे चेतन जगत की अत्यन्त मार्मिक भाव-विभूति को अंकित कर गये हैं। उसे चाहे लौकिक शृङ्गार की भूमि में रखकर अनुभव कीजिये और चाहे विशुद्ध पुष्टिमार्गीय भक्ति की भाव-भूमिका में पहुँच कर देखिए। अत्यन्त चेतन, सरस और भाव-भरित अवस्था है।

लौकिक शृङ्गार में पत्नी पति के प्रेम को अनेक कृच्छ्र साधनाएँ करने के उपरान्त प्राप्त करती है। मुरली ने अपने जीवन-काल के प्रारम्भ से ही वैराग्य ग्रहण किया है। अपने गाँव, गुण और गृह सभी का ममत्व उसने त्याग कर दिया। एक पैर से खड़ी रहकर उसने हिम, ग्रीष्म और वर्षा

ऋतुओं में कठोर तपश्चर्या की। चिन्ता में उसका समग्र शरीर सूख गया। अपने मूल, शाखा और पत्तों तक का उसने परित्याग कर दिया। यही नहीं, उसने अग्नि परीक्षा भी दी। बाँस में छेद करने के समय उसे अग्नि में तपाया गया। तब कहीं जा कर वह मुरली बनी, वह मुरली जिसे कृष्ण ने अपने अधरों पर रखकर सम्मान दिया। गोपिकाओ! क्रोध में आकर और वंशी कह-कह कर तुम उसका क्या तिरस्कार करती हो? यदि तुम्हारे अन्दर शक्ति है, तो तुम भी इसी प्रकार की साधना एवं तपस्या करके कृष्ण को रिझा लो और उनके अधरामृत का पान करो।

भक्ति की भूमिका में भगवान को रिझा लेना, अपनी ओर आकर्षित कर लेना, कोई खेल नहीं है। बड़ी रगड़ लगानी पड़ती है। (कोटि जनम लगि रगर हमारी। बरहुँ संभु नतु रहौं कुमारी) सतत अभ्यास करना पड़ता है; बराबर जब एकटक रूप से, उधर ही लगन लगी रहे, कष्टों का पहाड़ टूट पड़े, पर लगन न टूटे, तब कहीं जाकर प्रभु का अनुग्रह प्राप्त होता है।

मुरली का निर्माण बताकर सूर हमें कहाँ-कहाँ ले गये। उनकी यही बान है। उनका यही स्वभाव है। वह कविकुल-कमल-दिवाकर विशुद्ध भाव-धारा में अवगाहन करने वाला है। मानसिकता, सजीवता, स्फूर्तिमयता, चेतनता यही तो उसका क्षेत्र है। जिसने चिति से लेकर महाचिति तक, अवम से लेकर परम चेतन तत्व तक अपने पाठकों को पहुँचा दिया, वह वास्तव में धन्य है, अजरामर है। ऐसे ही कवि शाश्वत काल तक मानव-स्मृति में जीवित रहते हैं।

चित्रात्मकता—सूर ने सौन्दर्य के अनेक चित्र अंकित किये हैं। यह चित्र जहाँ बाह्य छवि से सम्बन्ध रखते हैं, वहाँ आन्तरिक सौन्दर्य को भी पाठकों के मानस-पटल पर अंकित कर देते हैं। सूर की मर्मभेदी दृष्टि बाह्य आकार तक ही सीमित नहीं रहती, वह उसके अन्तस्तल तक प्रवेश कर जाती है। सूर अपने सामने आए हुए दृश्य को चारों ओर से देखने का प्रयत्न करते हैं। उनकी पैनी दृष्टि बाह्य आवरण को विद्ध करती हुई उसके अन्दर प्रविष्ट हो जाती है और वहाँ के कोने-कोने की झाँकी लेती है। इतना गम्भीर अवगाहन किसी अन्य मरजीवा कवि के भाग में नहीं पड़ा। बालछवि और मातृ-हृदय की अनुभूति जितने व्यापक रूप में सूरसागर में अंकित हुई है, उतनी और किसी कवि के काव्य में नहीं। सूर यहाँ सबसे ऊँचे खड़े हैं, अतुल, अप्रतिम। बाह्य एवं आन्तरिक छवि के चित्र भी चल और अचल दोनों रूपों में उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण लीजिये :—

लट लटकन, मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलि सावक पंगति उठति मधुप छवि भारी॥

कमल और उस पर बैठे हुए भ्रमर शावकों का कैसा संश्लिष्ट अचल चित्र यहाँ अंकित हुआ है।

चलित कुंडल गंड मण्डल झलक ललित कपोल।
सुधा सर जनु मकर क्रीड़त इन्दु डह-डह डोल॥

सुन्दर कपोलों पर हिलते हुए कुण्डलों की चञ्चल झलक पड़ रही है, मानों अमृत के तालाब में मकर क्रीड़ा कर रहा हो और चन्द्रमा मन्द गति से घूम रहा हो ! चलचित्र का कैसा विचित्र रूप है यह ! ये तो बाह्य सौन्दर्य के उदाहरण हैं। आन्तरिक सौन्दर्य के भी कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

स्याम कहा चाहत से डोलत।
बूझे हू ते बदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत।
सूने निपट अँध्यारे मंदिर दधि भाजन में हाथ।
अब कहि कहा बने हौ ऊतर कोऊ नाहिंन साथ॥
मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे में आयो।
देखतु हौं गोरस में चोंटी काढ़न कों कर नायो॥
सुनि मृदु वचन निरखि मुख सोभा ग्वालिनि मुरि मुसुकानी।
सूर स्याम तुम हौ रतिनागर, बात तिहारी जानी॥

एक दिन संध्या के समय कृष्ण किसी गोपी के घर में पहुँचे और दही के मटके में हाथ डाल दिया। उसी समय गोपी ने उन्हें देख लिया और पकड़ कर बोली "कहिये हज़रत, अब आप क्या उत्तर देते हैं ?" एक तो अँधेरा, दूसरे अकेले, भट कृष्ण को एक बात सूझी। वे बोले:--"मैंने तो समझा था कि यह मेरा घर है। दही के मटके में चींटी पड़ गई थी, उसे निकालने के लिए मैंने उसमें अपना हाथ डाल दिया।" यह सुनते ही गोपी मुड़कर हँसने लगी। यह है आन्तरिक मन का सौन्दर्य, बुद्धि का वैभव, अन्तस्तल का चातुर्य। इसी प्रकार:—

"मैया मैं नाहीं माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।"

आदि पद के अनुसार मुख में लगे हुए दही को तुरन्त पोंछ डालना और दोने को पीठ के पीछे छिपा लेना, कृष्ण के आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकट कर रहा है।

कृष्ण के इसी बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य को अनुभव करके गोपियाँ यह अभिलाषा करने लगी थीं:—

कोउ कहति केहि भाँति हरि को देखौ अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ खाइ जितनौ स्याम॥
कोउ कहति मै देखि पाऊ भरि धरौ अँकवारि।
कोउ कहै मैं बाँधि राखौ को सकै निरुवारि॥

सौंदर्य चित्रों के साथ सूर ने भयानक, करुण, रौद्र एव हास्य प्रधान चित्रो की भी अवतारणा की है। वर्षा तथा दावानल के वर्णन में कई भयानक चित्र अंकित किये है। "घहरात, अररात, दररात सररात" जैसे ध्वन्यात्मक शब्दो के द्वारा उन्होने भयानकता का चित्र-सा उपस्थित कर दिया है। "देखी मैं लोचन चुअत अचेत" शीर्षक पद में राधा का अत्यन्त करुण चित्र अंकित हुआ है। हास्यरस के चित्र बाल-क्रीड़ा के प्रसंगों में बहुलता से आये है। सूर की हास्यमयी विनोदी वृत्ति भ्रमरगीत में भी प्रकट हुई है।

भावात्मकता—हरिलीला का वर्णन गाथा-रूप में होते हुए भी भावात्मक है। सूरदास ने एक ही विषय पर अनेक पदो की रचना की है, पर उन पदो में भावैक्य नही है। प्रत्येक पद में भिन्न-भिन्न भावो का समावेश किया गया है। इसी हेतु एक विषय से सम्बन्ध रखने वाले कई पदो को पढ़ते हुए पाठक का मन ऊबने नही पाता। कृष्ण पालने पर लेटे हुए पैर का अंगूठा पी रहे है-इस विषय के वर्णन में एक स्थान पर प्रलयकालीन विस्मय-जनक दृश्यो का उद्घाटन है, तो दूसरे स्थान पर साक्षात् कृष्ण द्वारा उस चरणारविन्द के रस को प्राप्त करने की अभिलाषा। यही बात मुरली, नेत्र आदि अनेक विषयो पर लिखे हुए पदों के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

रचनाओं का सैद्धान्तिक आधार: आचार्य वल्लभ से ब्रह्म-सम्बन्ध होने से पूर्व सूरदास ने जो कुछ लिखा था, वह भी उनकी धार्मिक भावना का ही परिणाम था; परन्तु उस पर किसी सम्प्रदाय विशेष की छाप नहीं लगी थी। सामान्यत: सन्त जन जिस प्रकार भक्ति और वैराग्य के पद बनाकर गाया करते थे, सूरदास के पद भी उसी प्रकार के होते थे। इसीलिए इन पदों में आचार्य वल्लभ को अपनी सिद्धावस्था के अनुकूल हरिलीला-सम्बन्धी वह सामग्री न दिखाई दी, जो उनके पुष्टि-मार्ग का मुख्य आधार थी। परन्तु सूर ने पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होकर जो कुछ लिखा, वह प्रमुख रूप से हरिलीला गायन से ही सम्बद्ध है। उनका सूरसागर हरिलीला का प्रधान काव्य कहा जा सकता

है। सूरसागर में भगवान की बाल एवं किशोर अवस्थाओं के चित्रण के साथ ऐसी लीलाएँ सम्बद्ध हैं, जिनसे हमारे बाह्य एवं आन्तरिक करणों की तन्मयता सहज सिद्ध होती है। इन लीलाओं में पुष्टि मार्ग के प्रवाही, मर्यादा मार्गी तथा शुद्ध पुष्ट जीवों के वर्णन आ जाते हैं। राधा कृष्ण की संयोग लीलाएँ, वसन्त, हिंडोल और फाग आदि के गीत उस परम मधुर रस के व्याख्यान हैं, जिनमें प्रेमा भक्ति अपने विशद रूप से चरितार्थ हुई है। खंडिता के पद, मान-लीला तथा भ्रमरगीत परम विरह का चित्रण करने वाले हैं। इनके बिना प्रेम की परिपक्वता सिद्ध नहीं होती। वैष्णव सम्प्रदाय की यह विशिष्ट प्रेम-पद्धति है। विप्रलम्भ शृङ्गार प्रेम की परम पूत अवस्था को प्रकट करने के लिए परम आवश्यक है और सूर ने अत्यन्त भाव-भरित कला के रूप में उसका परिचय भी दिया है। सूरसारावली और साहित्यलहरी भी पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली हैं। सूरसारावली में सूरसागर का सैद्धान्तिक सार निहित है। साहित्यलहरी अलंकार एवं नायिका भेद को लेकर चली है, पर विषय उसका भी राधा एवं कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना ही है। इसके निर्माण का मुख्य हेतु नन्ददास को काव्य शास्त्र की शिक्षा के साथ हरिलीला की ओर उन्मुख करना था।

महात्मा सूरदास जी श्रीनाथ मन्दिर में कीर्तन किया करते थे और पुष्टि सम्प्रदाय के अनुसार जो नित्य और नैमित्तिक उत्सव मन्दिर में मनाए जाते थे, उन्हीं से सम्बन्ध रखने वाले पदों को बनाकर गाया करते थे। एक विषय से सम्बन्ध रखने वाला पद जब एक बार बन गया, तो दूसरी बार नवीन पद बनाया जाता था और इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरा अभिनव पद निर्मित होता जाता था। सूरसागर इस प्रकार के सहस्रों नित-नूतन पदों का संग्रह है। पुष्टिमार्ग में कुछ विशेष उत्सवों के मनाने का भी प्रबन्ध किया गया था, जैसे राधाष्टमी, श्याम-सगाई, चन्द्रावली की बधाई, दान-लीला, गाय खिलाना आदि। नित्य-सेवा में भी जागरण, कलेवा, मंगला आदि विविध लीलाएँ आती हैं। इन सब लीलाओं पर सूर ने प्रभूत मात्रा में पदों की रचना की होगी, जिनमें से अब केवल ६,००० के लगभग पद बचे हैं। यदि हम सूर की रचनाओं का अध्ययन हरिलीला के सिद्धान्त पक्ष को समझ कर करें, तो हमें सूर की रचनाओं का विशिष्ट सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट रूप से अनुभूत होगा।

स्वाभाविक एवं साधारण सुलभ वर्णन : सूरसागर में जिन घरेलू परिस्थितियों का चित्रण है, वे अत्यन्त स्वाभाविक रूप लिए हुए हैं। कृत्रिमता का आरोप उन पर कहीं भी लगा हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। साथ ही ये वर्णन

साधारण जनता की दिनचर्या के निकट और उसकी सामान्य अनुभूतियों के सहज साथी हैं। श्रीकृष्ण के बाल-वर्णन में जिस प्रकार की स्वाभाविकता और सामान्य जन-सुलभ अनुभूति प्रकट हुई है, शृङ्गार वर्णन में भी उसी प्रकार की है। नीचे लिखे पद में यशोदा के मन की अभिलाषा प्रत्येक मातृ-हृदय के निकट और सहज रूप की है:—

यसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दन्त दूध के देखौं कब तुतरे मुख वैन भरै।
कब नन्दहिं कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहिं ररै।

बच्चा कब बड़ा होकर घुटनों के बल चलेगा, कब उसके दाँत निकलेंगे, तोतली वाणी से अम्मा-अम्मा कहता हुआ वह कब दौड़ता हुआ मेरे पास आयेगा—इसी प्रकार की आकांक्षायें प्रत्येक माता की होती हैं। बालक के दुख की आशंका से माँ का हृदय कैसा धड़कने लगता है, यह कनछेदन संस्कार के समय अत्यन्त प्रकृत रूप में व्यंजित हुआ है।[1]

राधा का अपनी माँ के आगे मचलना, रुठना और अपनी टेक पर अड़े रहना, मनाने पर और भी अधिक रोने का ढंग करना, फिर माँ का रीझना और पुचकारना आदि ऐसे प्रसंग हैं, जिन्हें प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन अनुभव किया करता है। इन स्वाभाविक तथा साधारण-सुलभ प्रसंगों का उल्लेख हम 'सूर सौरभ' में मातृ-हृदय की अभिव्यक्ति के अन्दर कर चुके हैं।

उक्ति-चमत्कार—वर्ण्य विषय के सहज सुलभ तथा स्वाभाविक वर्णन के साथ सूर की रचना में उक्ति-चमत्कार भी भरा पड़ा है। किसी बात को कहने के न जाने कितने ढंग सूर को आते थे। बाल-कृष्ण के बुद्धि-वैभव का अनुभव करके एक गोपी ने पूछा—"कहाँ तुम यह बुद्धि पाई स्याम चतुर सुजान।" कृष्ण से पूछा गया यह प्रश्न वस्तुतः सूर के चातुर्य पर ही प्रकाश डालता है। दधि में पड़ी चीटियों को निकालने का बहाना, छोटे हाथों ऊँचे सींके तक न पहुँच सकने का तर्क, मुख के दही को पोंछ डालने और दोने को पीठ पीछे ले जाने का उल्लेख उक्ति-चमत्कार के ही अन्तर्गत आता है। सूर की नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना ने एक ही बात को अनेक रूपों में वर्णन करके उक्ति के पिष्टपेषण से उत्पन्न बासीपन को सदैव के लिए दूर कर दिया है। उन्होंने एक ही विषय को पूर्ण सफलता के साथ विविध प्रकार से चित्रित किया

१—"लोचन भरि आये माता के कनछेदन देखत जिय मुरकी।"

है। सूर का विषय परिमित है, पर इस परिमित विषय पर ही सहस्रों पद रचना लेना हँसी खेल नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन—"सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है, उतनी ही वाग्विदग्धता भी"—सूरसागर में समाविष्ट नाना उक्तियों के चमत्कार का ही प्रतिपादन करता है। वाग्विदग्धता के कारण सूर की शैली में कथन की विशेषता आ गई है। सामान्य से सामान्य बात को उन्होंने चमत्कारपूर्ण शैली में अभिव्यंजित किया है। हाँ, उनकी चमत्कृति में माथापच्ची नहीं, कृत्रिमता नहीं, सर्वत्र स्वाभाविकता, विशदता और प्रसन्नता के ही दर्शन होते हैं। भ्रमरगीत में ज्ञानयोग का खण्डन करते हुए सूर लिखते हैं:—"आयो घोष बड़ो व्योपारी, लादि खेप गुन ज्ञान योग की व्रज में आइ उतारी। फाटक देकर हाटक माँगत भोरै निपट सुधारी, धुर ही तैं खोटो खायौ है लिये फिरत सिर भारी।" इस कथन में कितना चमत्कार है। गोपियों के प्रेम को लेकर उद्धव ज्ञानयोग दे रहे हैं। यह कार्य वैसा ही है, जैसे कोई फटकन (भुसी) देकर किसी से सोना ले ले। भला कौन ऐसा भोला-भाला है, जो सोना देकर व्यर्थ की भुसी ग्रहण करेगा। भ्रमरगीत में उक्ति-चमत्कार का विशेष रूप से सन्निवेश हुआ है।

आध्यात्मिकता—सूर की एक प्रवृत्ति यह भी है कि वे किसी घटना को अंकित करने के उपरान्त अथवा कल्पना द्वारा किसी दृश्य चित्र को चित्रित करने के पश्चात पद की अंतिम पँक्ति में इस धरातल को छोड़ देते हैं और शुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र में विहार करने लगते हैं। यह प्रवृत्ति तुलसी और जायसी जैसे संत कवियो में भी दिखलाई पड़ती है। सूर की यह प्रवृत्ति नीचे लिखी पंक्तियों से प्रकट होती है:—

"सूरदास को ठाकुर ठाढ़ौ, लिए लकुटिया छोटी।"

तथा

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नन्द भामिनि पावै।"

तुलसी की यह प्रवृत्ति रामचरितमानस के चारों वक्ताओं के भाषणों द्वारा प्रकट होती है। पद-पद पर राम की गाथा का वर्णन करते हुए वे उनके ईश्वरत्व की याद दिलाते चलते हैं। जायसी ने तो अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ पद्मावत को अपने शब्दों में ही एक वृहत् अन्योक्ति मान लिया है। पद्मावती और रत्नसेन की कहानी केवल नाम के लिए कहानी है। वास्तव में न कोई पद्मावती स्त्री है, न रत्नसेन राजा। समग्र कथानक आध्यात्मिक है, जिसमें चित्तौड़

शरीर है, रत्नसेन मन है, सिंहलगढ़ हृदय है और पद्मावती बुद्धि है। कथानक के बीच में अवसर पाते ही जायसी अध्यात्म क्षेत्र की बातें करने लगते हैं। सिंहलगढ़ की अमराई के वर्णन में वे कहते हैं:—

"जेहि पाई यह छाँह अनूपा।
सो नहिं आइ सहै यह धूपा॥"

इन अर्द्धाली में स्पष्ट रूप से प्रभु की छाया (कृपा) और उसके द्वारा आवागमन से उत्पन्न संकटों एवं सन्तापों के दूर होने का वर्णन है। इसी प्रकार सूर भी गाथा गाते हुए सूर के ईश्वरत्व का उल्लेख करते चलते हैं। सूरदास ने कहीं-कहीं अत्यन्त विस्मय-जनक एवं आश्चर्यकारी दृश्यों की अवतारणा की है। इन दृश्यों का मुख्य उद्देश्य उस रहस्यमयी भावना की ओर ले जाना है, जो विश्व के मूल में सन्निहित है। कृष्ण के अँगूठा पीने से ही शिव चौंक पड़ते हैं, ब्रह्मा चिन्तित हो जाते हैं और प्रलयकालीन बादल घिर आते हैं। दावानल का वर्णन भी विस्मयावह है और कंस के वध का दृश्य भी।

भक्त को सान्त्वना देने वाले प्रभु के गुणों में उनका एक गुण असुर-निकन्दन और जन-मन-रंजन भी है। सूर ने उसे अन्य सन्त कवियों की ही भाँति उपस्थित किया है:—

सूरदास प्रभु आइ गोकुल प्रकट भये संतन हरष भयो दुर्जन दहर के।

× × × ×

सूरदास प्रभु असुर निकन्दन दुष्टन के उरगंस।

हरिलीला आनन्दमयी है। अतः लीलामय भगवान अपने भक्तों पर पड़ी हुई विपत्ति को वैसे ही पी जाते हैं, जैसे सूर द्वारा चित्रित हरिलीला में श्रीकृष्ण दावानल का पान कर गये थे।

आर्य जाति की समय की आवश्यकता के अनुकूल ऐसे महाप्राण सन्त, महात्मा एवं दार्शनिक प्राप्त होते रहे हैं, जिन्होंने दुर्बलता के स्थान पर इसमें सबलता का संचार किया है, दुर्गुणों को दूर कर सद्गुणों की प्रतिष्ठा की है और जर्जर रूढ़ियों को निकाल कर अभिनव प्राण-प्रदायिनी विचारधारा का सन्निवेश किया है। सूर और तुलसी अपने युग के सुधारक और साहित्यिक ही नहीं, नूतन संदेशवाहक और जीवन-प्रदाता भी हैं। सच्चे कवि के रूप में अपनी

बलवती वाणी द्वारा उन्होंने आर्य जाति के हृदय में जो चैतन्योन्मुख स्पन्दन जाग्रत किया, वह आज तक इस जाति को जीवित रखे है और भविष्य में भी उसे विभूति-सम्पन्न करेगा। नूतन तथा पुरातन समस्त क्रान्तद्रष्टा ऋषियों की साधना आर्य जाति को ऊर्जस्वित, उज्ज्वल एवं उन्नान (उत्थान) गामी बना कर मानवता के लिए कल्याणकारिणी सिद्ध होगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। आवश्यकता है इस साधना-संपत्ति को सुरक्षित रखने की। आशा है, आर्य जाति की युवा सन्तति अपने इस कर्तव्य के पालन में सतत दत्तचित्त रहेगी।

सूर का काव्य-क्षेत्र में स्थान

एक समय अमिताभ[1] बुद्ध द्वारा उपदिष्ट पथ जब उनके अनुयायियों द्वारा संकीर्ण कर दिया गया, क्षणवाद और शून्यवाद की ह्रासमयी एवं हानिमयी मूढ़ग्राहिता ने विहारों की आचार-शून्य प्रवृत्ति के साथ मेल करके उसे साधारण-जन-वञ्चित, संकुचित गली के रूप में परिणत कर दिया, तो अश्वघोष और नागार्जुन जैसे उदार चेताओं को उसे महायान का रूप देने में प्रभूत परिश्रम करना पड़ा था। बुद्ध धर्म तभी से हीनयान और महायान दो भागों में विभाजित हो गया। उसका महायान वाला रूप इस देश की उदार संस्कृति के अधिक अनुकूल था, अतः वही इस देश के जन-समूह द्वारा गृहीत हुआ।

इसी प्रकार भागवत भक्ति का रूप जब निरंजनी, नाथपंथी, निर्गुणी आदि साधुओं की पद्धति द्वारा संकुचित होने लगा, उस तक पहुँचने और उस पर चलने में जनता जब अपनी असमर्थता का अनुभव करने लगी, ठीक उसी समय आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय भक्ति का उपदेश देकर भागवत भक्ति को उस महायान का रूप प्रदान किया, जिस पर जनता बिना किसी विघ्न-बाधा का अनुभव किये चल सकती थी। यह ऐसा संसरण पथ या राजमार्ग था, जिस पर चलने के लिये किसी को कहीं से भी निषेधाज्ञा नहीं मिल सकती थी। विधि-निषेध की रूढ़ियों से परे यह महायान रागानुगा भक्ति का विशाल पथ था, जिस पर चलने के लिये मानव को केवल अपने हृदय की अनुरक्ति की आवश्यकता थी। तभी तो भ्रमरगीत में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :—

काहे कों रोकत मारग सूधौ।
सुनि ऊधौ निर्गुण कंटक तें राज पंथ क्यों रूँधौ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० ४५०८)

१—'अमिताभ' शब्द यहाँ महात्मा बुद्ध के लिये विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वैसे बौद्धसम्प्रदाय में यह शब्द महात्मा बुद्ध के एक विशिष्ट अवतार का द्योतक है।

इस पुष्टिमार्ग की आचार्य वल्लभ ने योजना की, जिसे अष्टछाप के आठ कवियों ने अपनी वीणाओं में लेकर दिग्दिगन्त में प्रचार कर दिया। स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में, इन आठ कवियों में भी, "सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।" इस भक्त कवि ने अकेले ही सगुण उपासना का जो मार्ग प्रशस्त किया, वह आज तक जनता के लिये हृदयग्राह्य बना हुआ है।

अष्टछाप के कवियों में तो सूर मूर्धन्य स्थान का अधिकारी है ही, इसे आज तक के सभी समालोचकों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। अष्टछाप के बाहर भी उसकी समता करने वाले ढूँढने से मिलेंगे। सूर की टक्कर का हिन्दी साहित्य में केवल एक ही कवि है, और वह है कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास। जहाँ तक भक्ति-क्षेत्र का सम्बन्ध है, वहाँ तक हम किसी को भी एक दूसरे से ऊँचा नहीं कह सकते, कहना भी नहीं चाहिये, पर जैसा सूरदास और हरिलीला के चीरहरण प्रकरण में लिखा जा चुका है, सूर की आध्यात्मिक सिद्धि तुलसी की अपेक्षा कुछ ऊँची अवश्य प्रतीत होती है। सूर के सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

तत्त्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सो जूठी॥

इस दोहे से भी आलोचना के इसी तथ्य का प्रकाश होता है।

काव्योचित नवीन प्रसंगों की उद्भावना करने में तो सूर अपनी समता नहीं रखते। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "प्रसंगोद्भावना करने वाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में भी नहीं पाते।" तथा "शृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची, वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानों औरों के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भण्डार और कहीं नहीं।" सूरदास, पृष्ठ १५४

काव्यक्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास पुण्यश्लोक राम की जीवन-गाथा को सर्वश्रेष्ठ स्थान देकर आगे बढ़ते हैं। काव्य उनके लिए साधन है, राम-गाथा साध्य। रामगाथा में भी राम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन प्रधान है, काव्य-सम्बन्धी अन्य बातें गौण। यह तथ्य उनके कवि रूप को कुछ हीन कर

देता है। इसी के साथ रामगाथा का इतिवृत्तात्मक रूप भी तुलसी के सामने विद्यमान रहता है, जो भावधारा के विकास में व्याघात डाल सकता है।

सूर प्रमुख रूप से भाव-प्रधान कवि है। वह घटनाओं के घटाटोप में नहीं पड़ता। जहाँ कहीं ऐतिहासिकता, पार्थिवता अथवा सांसारिकता का चित्रण आ जाता है, वहाँ वह दोहे चौपाइयों में उसे चलता कर देता है। वह घटनात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक वर्णन-शैली का परित्याग करके शुद्ध रूप से भावात्मक जगत में विहार करने वाला कवि है। उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख विविधरूपा भाव-लहरियाँ उद्वेलित होती रहती थीं। एक बात को, एक तथ्य को, वह अनेक रूपों में देखने और वर्णन करने का अभ्यासी था। एक छोटी-सी घटना को अपनी भाव-शबलता के सहारे वह विशाल रूप में अंकित कर सकता था। जीवन के विविध सांसारिक रूपों के विस्तार के स्थान पर उसके काव्य में भावों की गम्भीरता और उत्कृष्टता ही अधिकतर दिखलाई देती है। भाव की इस ऊँचाई और गहराई में विश्व के थोड़े से कवि ही सूर की समता कर सकेंगे। मुरली, नेत्र, गोपियाँ, पनघट, भ्रमरगीत आदि विषयों पर अभिव्यंजित उसकी भाव-राशि तो सूर को भाव-राज्य का एकछत्र सम्राट घोषित करती है।

ललित कलाओं में पाश्चात्य मनीषियों ने काव्य कला को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। काव्य कला भी दो प्रकार की है:—शब्द-प्रधान और भाव-प्रधान। शब्द-सौंदर्य-प्रधान काव्यकला संगीतकला के सदृश ही अपना आकर्षण और प्रभाव रखती है, परन्तु भाव-प्रधान कविता संगीत के आकर्षण और प्रभाव से भी ऊपर एकान्त मानसिक जगत की वस्तु है। भाव-प्रधान कविता को शब्द-प्रधान कविता से इसी हेतु उच्च स्थान दिया जाता है। शब्द पंचभूतों में सूक्ष्मतम आकाश का गुण है, अतएव प्राकृतिक है; परन्तु भाव चेतना-प्रणाली से सम्बन्ध रखता है। भावों के भी कई विभेद किये गये हैं। जो काव्य इन भावों को अपने पाठकों के हृदयों में उद्दीप्त एवं जाग्रत कर सके, वह निस्संदेह उच्चकोटि का काव्य है। सूरसागर में ये भाव-वीचियाँ अनन्त हैं, अपरिमित हैं। सूरसागर पढ़कर पाठक किसी ऐतिहासिक घटना की रंग-विरंगी रंगभूमि में प्रवेश नहीं करता, वह भाव-क्षेत्र में पहुँचकर आध्यात्मिक वातावरण में विहार करने लगता है।

कतिपय कवि श्रुतिप्रिय काव्य की रचना करते हैं, रमणीय शब्दावलि का चुन-चुन कर प्रयोग करते हैं, कुछ उद्बोधक, वीरत्व-व्यंजक, उत्साह-वर्द्धक काव्य का निर्माण करते हैं, कुछ मन और बुद्धि के स्तरों में दार्शनिक विचारों

की मणियाँ भर कर उन्हें प्रकाशित करना चाहते हैं—पर विरले हैं वे कवि, जो सीधे आत्मा की बात आत्मा से कहते हों। सूर इन्हीं विरले कवियों में है। वह अन्तस्तल से बोलता है, जिसका प्रभाव बाहर के सभी स्तरों पर अनायास पड़ जाता है। श्रुति-प्रियता अथवा शरीर की बात अपने क्षेत्र तक ही सीमित रहती है, अधिक से अधिक बढ़ेगी भी, तो केवल अपने निकटवर्ती प्राण को कुछ प्रभावित कर देगी। यही दशा अन्य क्षेत्रों की है। पर इन सभी स्तरों में जो व्याप्त है, जो अन्तर्यामी है, उसकी बात उसके निगूढ़तम प्रदेश से चलकर सभी स्तरों को प्रभावित करती हुई बाहर तक चली आती है। सूर का काव्य आत्मा का काव्य है। वह अन्तर के तार को झंकृत करने वाला है, जिसके झंकृत होते ही, बुद्धि निर्मल, मन विकम्पित, प्राण पुलकित और शरीर उल्लसित हो उठता है। भाव-साम्राज्य के अद्भुत सम्राट सूर को यदि किसी आलोचक ने नीचे लिखे दोहे में सूर्य कहा है, तो उसमें अत्युक्ति ही क्या है?—

सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अबके कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

वायुपुराण और श्रीकृष्णलीला

वायुपुराण, द्वितीय खण्ड, अध्याय ४२ के नीचे उद्धृत श्लोकों में श्रीकृष्ण को अक्षर ब्रह्म से परे और राधा के साथ गोलोक-लीला-विलासी कहा गया है:—

धावतो न्यानतिक्रान्तं वदतो वागगोचरम्।
वेद वेदान्त सिद्धान्तैर्विनिर्णीतम् तदक्षरम्॥ ४२॥
अक्षरान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः।
इत्येवं श्रूयते वेदे बहुधापि विचारिते॥ ४३॥
अक्षरस्यात्मनश्चापि स्वात्मरूपतया स्थितम्।
परमानन्द सन्दोह रूपमानन्द विग्रहम्॥ ४४॥
लीला विलास रसिकं वल्लवीयूथमध्यगम्।
शिखि पिच्छ किरीटेन भास्वद्रत्न चितेन च॥ ४५॥
उल्लसद्विद्युदाटोप कुण्डलाभ्याँ विराजितम्।
कर्णोपान्तचरन्नेत्र खंजरीट मनोहरम्॥ ४६॥
कुञ्ज कुञ्ज प्रियावृन्द विलास रति लम्पटम्।
पीताम्बरधरं दिव्यं चन्दनालेपमंडितम्॥ ४७॥
अधरामृत संसिक्त वेणु नादेन वल्लवीः।
मोहयन्तं चिदानन्दमनंगमदभंजनम्॥ ४८॥
कोटि कामकला पूर्णं कोटि चन्द्रांशु निर्मलम्।
त्रिरेख कंठ विलसद्रत्न गुंजामृगाकुलम्॥ ४९॥
यमुना पुलिने तुंगे तमालवन कानने।
कदम्ब चम्पकाशोक पारिजात मनोहरे॥ ५०॥
शिखि पारावत शुक पिक कोलाहलाकुले।
निरोधार्थं गवामेव धावमान मितस्ततः॥ ५१॥
राधा विलास रसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम्।

श्रुतवानस्मि वेदेभ्यो यतस्तद्गोचरोऽभवत् ॥। ५२ ॥
एवं ब्रह्मणि चिन्मात्रे निर्गुणे भेद वर्जिते ।
गोलोक संज्ञिके कृष्णो दीव्यतीति श्रुतं मया ॥ ५३ ॥
नातः परतरं किंचिन्निगमागमयोरपि ।
तथापि निगमो वक्ति ह्यक्षरात् परतः परः ॥ ५४ ॥
गोलोक वासी भगवानक्षरात्पर उच्यते ।
तस्मादपि परः कोऽसौ गीयते श्रुतिभिः सदा ॥ ५५ ॥
उद्दिष्टो वेद वचनै विशेषो ज्ञायते कथम् ।
श्रुतेर्वार्थोऽन्यथा बोध्यः परतस्त्वक्षरादिति ॥ ५६ ॥
श्रुत्यर्थे संशयापन्नो व्यासः सत्यवती सुतः ।
विचारयामास चिरं न प्रपेदे यथातथम् ॥ ५७ ॥

"अक्षर ब्रह्म अन्य अनेक दौड़ते हुओं को अतिक्रान्त कर जाता है। वक्ताओं की वाणी से भी जो परे है, वेद-वेदान्तों के सिद्धान्तों द्वारा जिस अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध में ऐसा निर्णय किया गया है, अनेक प्रकार से विचार करने पर वेद में भी ऐसा ही सुना जाता है कि उस अक्षर ब्रह्म से परे कुछ भी नहीं है। वही सबकी पराकाष्ठा और परम गति है। परन्तु इस अक्षर ब्रह्म से भी परे, स्वात्मरूप से स्थित, आनन्द-विग्रही, परमानन्द के धाम यह श्रीकृष्ण कौन हैं, जो गोपिकाओं के समूह में विचरण करनेवाले लीला-विलासी और रसिक हैं; रत्न-खचित मयूर पंखों का मुकुट जिनके शिर पर शोभायमान है; विद्युत के समान चमकते हुए कुण्डल जिनके कानों को सुशोभित करते हैं; खंजरीट के समान मनोहर और कान तक फैले हुए जिनके विशाल नेत्र हैं; जो कुंजों में गोपिकाओं के समूह के साथ विहार करते हैं, दिव्य-पीताम्बर-धारी हैं और चन्दन के लेप से मण्डित हैं; जो अपने अधरामृत से संसिक्त वंशी की ध्वनि द्वारा गोपिकाओं को मोहित करते हैं, कामदेव के मद को भी दूर करने वाले और चिदानन्द रूप हैं; करोड़ों कामदेवों की सौंदर्यकला से पूर्ण और करोड़ों चन्द्रमाओं की अमल किरणों के समान निर्मल हैं; जिनके कंठ में तीन रेखायें हैं; जो तमाल-वन-कानन में, कदम्ब, चम्पा, अशोक, पारिजात आदि वृक्षों से शोभायमान, मयूर, सारस, शुक, पिक आदि के कोलाहल से पूर्ण यमुना के तुंग तट पर गायों को रोकने के लिए इधर-उधर दौड़ते हैं; जो राधा के साथ विलास करने वाले रसिक परम सुन्दर कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हैं; वेदों से भी मैंने यही सुना है। जो ब्रह्म चिन्मात्र है, निर्गुण है, भेद-वर्जित है, वही कृष्ण रूप में गोलोक में क्रीड़ा करता है—ऐसा भी मैंने सुना है। यद्यपि अक्षर ब्रह्म से परे कुछ

भी नहीं हैं, फिर भी वेद कहता है कि श्रीकृष्ण इस अक्षर ब्रह्म से भी परात्पर हैं। गोलोकवासी भगवान कृष्ण अक्षर से भी परे कहे जाते हैं। अक्षर से भी परे ये श्रीकृष्ण कौन हैं, जिनका यश वेद भी सदैव गाते हैं ?

वेदवाणी में कथित यह विशिष्ट श्रीकृष्ण किस प्रकार जाने जाते हैं ? अथवा श्रुति का अर्थ ही कुछ अन्य प्रकार से जानने योग्य है, जो अक्षर से भी परे है ? इस प्रकार सत्यवती-पुत्र व्यास वेदार्थ के सम्बन्ध में संशय में पड़े रहे। वे बहुत देर तक विचार करते रहे, परन्तु वास्तविकता को न जान सके।"

इस स्थल पर अक्षर ब्रह्म से भी परे सनातन ब्रह्म या भगवान की स्थिति का वर्णन किया गया है। उपनिषदों में जिसे अरूप, अशब्द, अनिर्देश्य और अनिर्वाच्य कहा है, यह वही ब्रह्म है। यही परम तत्व है, जो किसी नाम द्वारा अभिहित नहीं किया जा सकता। इसी परम तत्व को सात्वत वैष्णवों ने श्रीकृष्ण भगवान कहकर पुकारा है।

परिशिष्ट १

पद्मपुराण और श्रीकृष्णलीला

पद्मपुराण, पाताल खंड में अध्याय ६९ से लेकर ७२ तक श्रीकृष्ण माहात्म्य तथा अध्याय ७३ से ८३ तक वृन्दावन आदि का माहात्म्य वर्णन किया गया है। इस पुराण में श्रीकृष्ण-लीला सम्बन्धी ऐसी सामग्री है, जिसका पुष्टि-मार्ग के साथ विशेष सम्बन्ध है। अतः उस सामग्री को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

वृन्दावन— अध्याय ६९

सात्वतां स्थान मूर्धन्यं विष्णोरत्यन्त दुर्लभम् ।
नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्मांडोपरि संस्थितम् ॥८॥
पूर्णं ब्रह्म सुखैश्वर्यं नित्यमानन्दमव्ययम् ।
वैकुंठादि तदंशांशं स्वयं वृन्दावनं भुवि ॥९॥

नित्य वृन्दावन ब्रह्मांड के ऊपर स्थित है। यह अत्यन्त दुर्लभ और स्थानों में शिरोमणि है। यहाँ पूर्ण ब्रह्मसुख और ऐश्वर्य है और नित्य, अक्षय आनन्द है। वैकुण्ठादि इसी के अंशों के अंश हैं।

द्वारिका—

वैकुंठ वैभवं यद्धि द्वारिकायां प्रतिष्ठितम् ॥१०॥

वैकुण्ठ का जो वैभव है, वह द्वारिका में प्रतिष्ठित है।

गोकुल—

गोलोकैश्वर्यं यत्किंचिद् गोकुले तत्प्रतिष्ठितम् ॥१०॥
महारण्यं गोकुलाख्यम् कृष्ण क्रीडारस स्थलम् ॥१८॥
सहस्रपत्र कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ॥२३॥
योगीन्द्रैरपि दुःप्रापं सर्वात्मायच्च गोकुलम् ॥२६॥

गोलोक में जो कुछ ऐश्वर्य है, वह सब गोकुल में प्रतिष्ठित है। गोकुल श्रीकृष्ण भगवान की महती क्रीडास्थली है और यहाँ का वन विराट है।

सहस्रदल कमल के समान महापद वाची गोकुल बड़े-बड़े योगियों को भी कठिनता से प्राप्त होता है।

मथुरा —

तस्मात् त्रैलोक्य मध्येतु पृथ्वी धन्येति विश्रुता।
यस्मान् माथुरकं नाम विष्णोरेकान्तवल्लभम् ॥१२॥
स्वस्थानमधिकं नामधेयं माथुरमंडलम् ।
निगूढ़ं विविधं स्थानं पुर्यभ्यन्तर संस्थितम् ॥१३॥
सहस्र पत्र कमलाकारं माथुर मंडलम् ।
विष्णुचक्र परिभ्रामाद्धाम वैष्णवमद्भुतम् ॥१४॥

तीनों लोकों के मध्य में, प्रसिद्ध पृथ्वी पर धन्य, विष्णु का एकान्तप्रिय मथुरा नाम का स्थान है। यह भगवान का अपना स्थान है। इस नगर के अन्दर छिपे हुए अन्य स्थान भी हैं। विष्णुचक्र के प्रवर्तन से यह अद्भुत वैष्णव धाम कहलाता है। मथुरा मंडल सहस्र-दल-कमल के आकार का है।

द्वादश वन

भद्र श्री लोह भांडीर महाताल खदीरकाः।
वकुलं, कुमुदं, काम्यं, मधु वृन्दावनं तथा ॥१६॥

भद्रवन, लोहवन, श्रीवन, भांडीरवन, महावन, तालवन, खदिरवन, वकुलवन, कुमुदवन, कामवन, मधुवन और वृन्दावन ये बारह वन कहलाते हैं। इनमें से सात वन कालिन्दी के पश्चिम में और पाँच वन उसके पूर्व में हैं।

श्रीकृष्ण वृन्दावन के स्वामी हैं। उनको गोविन्दता यहीं प्राप्त हुई है। (४०), नन्दीश्वर वन में नन्द का घर है। (४२), भांडीर द्वादश दल का रम्य मनोहर वन है, जहाँ श्रीकृष्ण ने श्रीदामा आदि के साथ क्रीड़ा की है (४८), कृष्ण का नाम दामोदर है, जो प्रेमानन्द रस के समुद्र हैं (५४), श्लोक ८८ से १०२ तक श्रीकृष्ण के सौंदर्य का वर्णन है, जिसमें नवीन नीरद-श्रेणी के समान स्निग्ध मंजु कुंडल, विकसित इन्दीवर के समान कान्ति, अञ्जनाभा के समान चिकना श्याम शरीर; स्निग्ध, नील, कुटिल एवं सौरभ-सम्पन्न कुन्तल; मयूर मुकुट, मणिमाणिक्य के किरीटभूषण, चन्द्र के समान मुख-मंडल, मस्तक पर गोरोचन से युक्त कस्तूरी का तिलक, नील इन्दीवर के समान विशाल नेत्र; सुचारु, उन्नत एवं सौंदर्य-सम्पन्न नासिका का अग्रभाग, वक्षस्थल पर श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि और मोतियों का हार; हाथ में कंकण और केयूर; कटि में किंकिणी, कर्पूर-

अगरु-कस्तूरी-चन्दन-गोरोचनमय दिव्य अंगराग से चित्रित शरीर, गंभीर नाभिं; वृत्ताकार जानु, कमल-करतल और पादपद्म के तलवे ध्वज, वज्र और अंकुश के चिह्नों से शोभित, चन्द्रकिरण-समूह के समान चमकते हुए नख, कोटि कंदर्पों के सौंदर्य को भी जीत लेने वाली तिरछी ग्रीवा, कपोल और कंधों पर स्फुरितं काञ्चन कुंडल, अपांग दृष्टि, अमन्द हास्य और कुञ्चित अधरों पर रखी हुई मञ्जुस्वरवाली वंशी का वर्णन है।

अध्याय ७० के प्रारम्भ में अष्ट प्रकृति तथा षोडश आद्य प्रकृति-प्रधान कृष्ण वल्लभाओं का उल्लेख है, जिनके नाम और स्थान-क्रम बृहद् ब्रह्म संहिता के तृतीय पाद, द्वितीय अध्याय में श्लोक ३३ से ४५ तक तथा २।५।३७ से आगे के श्लोकों में दिये हुए नामों के अनुसार हैं। श्लोक भी एकाध शब्द के भेद को छोड़कर एक जैसे ही हैं। 'गोपियाँ' शीर्षक परिच्छेद में यह सामग्री समाविष्ट कर दी गई है। श्रुतिकन्याओं तथा देवकन्याओं का भी यहाँ वर्णन है, जो क्रमशः कृष्ण के दक्षिण तथा वाम भाग में स्थान पाती हैं। ये सब दिव्य भाव से भरित, अतिशय सौंदर्य से सम्पन्न, मनोहर कटाक्षों वाली, निर्लज्ज और गोविन्द के अंग का स्पर्श करने के लिये उद्यत रहती थीं।

इसी स्थल पर समान-वेष-बल-पौरुष-गुण-कर्म वाले, संगीत-वेणुवादन में समान रूप से तत्पर श्रीदामा, सुदामा, वसुदामा, स्तोक, सुभद्र आदि गोपालों का वर्णन हैं। बलराम को मधुपान में आसक्त और सदैव मधु-घूर्णित नेत्र वाला कहा गया है।

अध्याय ७२ में उग्रतपा, सत्यतपा, हरिधामा, जाबालि तथा कुशध्वज ब्रह्मर्षि के पुत्र शुचिश्रवा और सुवर्ण आदि मुनियों का तपश्चर्या करने के उपरान्त व्रज में गोपिकाओं के रूप में उत्पन्न होना लिखा है। अध्याय ७३ में वृन्दावन और मथुरा का माहात्म्य-वर्णन है। सनातनी, पुरातनी और मनोरमा मथुरा नगरी सुरेन्द्र, नागेन्द्र तथा मुनीन्द्रों से सदैव प्रशंसित रही है। मथुरा के निवासी देवताओं के लिये भी मान्य हैं और सभी चतुर्भुज विष्णु के समान हैं (श्लोक ४६)। शिव-पूजा के सम्बन्ध में यह श्लोक लिखा है:—

न कथं मयि भक्तिं स लभते पाप पुरुषः।
यो मदीयं परं भक्तं शिवं संपूजयेन्नहि ॥५१॥

भगवान कहते हैं: "जो पापी पुरुष मेरे भक्त शिवजी की पूजा नहीं करता, उसे मेरी भक्ति कभी प्राप्त नहीं होती।"

है । (श्लोक १५१) इस मोहन मंत्रराज के साथ ध्यान और यंत्रराज के लिखने का भी उल्लेख है, जो 'हरिलीला और तंत्र साहित्य' में वर्णित हमारी धारणा को पुष्ट करता है ।

इस अध्याय के अन्त में रासरसालय कृष्ण के पास चामर, व्यञ्जन, माल्य, गंध, चन्दन, ताम्बूल, दर्पण, पान आदि विलास की समस्त रसाल सामग्री विद्यमान है । यथास्थान नियुक्त, कृष्ण के इंगित पर क्रियाशील और उनके कमल-मुख पर आँखें लगाये हुए चंचल प्रमदायें भी विद्यमान हैं । महायोगेश्वर श्रीकृष्ण ने यहाँ मदनावेश-विह्वला आर्जुनीया (स्त्री के रूप में अर्जुन) का हाथ पकड़कर क्रीड़ावन में प्रवेश किया और यथाकाम रमण किया । रमण-श्रान्त आर्जुनीया जल में स्नान करके फिर अर्जुन बन गई । श्रीकृष्ण ने उससे इस रहस्य को किसी को भी न बताने की शपथ ली ।

तांत्रिकों की-सी यह लीला अध्यात्म पक्ष में कितना ही श्रेष्ठ अर्थ रखती हो, लोक के लिये तो यह अकल्याणकर ही प्रतीत होती है।

अध्याय ७५ श्लोक ८ में वृन्दावन को पुनः निजरम्यधाम कहा गया है । पाँच योजन विस्तार में फैले हुए इसके ३२ वन हैं । बृहत् ब्रह्म संहिता की भाँति यहाँ कालिन्दी परमामृतवाहिनी सुषुम्ना नाडी है । इस अध्याय में नारद भी अमृतसर में स्नान करके स्त्री बनते हैं, और एक वर्ष तक कामकलात्मक, योषिदानन्द-हृदय, सच्चिदानन्द एवं सनातन कृष्ण के साथ उनकी प्रियपुरी वृन्दा के अन्दर, एक वर्ष तक, रमण करते हैं ।

अध्याय ७६, एक श्लोक को छोड़कर, जो अन्त में आया है, सम्पूर्ण रूप से गद्यमय है और उसमें श्रीकृष्ण का थोड़ा-सा ऐतिहासिक वर्णन है ।

अध्याय ७७ के श्लोक १२ में गोपी-शरीरधारी श्रुतियों का श्रीकृष्ण को चूमते, हंसते तथा आलिंगन करते हुए वर्णन किया है। फिर प्रेम-रोमांचराजिता, वैवर्ण्य-स्वेद-संयुक्ता तथा भावासक्ता प्रियंवदा; सुरासररसिका सुवर्णमालिनी, सर्वस्वोर्जीवना, दीनवत्सला, विमलाशया और निपीतनामपीयूषा राका, सुरतोत्सव-संग्रामा चित्ररेखा, हरि के दक्षिण पार्श्व में स्थित सर्वमंत्रप्रिया तथा अनंगलोभ-माधुर्या चन्द्रा आदि कई गोपिकाओं का वर्णन है । राधा और कृष्ण को प्रकृति और पुरुष बताते हुए पद्मपुराण कहता है:—

> गोविन्द एव पुरुषो ब्रह्माद्याः स्त्रिय एव च ॥४७॥
> पुरुषः प्रकृतिश्चाद्यौ राधा वृन्दावनेश्वरौ ॥४८॥
> प्रकृते र्विकृतं सर्वं विना वृन्दावनेश्वरम् ॥४९॥

गोविन्द ही पुरुष है, ब्रह्मादि देवता स्त्रियाँ हैं। राधा और कृष्ण ही आद्य प्रकृति और पुरुष हैं। कृष्ण के बिना राधा रूप प्रकृति का सब कुछ निष्फल ही है।

अध्याय ८० में हरिनाम कीर्तन का इस प्रकार उल्लेख है:—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ॥२॥
हरे राम हरे कृष्ण कृष्ण कृष्णेति मंगलम् ॥३॥

विपत्समाकुल घोर कलियुग में हरिनाम ही उद्धार करने वाला है। पौराणिकों में अत्यन्त प्रसिद्ध यह श्लोक भी यहाँ मिलता है:—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यान्तरः शुचिः ॥१२॥

अध्याय ८१ में लिखा है कि वैष्णव भक्तिमार्गरूपी महायान पर चलने के अधिकारी वे सभी व्यक्ति हैं, जो श्रीकृष्ण में श्रद्धा-भक्ति रखते हैं। इस विषय के कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं:—

सर्वेऽधिकारिणश्चात्र चंडालान्ता मुनीश्वर।
स्त्रियः शूद्रादय श्चापि जड मूकादि पंगवः ॥१९॥
अन्ये हूणाः किरातश्च पुलिन्दाः पुक्कसास्तथा।
आभीरा यवनाःकंकाः खसाद्याः पापयोनयः ॥२०॥
दंभाहंकारपरमाः पापाः पैशुन्य तत्पराः।
गोब्राह्मणादि हंतारो महोपपातकान्विताः ॥२१॥
ज्ञान वैराग्यरहिताः श्रवणादि विवर्जिताः।
एते चान्ये च सर्वे स्युर्मनोरस्याधिकारिणः ॥२२॥
यदि भक्तिर्भवेदेषां कृष्णे सर्वेश्वरेश्वरे।
तदाधिकारिणः सर्वे नान्यथा मुनिसत्तम ॥२३॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड के अन्त में यवन, किरात, हूण, पुलिन्द, खस आदि सबको राम नाम से पवित्र होने वाला कह दिया है।

अध्याय ८१ के अन्त में श्रीकृष्ण की मूर्ति का ध्यान करने की विधि बतलाई है। श्रीकृष्ण[1] पीताम्बरधारी हैं, वनमाल उनके वक्षस्थल पर है। शिर

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मसूत्र ३-३-१ के भाष्य में पृष्ठ ६७५ पर अन्य अवतारों के साथ श्रीकृष्ण अवतार का वर्णन करते हुए उनकी शोभा का

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

पर मोर मुकुट है, मुख-मंडल करोड़ों चन्द्रमाओं की आभा के समान है, कर्णिकार का अवतंस धारण किये हैं, चन्दन की खौर के बीच कुंकुम-बिन्दु लगा हुआ है, भाल पर मंडलाकृति तिलक है, कान में सूर्य के समान चमकते हुए कुण्डल हैं, दर्पण के समान आभा वाले कपोलों पर प्रस्वेद-बिन्दु हैं, उन्नत भ्रू के साथ लीलामय अपांग राधा की ओर लगे हुए हैं, ऊँची नासिका है जिसके अग्रभाग पर मुक्ता विस्फुरित हो रहा है, दशनों की ज्योत्स्ना से पक्व बिम्बाफल के समान लाल ओष्ठ शोभायमान हो रहे हैं, हाथों में केयूर, अंगद और रत्न मुद्रिका है, वाम हाथ में कमल और मुरली है, मध्यभाग (कटि) में कांचीदाम और पैरों में नूपुर हैं, रतिकेलि के रसावेश में नेत्र चंचल हो रहे हैं, इस प्रकार कल्पतरु के मूल में रत्न सिंहासन पर समासीन कृष्ण अपने वाम पार्श्व में राधा को बिठाये, स्वयं हँसते और उसे हँसाते हुए चित्रित किए गए हैं। राधा के स्वरूप का भी पूर्ण वर्णन है। उसकी कांति तप्त स्वर्ण की प्रभा के समान है। नीली चोली पहने है। पट्टांचल से अर्ध आवृत कमल-कान्त मुख-मंडल है। चकोरी के समान उसके चंचल नेत्र श्रीकृष्ण के वदन-चन्द्र पर लगे हैं। अंगुष्ट और तर्जनी के द्वारा गृहीत पर्ण-चूर्ण-समन्वित पूगफल श्रीकृष्ण को अर्पित कर रही है। उसके पीनोन्नतपयोधरों के ऊपर मुक्ताहार स्फुरित हो रहा है। वह किंकिणीजाल से मंडित क्षीणकटि वाली तथा पृथुश्रोणी है। रत्नों के ताटंक, केयूर, मुद्रा और कंकण धारण किये है। पैरों की अँगुलियों में रत्नों के मंजीर हैं। वह लावण्य की सार, मुग्धांगी और सर्वावयव सुन्दरी है। आनन्दरस में मग्न, प्रसन्न, नवयुवती राधा की सेवा में चामर और व्यंजन लिये उसी के समान आयु और गुण वाली सखियाँ लगी हुई हैं। (श्लोक ३५ से ५० तक) श्लोक ५२ में 'गोपना दुच्यते गोपी राधिका कृष्ण वल्लभा। देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका पर देवता'॥ के अनुसार गोपन के कारण राधा को गोपी, परदेवता और कृष्ण-वल्लभा तथा श्लोक ५३ में कृष्णाह्लादस्वरूपिणी

शेष टिप्पणी पिछले पृष्ठ की

इस प्रकार उल्लेख करते हैं:—"अथर्वोपनिषत्सु क्वचित् गोकुल वृन्दा कानन मञ्जग्द् गोपरूपम् अनल्प कल्पद्रुम प्रसून विरचित विचित्र स्थलीक कालिन्दी सलिल कल्लोल सन्दि मृदुतर पवन चलत अलकविराजमान गगटमगटल श्रुति मण्डित कुण्डल प्रभानुभावित वामांसमिलन् मूर्धन्य महामणिक मुरलिका मध्यावली मिलत् अति तरल कर कमल युगलांगुली वशंवद विविध स्वर मूर्च्छना मोहित व्रजवर नितम्बिनी कदम्ब कटाक्ष फलनायितं निरूप्यते।

कहा गया है। श्लोक ४४ में राधा और कृष्ण में अभेद की स्थापना की गई है। श्लोक ४७ में चित् और अचित् लक्षण वाले निखिल जगत को राधा कृष्णात्मक तथा इन दोनों की विभूति माना गया है। इसके पश्चात् ब्रह्मवैवर्त की भाँति कल्प भेद, भारतवर्ष, मथुरापुरी, वृन्दावन, गोपिकायें, राधा की सखियाँ और उनमें राधा की उत्तरोत्तर प्रशंसा वर्णित है। श्लोकों की पदावलि दोनों में भिन्न-भिन्न है। ब्रह्मवैवर्त में वर्णित राधा और कृष्ण का स्वरूप पद्मपुराण के इस अध्याय में वर्णित उनके स्वरूप से विशेष समता रखता है। अध्याय ८२ श्लोक ७३ के पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी प्रिया और परदेवता राधिका के चारों ओर सेवा करती हुई अन्यान्य सखियों को नित्य कहते हैं। गोप, गायें और गोपिकायें तथा स्थावर वृन्दावन सब नित्य हैं। मैं वृन्दावन को छोड़कर और कहीं नहीं जाता। यहाँ राधा के साथ निवास करता हूँ। समस्त उपायों को छोड़ कर जो गोपी-भाव से उपासना करते हैं, वे ही मुझे प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं (श्लोक ८२)। जो केवल मेरी ही शरण ग्रहण करते हैं, मेरी प्रिया राधा की नहीं, वे भी मुझे प्राप्त नहीं कर सकते (श्लोक ८४)। व्यवहार क्षेत्र में इसका अर्थ होगा—विद्या और अविद्या, श्रेय और प्रेय, अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक और परलोक दोनों की साधना करना। अध्याय ८३ के प्रारम्भ में नारद शिवजी से सर्वश्रेष्ठ भावमार्ग की व्याख्या करने के लिए कहते हैं। शिवजी उत्तर देते हैं:—

दास्यः सखायः पितरौ प्रेयस्यश्च हरेरिह।
सर्वे नित्या मुनि श्रेष्ठ वसन्ति गुणशालिनः ॥३॥
यथा प्रकट लीलायां पुराणेषु प्रकीर्तिताः।
तथा ते नित्य लीलायां सन्ति वृन्दावने भुवि ॥४॥

हरि की दासियाँ, सखा, माता-पिता, प्रेयसी सब नित्य और गुण-शाली हैं। वे जैसे प्रकट लीला करते हुए पुराणों में वर्णित हुए हैं, वैसे ही नित्य लीला में वृन्दावन भू में निवास करते हैं।

इसके पश्चात् वृन्दा श्रीकृष्ण की दैनंदिनी लीला का वर्णन करती हुई कृष्ण और राधा के शयन, जागरण, दतौन, स्नान, पाक आदि का उल्लेख करती है। गोपवेशधर कृष्ण सखाओं के साथ गायों को लेकर वन में प्रवेश करते हैं और विविध प्रकार के विहार तथा खेल करते हैं। श्रीकृष्ण अन्य सखाओं को धोखा देकर केवल दो तीन प्रिय सखाओं के साथ राधिका प्रिया के दर्शनों के लिए उत्सुक बने हुए संकेत स्थान पर जाते हैं। राधा भी सूर्यादि की पूजा के लिये कुसुम लाने के बहाने वन में पहुँच जाती है और कृष्ण के

साथ झूला में बैठकर झूलती तथा अन्य क्रीड़ायें करती है। वसन्त वायु से से वत वन खंड में विहार करते हुए जब दोनों थक जाते हैं, तो वृक्ष के मूल में दिव्यासन पर बैठकर मधुपान और विश्राम करते हैं। जल-क्रीड़ा के लिए सरोवर पर भी जाते हैं। फिर वन में ही भोजन होता है और कुञ्ज में पुष्प-विनिर्मित शैया पर शयन। ताम्बूल और व्यंजन भी चलते हैं। हरि के सो जाने पर राधा हरि के उच्छिष्ट (छोड़े हुए शेष भाग) का भोजन करती है और प्रिय के मुख-कमल का दर्शन करने के लिये शैया-निकेतन में चली जाती है। जुआ भी खेला जाता है। राधा से जुआ में हार कर भी कृष्ण अपने को विजयी वतलाते हैं। हारने पर चुम्बन पण के रूप में स्थिर किया जाता है। राधा घर लौटती है और सूर्य गृह में जाकर सूर्य की पूजा करती है। कृष्ण भी मुरली वजाते हुये हर्षपूर्वक व्रज में लौट आते हैं। नन्द आदि वेणु के रव को सुनकर तथा नभ को गोधूलि से आच्छादित देखकर स्त्रियों तथा बालकों के साथ कृष्ण-दर्शन के लिये समुत्सुक वने हुये सब काम छोड़कर उनके सामने आ जाते हैं। कृष्ण माता-पिता को प्रणाम करते हैं। सायंकाल को गायें फिर दुही जाती हैं। थोड़ी देर बाद भोजन होता है। राधा अपनी सखी द्वारा कुछ पक्वान्न नन्दालय में भेज देती है। कृष्ण माता-पिता के साथ प्रशंसा करते हुए इसे खाते हैं। फिर कात्यायनी का संगीत होता है। इस अध्याय के प्रारम्भ और अन्त में राधा-कृष्ण के शयन का उल्लेख इस प्रकार है:—

> मध्ये वृन्दावने रम्ये पंचाशत कुंजमंडिते।
> कल्प वृक्ष निकुंजे तु दिव्यरत्नमये गृहे ॥१९॥
> निद्रितौ तिष्ठत स्तल्पे निविडालिंगितौ मिथः।
> मदाज्ञाकारिभिः पश्चात् पक्षिभिर्बोधितावपि ॥२०॥
> गाढ़ालिंगनजानन्द माप्तौ तद्भंगकातरौ।
> न मनः कुरुत स्तल्पात्समुत्थातुं मनागपि ॥२१॥
> ततश्च सारिका संघैः शुकाद्यैः परितो मुहुः।
> वोधितौ विविधै र्वाक्यैः स्वतल्पादुदतिष्ठाम् ॥२२॥

सायंकाल के समय माँ यशोदा जब सबको भोजन कराके चली जाती है, तो श्रीकृष्ण अलक्षित रूप से संकेतस्थान पर निकल जाते हैं और वनराजियों में राधा के साथ मिलकर क्रीड़ा करते हैं, फिर एकान्त स्थान में कुसुमों से क्लृप्त (विरचित) मनोहर केलि-तल्प पर राधा के साथ सो जाते हैं। यह वर्णन सूरसागरवर्णी तथा सूरसागर के अनेक पदों से साम्य रखता है। कृष्ण की

दैनंदिनी लीला तो पुष्टिमार्गीय भक्ति का सर्वस्व ही है और वल्लभ सम्प्रदाय में ज्यों की त्यों स्वीकृत है।

अध्याय ८४ के श्लोक ३८ में लिखा है:—

भवन्ति कीर्तनीयस्य कथाः कृष्णस्य निर्मलाः।
भाव साध्यो ह्ययं देवः स्वयं जानाति तद्भवान्॥

कीर्तनीय कृष्ण की कथायें निर्मल हैं। यह देव भाव-द्वारा साध्य या प्राप्य है। सूरदास ने भी भाव[1] की ऐसी ही महिमा वर्णित की है। अध्याय ८५ के श्लोक ८ से १२ तक मानसी, वाचिकी, कायिकी, वैदिकी तथा लौकिकी नाम वाले भक्ति के पांच भेदों का वर्णन पाया जाता है।

१—सूर धन्य तिनके पितु माता भाव भजन है जाके ॥१०।१८५६

सूरसागर (ना०प्र०स० १७६६)

भाव अधीन रहौं सब ही के और न काहू नेंक डरौं।
सूर स्याम तब कही प्रकट ही जहाँ भाव तहँ ते न टरौं॥

सूरसागर १०-११०३ (ना०प्र०स० २१४०)

आचार्य वल्लभ ने भाव की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए अणुभाष्य के अन्तर्गत अनेक स्थानों पर नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये हैं:—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः।
येऽन्ये मूढ़धियो नागाः सिद्धाः मामीयुरञ्जसा॥
यन्न योगेन सांख्येन दान व्रत तपोऽध्वरैः।
व्याख्या स्वाध्याय सन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि॥

पृष्ठ ११७४ आदि

परिशिष्ट ३

सूर सम्बन्धी साहित्य

इस युग में महाकवि सूरदास के जीवन और ग्रन्थों के सम्बन्ध में सर्व प्रथम ऊहापोह करनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। श्रीराधाकृष्णदास द्वारा सम्पादित और वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर की भूमिका में इस विषय से सम्बन्धित उनके विचार दिए हुए हैं। उन्होंने साहित्य लहरी के वंश-परिचायक पद को प्रामाणिक माना है और लिखा है:—"हमारी भाषा कविता के राजाधिराज सूरदास जी एक इतने बड़े वंश के (चन्द बरदायी के वंश के) हैं, यह जानकर हम लोगों को बड़ा आनन्द हुआ।" चौरासी वैष्णवों की वार्ता की हरिराय कृत भावनाख्य टीका के साथ साहित्यलहरी के पद का सामंजस्य करते हुए आप लिखते हैं—"यदि यह मान लिया जाय कि मुसलमानों के युद्ध में इनके (सूरदासके) भाइयों के मारे जाने के पीछे भी इनके पिता जीते रहे और एक दरिद्र अवस्था में पहुँच गये थे और उसी समय में सीही गाँव में चले गये हों तो लड़ मिल सकती है।"

भारतेन्दु के पश्चात श्री राधाकृष्णदास ने सूरदास की जीवन-गाथा से सम्बन्धित सामग्री पर और अधिक खोज की। 'राधाकृष्णदास ग्रन्थावली' के सूरदास शीर्षक लेख में उनकी खोज के परिणाम संग्रहीत हैं। उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मत को ग्रहण किया है।

सूर-सम्बन्धी अनुसन्धान का यह सूत्रपात था। इसके पश्चात काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में खोज का कार्य प्रारम्भ हुआ और सूरदास के नाम से कई ग्रन्थ प्राप्त हुए। इनमें से कुछ ग्रन्थों की विद्वानों द्वारा परीक्षा भी हो चुकी है।

वेंकटेश्वर प्रेस से जो सूरसागर प्रकाशित हुआ था, उसके आधार पर श्रीवियोगी हरि तथा प्रो० बेणीप्रसाद जी ने दो संक्षिप्त सूरसागर तैयार किये। एक का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, तथा दूसरे का इण्डियन प्रेस प्रयाग

द्वारा हो चुका है। नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से भी एक सूरसागर निकला था, परन्तु उसमें सूरदास जी के अतिरिक्त अन्य सन्तों के पद भी संग्रहीत थे। वेंकटेश्वर प्रेस वाले सूरसागर के साथ सूरसारावली भी लगी हुई है, जिसे सूरदास के सवा लाख पदों का सूचीपत्र लिखा गया है। सूर-कृत 'साहित्य लहरी' का प्रकाशन सर्व प्रथम खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से सन् १८८२ ई० में हुआ था। इसका एक अन्य संस्करण श्री महादेव प्रसाद कृत टीका सहित पुस्तक भण्डार लहेरिया सराय द्वारा प्रकाशित हुआ है। स्वर्गीय रत्नाकर जी द्वारा संपादित सूरसागर के कई अंक नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किये थे। रत्नाकरजी के छोड़े हुए कार्य को श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने आगे बढ़ाया है और उनके द्वारा सम्पादित सूरसागर अब दो खंडों में प्रकाशित भी हो चुका है। वेंकटेश्वर प्रेस वाले सूरसागर के आधार पर उनका एक शुद्ध संस्करण प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा की देख रेख में श्री उमाशंकरजी शुक्ल तैयार कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने सूरसागर से पद-संग्रह रूप में छोटे-छोटे संकलन भी सम्पादित किये हैं, जिनमें स्वर्गीय लाला भगवानदीन का सूर पंचरत्न और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी कृत सूर-सुषमा मुख्य हैं। सूरसागर के भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों का एक संकलन 'भ्रमरगीत सार' के नाम से स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सम्पादित किया था और उसकी भूमिका के रूप में सूर-काव्य पर अपने विद्वत्ता-पूर्ण विचार भी प्रकट किये थे।

सूर-काव्य पर सर्व प्रथम सार-गर्भ आलोचना 'मिश्रबन्धु विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न' में प्रकाशित हुई। इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता तीनबन्धु हैं:— श्री गणेशविहारी मिश्र, श्यामविहारी मिश्र और शुकदेव विहारी मिश्र। नागरी-प्रचारिणी सभा की तथा स्वयं अपनी खोजों के आधार पर तीनों बन्धुओं ने जो अत्यन्त प्रयत्न-साध्य एवं गुरुतर कार्य उक्त दोनों ग्रन्थों के रूप में किया है, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।

मिश्रबन्धुओं ने हिंदी साहित्य के इतिहास तथा काव्यालोचन से सम्बन्ध रखने वाले जो ग्रन्थ प्रस्तुत किये, वे विशाल स्तम्भ के समान थे, जिनके आधार पर स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास रूपी भवन का निर्माण किया। मिश्रबन्धुओं द्वारा प्रदत्त सामग्री को शुक्ल जी ने अपनी प्रखर प्रतिभा के द्वारा पर्याप्त मात्रा में आगे बढ़ाया। वे सूर के जीवन पर तो कोई महत्व पूर्ण प्रकाश नहीं डाल सके, पर उनके काव्य का जिस ढंग से उन्होंने

उद्घाटन किया, उससे सूर के महत्व और मूल्य को आँकने में अनुपम कार्य सम्पन्न हुआ।

शुक्लजी के इतिहास के पश्चात अन्य कई इतिहास ग्रन्थ निकल चुके हैं, जिनमें डा० श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' तथा डा०रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' मुख्य हैं। प्रथम ग्रन्थ में सूर सम्बन्धी किसी उल्लेख योग्य सामग्री का तो अभाव है, पर उसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का जो तुलनात्मक एवं भावपूर्ण समीक्षण प्रस्तुत किया गया है, वह सर्वतोभावेन प्रशंसनीय है। दूसरे ग्रन्थ में सूर पर उपलब्ध उस समय तक की समस्त सामग्री का संचयन और विवेचन पाया जाता है। विद्वान लेखक ने सूरदास के जीवन, उनकी कृतियों और काव्य पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने साहित्य लहरी के वंश-परिचायक पद को संदेह की दृष्टि से देखा है और सूर का निधन संवत् १६४२ के बाद माना है।

डा० जनार्दन मिश्र ने सूरदास पर एक सुन्दर प्रबन्ध लिखा था, जिस पर उन्हें डी० लिट् की उपाधि प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में सूर के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कोई नवीन सामग्री भले ही न प्राप्त हो, पर श्रीवल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्तों का जो निरूपण सूर काव्य को दृष्टि में रखकर किया गया है, वह मूल्यवान है। इस प्रबन्ध के पश्चात कई अन्य विद्वानों ने भी सूर के धार्मिक सिद्धान्तों पर विद्वत्ता-पूर्ण प्रकाश डाला है।

पंडित प्रवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का लिखा हुआ 'सूर साहित्य' अपने ढंग का अनुपम ग्रन्थ है। इसने सूरसाहित्य के अध्ययन-सम्बन्धी दृष्टिकोण को पर्याप्त रूप से विस्तृत किया है और ऐसे विषयों पर गंभीर विचार प्रकट किये हैं, जो अभी तक अछूते पड़े थे। कृष्ण के विकास में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सामग्री का आपने विद्वत्तापूर्ण एवं तर्क-सम्मत विवेचन किया है और उनकी इस मान्यता का खंडन किया है कि कृष्ण क्राइस्ट का रूपान्तर हैं तथा वैष्णव भक्ति-भावना ईसाइयत की देन है। सूरकालीन समाज, सूर की काव्य शैली तथा राधा आदि विषयों पर भी आपने पांडित्य-पूर्ण विचार प्रकट किये हैं। सूर-सम्बन्धी साहित्य में इस अनुपम ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।

श्रीनलिनीमोहन सान्याल का 'भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास' श्रीशिखरचन्द जैन का 'सूर : एक अध्ययन', श्रीरामरतन भटनागर के 'सूर-साहित्य की भूमिका' और 'सूरदास : एक अध्ययन' श्री प्रेमनारायण टंडन का

'सूर : जीवनी और ग्रन्थ' आदि कुछ अन्य सुन्दर ग्रन्थ भी सूरसाहित्य पर प्रकाशित हो चुके हैं। सान्यालजी ने माखनचोरी, रासलीला, भ्रमरगीत आदि से सम्बन्ध रखनेवाले सूर के कुछ पदों की अपने ग्रन्थ में भावपूर्ण व्याख्या लिखी है। जीवनी के सम्बन्ध में उन्होंने मिश्रबन्धुओं का अनुकरण किया है। शिखरचन्दजी ने सूर की गीतिमयी पदावली, काव्य-सौष्ठव आदि का अच्छा परिचय दिया है। भटनागरजी ने अपने दोनों ग्रन्थों में सूर तथा उनकी कृतियों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री समाविष्ट कर दी है, फिर भी, जैसी पाश्चात्य विद्वानों की शैली है, उन्होंने किसी भी विषय पर निर्णयात्मक सम्मति न देकर पाठकों के सामने कुछ कल्पनायें प्रस्तुत कर दी हैं। सूरसारावली और साहित्य लहरी को विद्वान लेखक ने सूरसागर का अंग माना है। 'सूर :एक अध्ययन' में श्रीमद्भागवत में आये हुए विषयों के साथ सूरसागर की कथा वस्तु का मिलान किया गया है, जिसमें पाठकों को कुछ नवीन सामग्री प्राप्त होती है। 'सूरसाहित्य की भूमिका' में वैष्णव धर्म का विकास तथा पुष्टिमार्ग का विवेचन भी अच्छा लिखा गया है। इसके अन्त में सूर और तुलसी की कवि रूप में तुलना की गई है, जिसमें उच्च कोटि का विवेचन पाया जाता है।

सूरदास पर अब तक जितने ग्रन्थ लिखे गये, उनमें उस सामंजस्यात्मक प्रवृत्ति का प्रायः अभाव ही था, जिसके दर्शन इस युग के आरम्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की कृतियों में हुये थे। मिश्रबन्धुओं के कार्य की गुरुता का अनुभव करते हुए भी, यह खेद के साथ लिखना पड़ता है कि उनपर पाश्चात्य आंग्ल महाप्रभुओं तथा उनकी नीति का प्रचुर मात्रा में प्रभाव पड़ा था और इसी कारण वे कुछ ऐसी बातें लिखते रहे, जो इस देश की सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिकूल थीं। अन्य लेखकों में से बहुतों ने उन्हीं का अनुकरण किया। ऐसा प्रायः देखा गया है कि जब किसी प्रभुतापूर्ण विद्वान की लेखनी से कोई बात निकल जाती है, तो अन्य किसी विद्वान को उसके विरुद्ध लिखने का सहसा साहस नहीं होता। मिश्रबन्धुओं की अनेक मान्यताओं का खण्डन, सर्वप्रथम स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। 'भ्रमरगीत सार' के प्रारम्भ में लिखी हुई उनकी भूमिका, जो बाद में 'सूरदास' नाम के ग्रन्थ में सम्मिलित कर दी गई, किसी भी भाषा के सर्वोच्च कोटि के साहित्य की तुलना में रखी जा सकती है। शुक्लजी ने तुलसी और जायसी के साथ सूर के महत्त्व का भी वज्रवती वाणी में प्रतिपादन किया है। शुक्लजी के 'सूरदास' के साथ ही 'सूरसौरभ' का भी प्रकाशन हुआ। यह ग्रन्थ इन्हीं पंक्तियों के लेखक की रचना है, जिसमें उस समय तक किए गये सूरदास-सम्बन्धी समस्त अन्वेषण का उपयोग हुआ है तथा

कुछ स्वतंत्र मौलिक उद्भावनाओं का उल्लेख भी। सूर के पार्थिव एवं मानसिक जीवन के निर्माण में जिन उपादानों का योग है, उन सबकी इस ग्रन्थ में समीक्षा की गई है। सूरसारावली और साहित्यलहरी को सूरसागर से स्वतंत्र, परन्तु, सूरदास की ही रचनायें स्वीकार किया गया है। साहित्यलहरी के वंश-परिचायक पद की प्रामाणिकता का समर्थन और कतिपय भ्रान्त धारणाओं का निराकरण भी इस ग्रन्थ में हुआ है।

डा० दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक प्रबन्ध के लिखने में कई वर्ष तक अनुकरणीय अध्यवसाय किया है और वैष्णव सम्प्रदायों का अध्ययन करके तद्विषयक बहुमूल्य सामग्री इस ग्रंथ में सञ्चित कर दी है। इस प्रबन्ध के द्वारा लेखक ने महाप्रभु वल्लभाचार्य, उनका पुष्टिमार्ग, सम्प्रदाय-प्रवर्तन और उसका विकास आदि विषयों का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो अब तक अनुपलब्ध था। अन्तः तथा बाह्य साक्ष्य के आधार पर अष्टछाप के आठ संगीतज्ञ महाकवियों की जीवनी तथा उनकी कृतियों की मर्मज्ञतापूर्ण आलोचना भी इस प्रबन्ध में उपलब्ध होती है।

इन्हीं दिनों दो ग्रन्थ और भी प्रकाशित हुए, जो सूर-साहित्य से सम्बन्धित हैं और अपने विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। एक है श्री प्रभुदयाल मीतल का 'अष्टछाप परिचय' और दूसरा है डा० ब्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास'।

मीतल जी विद्याव्यसनी और साहित्य सेवी हैं। आपने कई महत्वपूर्ण ग्रंथों का निर्माण किया है। अष्टछाप[1] परिचय में आठों पुष्टिमार्गीय कवियों का आलोचनात्मक जीवन-वृत्तान्त और उनके काव्य का संकलन प्रस्तुत किया गया है। सूरदास पर इसमें विशेष रूप से लिखा गया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा को 'सूरदास' नाम के प्रबन्ध पर प्रयाग विश्व विद्यालय ने डी० फिल की उपाधि प्रदान की है। 'सूरदास' के विद्वान लेखक ने सूरसागर के रचयिता से साहित्य लहरी के रचयिता को भिन्न माना है। उनकी सम्मति में साहित्य लहरी की रचना चन्द बरदाई के वंशज सूरदास ने की है। सूरसागर के प्रणेता सूरदास की

१—गोस्वामी विट्ठलनाथ ने चार अपने और चार अपने पूज्य पिता वल्लभाचार्य के शिष्यों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की थी। ये अष्ट सखा के नाम से भी प्रख्यात हैं। इनमें वल्लभाचार्य जी के चार शिष्य कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास थे। विट्ठलनाथ जी के चार शिष्य छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास थे।

जीवनी उनके लेखानुसार अभी तक संदिग्ध है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के वंशज श्री हरिरायजी ने चौरासी वैष्णवों की वार्ता पर जो भावात्मक टीका लिखी है, उसमें सूरदास का जीवन सम्बन्धी जो विवरण आया है, वह भी आपके मतानुसार निर्णयात्मक रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। सूर सारावली को भी आप सूरसागर के रचयिता की कृति मानने में सन्देह प्रकट करते हैं।

श्री प्रभुदयालजी मीतल ने वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान श्री द्वारिकादास जी परीख के सहयोग से 'सूर-निर्णय' नाम का एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथ अभी सं० २००६ में प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ में अब तक की उपलब्ध सामग्री का तो प्रयोग किया ही गया है, साथ ही वल्लभ सम्प्रदाय की अन्तरंग बातों का समावेश करके कुछ तथ्य-पूर्ण निर्णय भी प्रस्तुत किये गए हैं। परन्तु ये निर्णय सभी विद्वानों को मान्य नहीं होंगे, क्योंकि ये जिन प्रमाणों पर आधारित हैं, वे प्रमाण स्वयं साध्य कोटि में हैं। इन प्रमाणों में एक तो साम्प्रदायिक वार्ता-साहित्य है और द्वितीय मन्दिरों के अन्दर जयन्तियाँ तथा पर्वादि मनाने की तिथि एवं विधि।

प्रथम वार्ता-साहित्य को लीजिये। यह साहित्य परस्पर भिन्न एवं विरोधी कथनों से भरा पड़ा है। जैसे श्रीनाथजी की प्राकट्य वार्ता में आचार्य वल्लभ के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ जी का निधन संवत् १५६० दिया है। सम्प्रदाय कल्पद्रुम के अनुसार यह संवत् १६२० है। कांकरौली के इतिहास में भी यही संवत् दिया हुआ है। इन दोनों सम्वतों में शुद्ध और सत्य कौन-सा है? 'सूर-निर्णय' के लेखक दोनों ही सम्वतों को अशुद्ध मानते हैं।[1] वे आचार्यों द्वारा दिये गये वृत्ति-पत्रों का आधार लेते हुए अनुमान के द्वारा सम्वत् १५९९ निश्चित करते हैं। पर क्या वृत्ति-पत्र एकांत शुद्ध हैं? और क्या उनका सहारा लेकर जो अनुमान किया गया है, वह तथ्य रूपेण ग्राह्य हो सकता है? इसी प्रकार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की निधन-तिथि के सम्बन्ध में भी वार्ता साहित्य एक मत नहीं है।[2]

१—अष्टछाप परिचय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २०

२—सम्प्रदाय कल्पद्रुम के अनुसार यह तिथि सम्वत १६४४ की फाल्गुण शुक्ल ११ है, पर अन्यत्र यह तिथि सम्वत १६४२ की फाल्गुण शुक्ल ७ है।

श्रीनाथ जी की प्रागट्य वार्ता में सूरदास का शरणकाल सम्वत् १५७७ लिखा है। 'सूरनिर्णय' के लेखक स्वयं वार्ता के इस कथन को स्वीकार नहीं करते। आप निज वार्ता के आधार पर कहते हैं:—"यदि सूरदास वास्तव में सम्वत् १५७७ में ही वल्लभ सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए होते, तब उनके द्वारा सम्वत् १५७२ में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्राकट्य अवसर पर गाया हुआ बधाई का पद किस प्रकार उपलब्ध होता ?"[1] हमारे विचार में सूर-लिखित जिस बधाई के पद को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह एक तो सामान्य रूप लिए हुए है और इसी के साथ अधिक सम्भव यह भी प्रतीत होता है कि वह पद गोस्वामी विट्ठलनाथ की किसी वर्षगाँठ के अवसर पर लिखा गया हो अथवा भाव-जगत में विचरण करते हुए सूर ने उस पद को श्रीकृष्ण जी के जन्मोत्सव के रूप में लिखा हो और सम्प्रदाय में आगे चलकर वह पद श्री विट्ठल नाथजी की जन्म-जयन्ती मनाने के अवसर पर गाने के लिए स्वीकृत कर लिया गया हो। श्री विट्ठलनाथ जी को सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का अवतार माना भी जाता है।[2] सत्य के अधिक निकट यही बात जान पड़ती है कि साम्प्रदायिक भक्तों ने उस पद को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के जन्म-दिवस के लिए उपयुक्त समझ कर उसका गाना प्रारम्भ कर दिया होगा और 'निज वार्ता' में माहात्म्य-वर्धन के हेतु जन्म-दिवस की घटना से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया होगा।

सूरदास जी की जन्म तिथि के सम्बन्ध में 'सूर निर्णय' के लेखक गोपिकालंकार भट्ट जी महाराज, काव्योपनाम रसिक दास, जन्म संवत १८७६ भाव संग्रह के रचयिता श्री द्वारिकेश जी, जन्म संवत १७५१ और निज वार्ता के रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ, जन्म संवत १६०८ के प्रमाण उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि सूरदास संवत १५३५ की वैशाख शुक्ल पंचमी, मंगलवार को उत्पन्न हुए थे। ऊपर उल्लिखित तीनों महानुभावों में गोस्वामी गोकुलनाथ का ही कथन सूर के समकालीन होने से प्रामाणिक हो सकता था। पर निज वार्ता उन्हीं की लिखी हुई है, यह बात अभी स्वयं प्रमाण की अपेक्षा रखती है। यदि उन्हीं की लिखी मान भी ली जाय, तो सूरदास के जिस वंश-परिचायक

१—सूरनिर्णय, पृष्ठ ८५

२—वल्लभो अग्निरूपः स्याद्विट्ठलः पुरुषोत्तमः। अग्नि पुराण। भविष्योत्तर खंड।
वल्लभो नाम वै वन्यः भुवि सर्वे वदंति हि।
तत्सूनु विट्ठलेशस्तु यशोदानन्दनन्दनः ॥
नारद पंचरात्र के तृतीयरात्र के अन्तर्गत।

पद¹ के प्रसंग में आप उनकी विरक्ति का उल्लेख करते हुए लिखते हैं: "सूर-दास ने अपनी वंश-परम्परा और जाति के प्रति उदासीनता ही प्रकट नहीं की है, बल्कि इस पद में उन्होंने भगवद्भक्ति के लिए अपनी जाति को छोड़ देने का भी कथन किया है। ऐसी दशा में अपने वंश का ऐसा वर्णन कर…गर्व-पूर्वक अपने को ब्राह्मण कहना सूरदास द्वारा सम्भव नहीं है।"² इस पद के सम्बन्ध में उल्लिखित धारणा यह कथन ही सिद्ध कर सकता है कि सूर अपने वंश, अपनी जन्म तिथि, आदि सबको विस्मृत कर चुके थे और ऐसी अवस्था में जब वे स्वयं ही इन बातों को छोड़ चुके थे, तो दूसरों को यह बातें कहाँ से ज्ञात हो सकती हैं? अतः गोस्वामी गोकुलनाथ जी और उनके नाम से लिखी गई निज वार्ता का प्रमाण मान्य कोटि में नहीं आ सकता।

मन्दिरों में जो जयन्तियाँ, पर्वादि मनाने की प्रथा चली आती है, उसके सम्बन्ध में हमारा निश्चित मत है कि वह इतिहास-सम्मत न होकर बहुत कुछ भावना पर अवलम्बित है। यह कहना कि श्रीनाथ द्वार में सूरदास जी का जन्मोत्सव श्रीवल्लभाचार्य के जन्म दिवस, वैशाख वदी ११ के बाद वैशाख सुदी ५ को मनाया जाता है, सत्य हो सकता है। मन्दिरों में सूरदास के जन्मदिवस को मनाने की परम्परा भी प्राचीन हो सकती है।³ इन बातों में किसी को

१—साहित्यलहरी, पद ११८।

२—सूर निर्णय, पृष्ठ ५।

३—पुष्टि सम्प्रदाय में महात्मा सूरदास का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः उनके नाम से जयन्ती उत्सव का मन्दिरों में मनाया जाना सुसंगत और परम आवश्यक है। इसके लिए कोई तिथि भी निश्चित करनी ही थी। आचार्य जी के गौरव और पद के कारण उनकी जन्म जयन्ती के पश्चात् यह तिथि रखी गई होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इसके पश्चात् इस तिथि को आधार मानकर, यह किंवदन्ती चल पड़ी होगी कि सूरदास आचार्य जी से दश दिन छोटे हैं।

इसी प्रसंग में सूरदास की निधन तिथि पर भी विचार करना चाहिये। सूर ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की विद्यमानता में लीला प्रवेश किया था। क्या यह तिथि सम्प्रदायवालों को ज्ञात है? हमारी समझ में यह किसी को भी ज्ञात नहीं है। और फिर, तिथि तो जहाँ तहाँ, उनके निधन सम्वत् का ही निश्चित पता आज तक नहीं चल सका। जब निधन तिथि

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

संदेह करने की आवश्यकता भी नहीं है, पर केवल इसी आधार पर सूरदास का जन्म सम्वत निकाल लेना हास्यजनक ही कहा जायगा। उदाहरण के लिए मन्दिरों में राधाष्टमी भाद्रशुक्ल ८ को मनाई जाती है। भादों सुदी ५ को चन्द्रावली जी का, छट को विसाखाजी का, और सप्तमी को ललिता जी का प्राकट्योत्सव मनाया जाता है। क्या इस आधार पर आप इन सबकी जन्मतिथियाँ मनाने का आग्रह करेंगे? हमारी समझ में मन्दिरों में मनाये जाने वाले अधिकांश उत्सवों और जयन्तियों की तिथियाँ इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। वे विशुद्ध रूप से भावना पर आधारित हैं। भावमयी हरिलीला और भावना-प्रधान पुष्टिमार्गीय भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले उत्सवों के सम्बन्ध में यही कथन सर्वाधिक समीचीन और युक्ति-संगत है।

वार्ता साहित्य के सम्बन्ध में 'सूर निर्णय' के लेखक हमारी सम्मति के साथ सहमत होते हुए लिखते हैं: "वार्ताओं को प्राचीन और गोकुलनाथजी द्वारा कथित एवं हरिरायजी द्वारा सम्पादित मानते हुए भी उनकी साम्प्रदायिक एवं भावनायुक्त शैली के कारण आजकल के वैज्ञानिक युग में उनको इसी रूप में ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता।"[1] हरिरायजी की जिस भाव-प्रकाशमयी चौरासी वैष्णवों की वार्ता को इतना अधिक श्रेय दिया जाता है, उसके सम्बन्ध में भी आप लिखते हैं: "हरिराय जी ने अपने भाव प्रकाश की रचना अष्टछाप के जीवनकाल से कम-से-कम सौ वर्ष पश्चात् की थी, इसलिए उनकी कुछ बातें भ्रमात्मक भी हो सकती हैं।"[2] यही मत ग्राह्य और मान्य कोटि का है।

गत पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश

का यह हाल है, जो सम्प्रदायवालों की आँखों के आगे हुई थी, तो जन्मतिथि की निर्णयात्मक बात कहना तो बहुत ही दूर की बात है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि निधन तिथि को जन्मतिथि मानकर सूर का जयन्ती उत्सव सम्प्रदाय में चल पड़ा हो। प्रायः सभी वैष्णव सम्प्रदायों में प्रभु और आचार्यों की जन्मतिथि तथा भक्तों की केवल निधन तिथि मनाने की प्रथा पाई जाती है।

१—अष्टछाप परिचय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २०५ पर अन्तिम पैरा में लिखा है: अष्टछाप के आठों कवियों में कृष्णदास की जीवन घटनायें पुष्टि सम्प्रदाय के वार्ता साहित्य में सबसे अधिक विचित्र और परस्पर विरोधी ढंग से लिखी मिलती हैं।

२—अष्टछाप परिचय, द्वि० संस्करण पृष्ठ ९३।

साहित्यलहरी वाले पद को सूरनिर्णय के लेखकद्वय ने अप्रामाणिक माना है, क्योंकि उसमें साहित्यलहरी के अन्य पदों जैसी दृष्टकूट की शैली नहीं है, उसमें आचार्य वल्लभ का नाम नहीं है और विट्ठलनाथजी के लिए गुसाईं शब्द का प्रयोग हुआ है। गोस्वामी की उपाधि विट्ठलनाथजी को अकबर से सम्वत १६३४ के पश्चात् प्राप्त हुई थी। यदि साहित्यलहरी का प्रणयन सम्वत १६२७ में भी माना जाय, तो भी विट्ठलनाथ उस समय तक गोस्वामी नहीं कहलाते थे। इसी के साथ अन्य विद्वानों के नाम अपने समर्थन में देते हुए वे लिखते हैं कि पद में आये हुए 'प्रबल दच्छिन विप्र कुल' का अर्थ पेशवा है और 'शत्रुनाश' से स्पष्ट तात्पर्य मुगलों का विनाश है। जिन्होंने शत्रु का अर्थ काम-क्रोधादि और विप्रकुल का अर्थ आचार्य वल्लभ किया है, उन्होंने अर्थ की खींचातानी की है। यह भी कहा गया है कि यदि साहित्यलहरी का यह पद उसकी मूल प्रति में होता तो गोस्वामी गोकुलनाथ और श्री हरिरायजी इसी के आधार पर सूरदास का जीवन-चरित्र लिखते। इस विषय पर हमने सूर-सौरभ में इतना अधिक स्पष्ट विवेचन कर दिया है कि यदि उसे सावधानी से, मनोयोगपूर्वक पढ़ लिया जाय तो पद को अप्रामाणिक कहने का तथा अर्थ को समझने में भ्रम का कुछ भी अवकाश नहीं रह जाता। फिर भी संक्षेप में हम यहाँ ऊपर लिखी युक्तियों पर विचार करते हैं:—

(१) दृष्टकूट शैली—साहित्यलहरी दृष्टकूट शैली[1] में लिखी गई है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि कवि अपने वंश का परिचय भी उसी शैली में दे। वंश-परिचय और ग्रंथ का निर्माण दो पृथक-पृथक वस्तुयें हैं। फिर भी

१—सूरसागर व्यंजना-प्रधान काव्य है। उसका अभिधापरक वाच्यार्थ भी सुन्दर है और व्यञ्जनापरक, नाना-भाव-समन्वित एवं आध्यात्मिक अर्थ तो आकर्षक है ही। दृष्टकूट शैली व्यञ्जना से थोड़ी-सी भिन्न है। व्यञ्जना में एक भाव से दूसरे भाव तक पहुँचा जाता है, तो दृष्टकूट में शाब्दिक व्यायाम करते हुए एक मुख्य शब्द को पकड़ना और उससे एक नवीन अर्थ को ग्रहण करना पड़ता है। अतः व्यञ्जना और दृष्टकूट दोनों एक ही कोटि के हैं। उनमें केवल मार्ग की विभिन्नता है। चमत्कारमयी वक्रता दोनों के अन्तर्गत है। लीला-गायक सूर ने दोनों का प्रयोग किया है। जो लीला नित्य और शाश्वत है, वह शब्द और अर्थ दोनों में व्याप्त एवं प्रदर्शित होनी ही चाहिये। दृष्टकूट शैली शब्द-प्रधान है, तो व्यञ्जना मुख्य रूप से भाव-प्रधान।

कवि की सामान्य शैली का प्रभाव उसकी कृतियों पर पड़ता है और वह इस पद में भी विद्यमान है। 'प्रबल दच्छिण विप्रकुल' इस शब्द-समूह को ही लीजिये। भारतेन्दु ने इसके उन दोनों अर्थों की ओर संकेत किया है, जिन्हें लेकर परवर्ती लेखक दो पक्षों में विभाजित हो गये। यही अवस्था 'शत्रु ह्वै है नाश' इस शब्द-समूह की है। इसे आप दृष्टकूट शैली का प्रभाव कह सकते हैं; जिसके कारण पेशवाओं और मुगलों की ओर ध्वनि जाती है, पर ध्वन्यार्थ प्रस्तुत अर्थ नहीं है, क्योंकि ध्वनि सुनने वाले की प्रवृत्ति पर अवलम्बित है और नाना दिशाओं में जाकर नाना अर्थ दे सकती है। 'हौं कही प्रभु भगति चाहत शत्रु नाश स्वभाइ।'—इस पंक्ति का सीधा अर्थ इस प्रकार होगा: 'मैं स्वभाव से प्रभु-भक्ति और शत्रु-नाश वरदान माँगता हूँ।' यहाँ भक्ति के साथ शत्रु-विनाश का अर्थ काम-क्रोधादि रूपी शत्रुओं का विनाश ही मानना पड़ेगा। अन्यथा एक ही पंक्ति के अन्तर्गत कुछ शब्दों का आध्यात्मिक और कुछ का भौतिक अर्थ करना प्रकरण-विरुद्ध और अयुक्तियुक्त हो जायगा। प्रकरण के अनुकूल जब इस पंक्ति का यह अर्थ हो जायगा, तो इसके पश्चात् आने वाली पंक्तियों का अर्थ भी इसी के अनुकूल करना पड़ेगा। वैसे भी उन पंक्तियों में सूर के उसी जीवन का उल्लेख है, जो पुष्टिमार्गीय भक्ति से सम्बन्ध रखता है। 'प्रबल दच्छिण विप्रकुल' से वल्लभाचार्य और गुसाईं से विट्ठलनाथ की ओर स्पष्ट संकेत है। अष्टछाप का भी उल्लेख है। अतः खींचातानी इस अर्थ में नहीं है। खींचातानी है पेशवा और मुगलों का अर्थ करने में, जो अप्रस्तुत है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने इसी कारण अपने प्रबन्ध 'सूरदास' में पद को अप्रामाणिक नहीं माना है।

'सूर सौरभ' में हमने पद में आई हुई समस्त बातों का समर्थन अन्तः तथा बाह्य दोनों प्रकार के साक्ष्यों द्वारा किया है। भविष्य पुराण के प्रमाण का खंडन आज तक किसी विद्वान ने नहीं किया, जिसमें सूर को निरावरण शब्दों में चन्दवरदाई का वंशज लिखा हुआ है और उसे हरिलीला-गायक माना गया है। उसमें दो अन्य सूरदासों का भी उल्लेख है, जिनमें विल्वमंगल को प्राच्य प्रदेश का कहा गया है। सूरनिर्णय के पृष्ठ ६० पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सेवक श्रीनाथ भट्ट की 'संस्कृत वार्ता मणिमाला' के 'जन्मान्धो सूरदासोऽभूत् प्राच्यो ब्राह्मण उन्मदः' इस श्लोकार्ध को उद्धृत कर जिस प्राच्य ब्राह्मण सूरदास का वर्णन किया गया है, वह यही विल्वमंगल नाम का सूरदास प्रतीत होता है। चन्दवरदाई का वंशधर और सूरसागर का रचयिता सूरदास इससे भिन्न है। विल्वमंगल प्राच्य अर्थात् पुरविया ब्राह्मण है, तो सूरसागर का रचयिता सूरदास पाश्चिमात्य अर्थात् सारस्वत भट्ट ब्राह्मण।

(२) आचार्य वल्लभ का नाम—पद में यद्यपि आचार्यजी का नाम नहीं है, फिर भी 'प्रबल दक्षिण विप्रकुल' से अर्थ उन्हीं के नाम का लगता है,[1] क्योंकि उन्होंने सूरदास के, काम-क्रोधादि शत्रुओं का शमन करके उन्हें हरिलीला के दर्शन कराये थे। पद में नाम विट्ठलनाथ का भी नहीं है, पर गुसाईं शब्द से उन्हीं के नाम का बोध होता है। 'आठ मध्ये छाप'—अष्टछाप की ओर संकेत करता है।

(३) गोस्वामी उपाधि—यह उपाधि, संभव है, विट्ठलनाथ जी को अकबर से ही प्राप्त हुई हो,[2] पर यह एक ऐसा सामान्य शब्द है, जो बिना किसी विशिष्टता के भी प्रत्येक आचार्य के साथ उन दिनों लगा दिखाई देता है। तुलसीदास जी को किसी भी अकबर ने गोस्वामी उपाधि से विभूषित नहीं किया, पर यह शब्द उनके नाम के साथ भी प्रयुक्त होता है। गोकुलिये गोस्वामी तो आज तक प्रसिद्ध हैं। अतः विट्ठलनाथ जी को गोस्वामी लिख देना सामान्यतः उनके आचार्यत्व और प्रतिष्ठा का सूचक है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि वंश-परिचायक पद साहित्यलहरी में सूरदास ने या उनके किसी शिष्य ने बाद में मिला दिया, तो भी क्या हानि हो गई? उसमें लिखी हुई बातों का खंडन तो किसी ने नहीं किया। रही यह बात कि यदि साहित्यलहरी का यह पद गोकुलनाथ जी और हरिराय के सामने आया होता, तो वे सूर के वंश का वर्णन इसी आधारपर करते, तो इस विषय में हमारा उत्तर वही है, जो सूरनिर्णय के लेखकद्वय ने गोस्वामी गोकुलनाथ और हरिराय जी

१—सूरनिर्णय के लेखक अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १५० पर साहित्यलहरी के ८१वें पद को उद्धृत करके उसकी प्रथम पंक्ति में आये हुए विप्र शब्द का दृष्टकूट शैली के कारण गर्ग अर्थ करते हैं। इसी पद्धति पर पद ११८ में आये विप्रकुल का अर्थ वल्लभाचार्य किया जा सकता है।

२—कहा जाता है कि विट्ठलनाथजी ने संवत् १६३४ में आगरा में सूरत के एक साहूकार की पुत्रवधू का बड़ी कुशलतापूर्वक न्याय किया था। इस न्याय से प्रसन्न होकर अकबर ने उन्हें गुसाईं जी का पद प्रदान किया था। इस कथन में कहाँ तक सत्यता है, कहा नहीं जा सकता। पर इसमें संदेह नहीं कि गुसाईं शब्द इन्द्रियसंयम का वाचक है, न्यायाधीश का नहीं। अकबर द्वारा ऐसे अवसर पर विट्ठलनाथजी को न्याय के उपयुक्त कोई उपाधि मिलनी चाहिये थी। 'गुसाईं' उपाधि तो इस अवसर के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है।

के सम्बन्ध में दिया है। 'सूरनिर्णय' के पृष्ठ ६१ पर आप लिखते हैं: "सूरदास लोकधर्म से परे ही नहीं थे, प्रत्युत वे स्वयं-प्रकाश भी हो गये थे। वार्ताकार सूरदास जी की इस स्थिति से परिचित थे। सम्भव है, इसीलिए उन्होंने सूरदास जी की जाति का कथन करना अनावश्यक समझा हो।" यह तो गोस्वामी गोकुलनाथ और चौरासी वार्ता की बात हुई। अब हरिराय जी पर आइये। हरिराय जी ने इस वार्ता की भावप्रकाश टीका में सूरदास को सारस्वत लिख दिया है। हमारी समझ में तो यह उल्लेख भी पद की किसी भी बात का विरोध नहीं करता। 'सूर सौरभ' में हमने सारस्वत शब्द की उत्पत्ति सरस्वती नदी तटवर्ती और सरस्वती-पुत्र दो प्रकार से की है। स्वर्गीय भांडारकर ने भी सारस्वत शब्द की इसी प्रकार व्याख्या की है। साहित्यलहरी के पद में सूरदास ने स्वयं अपने पूर्वज को सरस्वती-पुत्र लिखा है।[1] वैसे भी ब्रह्मभट्टों के अनेक गोत्र और निकास सारस्वत ब्राह्मणों में मिलते हैं। दक्षिण में किसी समय उत्तराखंड से गये हुये महाराष्ट्री भट्टों (ब्राह्मणों) में से एकवर्ग आज तक अपने को सारस्वत कहता है। चन्द्र भट्ट को या उनके पूर्वजों को लाहौर का निवासी कहा गया है। अतः सारस्वत प्रदेश वासी और सरस्वती-पुत्र होने के नाते दोनों ही प्रकार से वे सारस्वत कहे जा सकते हैं। अतः सारस्वत शब्द से किसी भी प्रकार का विरोध खड़ा नहीं होता।

हरिरायजी का यह लिखना कि 'सूरदास का पिता एक अत्यंत दरिद्र ब्राह्मण था। उसके चार पुत्रों में से सबसे छोटे पुत्र सूरदास थे', थोड़ा-सा भ्रमात्मक है।[2] उन्हें चार के स्थान पर सात पुत्र लिखने चाहिये थे। सूरदास उन सबमें छोटे थे, इस तथ्य को वे स्वयं अपने वंश-परिचायक पद में अंकित कर चुके हैं। दरिद्र ब्राह्मण वाली बात का सामंजस्य भारतेन्दुजी के उस लेख के अनुसार करना चाहिये, जिसे हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही दे चुके हैं।

१—पान पय देवी दियो शिव आदि सुर सुख पाइ।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति सुखदाइ॥

२—हरिरायजी के शिष्य विट्ठलनाथ ने संवत् १७२९ में संप्रदाय कल्पद्रुम की रचना की थी जिसमें हरिरायकृत ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं, परन्तु उनमें चौरासी वार्ता की भावप्रकाश टीका का नाम नहीं है। संभव है, यह ग्रन्थ बाद में बना हो और साहित्यलहरी को बिना देखे ही स्मृति या अनुमान के आधार पर उसमें यह भ्रमात्मक उल्लेख सम्मिलित हो गया हो।

सीही[1] ग्राम के निवास का भी सामंजस्य उनके लेख में हो जाता है। इस युग के विद्वान यदि भारतेन्दु जैसी सामंजस्यात्मक दृष्टि को लेकर आलोचना में प्रवृत्त हों, तो विरोध की भावनायें बहुत कुछ कम की जा सकती हैं।

(५) नाम—अष्टछाप के कवियों के समकालीन, वृन्दावन निवासी श्री प्राणनाथ कवि ने अपने 'अष्ट सखामृत' नाम के ग्रन्थ में सूरदास का नाम सूरजदास लिखा है।[2] साहित्यलहरी के पद में मूल नाम सूरजचन्द है, परन्तु उसी पद में सूर आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के बाद लिखते हैं: "नाम राखे मोर सूरजदास, सूर सुस्याम।" इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि सूरजचन्द का ही संन्यास का नाम सूरजदास है। वैष्णव भक्त होने के कारण सूरजचन्द ही सूरजदास, सूरदास या केवल सूर के नाम से प्रख्यात हो गये।

अतः साहित्यलहरी के वंश-परिचायक पद को अप्रामाणिक मानने के लिये हमें तो कोई कारण दिखाई नहीं देता। उसमें सूर के नाम के साथ 'मन्द, निकाम, लयो मोल गुलाम' जैसे विनम्रता-सूचक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उसकी पदावलि, शैली, भाव तथा विचार सभी सूर की रचना के अनुकूल हैं और

१—भारतेन्दुजी ने सामंजस्य के लिये इस ग्राम के नाम का उल्लेख किया है। वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर की भूमिका में चौरासी वार्ता के विवरण के पश्चात पंडित गणपतलाल चौबे द्वारा रचित सुगम पन्थ का उल्लेख है, जिसके अनुसार सूरदास मदनमनोहर या मदनमोहन सूरध्वज ब्राह्मण दिल्ली नगर के समीप किसी ग्राम के रहने वाले थे। ग्राम का नाम नहीं दिया है, पर हमने सूरसौरभ में इस ग्राम का नाम सीही निश्चित किया है। दिल्ली के समीप सीही ग्राम के निवासी, इस लेखानुसार, सूरदास मदनमोहन हैं जो अकबर के यहाँ संडीले के अमीन थे और उच्च कोटि के कवि थे। नाभादास ने भक्तमाल में इन्हें 'गान-काव्य-गुन-रासि,' 'राधाकृष्ण उपासि', 'रहस सुख के अधिकारी' तथा 'श्रृङ्गार रस के गायक' लिखा है। भविष्य पुराण में भी इनका वर्णन है। भविष्य पुराण तथा भक्तमाल दोनों ने मदनमोहन सूरदास को जो सूरध्वज ब्राह्मण थे, चंद-बरदाई के वंशधर सूरदास से भिन्न माना है, जो सूरसागर के रचयिता थे और जिनके पिता ब्रज में आगरा अथवा गोपाचल में बस गये थे।

२—कहा बड़ाई करि सकै, जाको प्रकट प्रकास।
श्रीवल्लभ के लाड़िले, कहियत सूरजदास ॥

उसकी किसी भी बात का खण्डन किसी भी प्राचीन ग्रन्थकार की लेखनी द्वारा नहीं हुआ। अभी तक जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, वे उसमें आई हुई बातों के पोषक और समर्थक ही हैं। फिर पद के प्रामाणिक होने में क्या संदेह ? कल्याण के सम्पादक और साधना-पथ के प्रख्यात पथिक श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार ने भी कल्याण के हिन्दू संस्कृति अंक में पद में उल्लिखित बातों को प्रामाणिक मान कर सामंजस्यात्मक दृष्टि से ही सूरदास का जीवन-चरित प्रकाशित किया है। हम भी उनके लेख से सहमत हैं।

'सूर सौरभ' में हमने सारावली के सरस और साहित्यलहरी के सुवल— दोनों शब्दों को संवत-सूचक माना है। सूरनिर्णय के लेखक अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १३३ पर लिखते हैं : "हमारा निश्चित मत है कि सरस नाम का कोई संवत नहीं होता है।" इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि यदि सरस नामक कोई संवत नहीं है तो सुवल नाम का भी कोई संवत नहीं है। परन्तु सारावली में सरस के साथ और साहित्यलहरी में सुवल के साथ संवत शब्द जुड़ा हुआ है। ज्योतिष ग्रन्थों में दी हुई संवतों की नामावली में इन संवतों के नाम अवश्य नहीं आते। पर वैष्णवधर्म लौकिक नामावली के साथ चला कब ? उसने नमक को भी रामरस कहकर पुकारा। हैदराबाद को भागनगर और अहमदाबाद को राजनगर नाम दिया गया। इसी प्रकार, जैसा हम सूरसौरभ में लिख चुके हैं, आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में माधुर्य-रस-मण्डित हरिलीला के अनुसार मन्मथ को सरस और वृष को सुवल संवत कहा गया है। अतएव दोनों ही शब्द सार्थक और संवतों के सूचक हैं। डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने प्रबन्ध 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में सुवल को प्रभव संवत का पर्यायवाची स्थिर किया है, क्योंकि उनकी गणना से प्रभवसंवत १६१७ में पड़ता है, जो साहित्यलहरी का निर्माण-संवत होना चाहिये। यद्यपि प्रभव का भी अर्थ खींचतानकर बलवान किया जा सकता है, पर वृप या वृपभ का अर्थ 'बलवान' लोक-प्रसिद्ध है। बलवान होने के कारण ही बैल को वृपभ कहा जाता है। सुबल अर्थात् वृप संवत १६२७ में पड़ता है। डा० गुप्त ने उनकी गणना महाराष्ट्रीय ढंग पर की है। इस गणना में और हमारे उत्तराखंड की संवत-गणना में बड़ा अन्तर है। हमारे हिसाब से सं० २००७ में शुभकृत नाम का संवत्सर है, पर दाक्षिणात्यों के अनुसार इस वर्ष के संवत का नाम विकृति है। अतः हमें तो अपना पूर्वमत ही सत्य प्रतीत होता है। 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने इस विषय में नंददास और तुलसीदास के जीवन से सम्बन्ध रखने

वाली एक घटना का उल्लेख किया है, जो हमारे मत के समर्थन में प्रयुक्त की जा सकती है।

'सूर-निर्णय', पृष्ठ ८६ पर लिखा है : "नन्ददास संवत १६०७ के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सेवक होकर पुष्टि सम्प्रदाय में सम्मिलित हुये थे। ऐसा ज्ञात होता है कि वे सेवक होने के अनन्तर कुछ समय तक व्रज में रहकर बाद में अपने जन्मस्थान रामपुर में चले गये थे और संवत १६२० के पश्चात वे स्थायी रूप से गोवर्धन में आकर रहने लगे थे।" पृष्ठ ६१ पर लिखा है : "सूरदास और नन्ददास का घनिष्ट सम्बन्ध था।......नन्ददास ने साम्प्रदायिक ज्ञान ही नहीं, काव्य-विषयक ज्ञान भी किसी रूप में सूरदास से ही प्राप्त किया था।" 'सूर-निर्णय' के लेखकों का यह भी कहना है कि साहित्यलहरी का निर्माण सूरदास ने नन्ददास के लिये ही किया था जैसा साहित्यलहरी के संवत-सूचक पद की इस पंक्ति से ज्ञात होता है:—

नन्दनन्दनदास हित साहित्यलहरी कीन।

सूर नन्ददास को नन्दनन्दनदास ही कहकर पुकारते थे।[1] पुनः पृष्ठ ६४ पर लिखा है : "संवत १६२० के पश्चात नन्ददास गृहस्थ का त्यागकर विरक्त भाव से गोवर्द्धन में स्थायी रूप से रहने लगे थे। अतः सवत १६२६ में उनसे मिलने के लिये नन्ददास को घर ले जाने और गृहस्थ पालन का कर्तव्य समझाने के लिये तुलसीदास का व्रज में आना सर्वथा संभव है।"

यदि 'सूर-निर्णय' के लेखकों का यह मत सत्य है, तो साहित्यलहरी का निर्माण न तो संवत १६०७ में सिद्ध होता है और न संवत १६१७ में। संवत १६०७ के लगभग तो नन्ददास व्रज में आये थे, पर आकर शीघ्र ही घर लौट गये, क्योंकि उनका मन गृहस्थ में फँसा हुआ था। पुनः १६२० के पश्चात आये, कितने समय पश्चात आये, यह गोस्वामी तुलसीदासजी के आगमन से स्पष्ट हो सकता है। तुलसीदास नन्ददास को समझाने के लिये सवत १६२६ में आये। अतः १६२६ के कुछ पूर्व ही नन्ददास का व्रज में पुनः आगमन सिद्ध होता है। 'सूर-निर्णय' के विद्वान लेखक ने 'अष्टछाप परिचय' के द्वितीय संस्करण में इस घटना का सवत १६२४ दिया है। ऐसी अवस्था में जब नन्ददास १६०८ और १६२४ के बीच[2] व्रज में थे ही नहीं, तो सूरदास ने

१—सूरनिर्णय, पृष्ठ १५३ के अतिम पैरा की पंक्तियाँ भी यही सिद्ध करती हैं।

२—अष्टछाप परिचय, द्वितयी संस्करण, पृष्ठ ३०७ तथा ३११।

उनके लिये साहित्यलहरी १६१७ में कैसे बना दी? संवत १६२४ के निकट संवत १६२७ है, जब नन्ददासजी स्थिर रूप से ब्रज में रहने लगे थे। अतः 'सूर-निर्णय' के लेखकों की खोज के आधार पर भी साहित्यलहरी का निर्माण काल संवत १६२७ ही सिद्ध होता है।

'सूर-निर्णय' के लेखकों ने कुछ ऐसी भी बातें लिख दी हैं, जो उन्हीं के निर्णय को संदेहास्पद बना देती हैं। आपके लेखानुसार संवत १६०० के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथ आचार्य-गद्दी पर बैठे। संवत १६०२ में अष्टछाप की स्थापना हुई। इसी वर्ष पारिवारिक कलह प्रारम्भ हुई। संवत १६०५ में इस कलह ने उग्र रूप धारण किया और संवत १६०६ के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथ की ड्योढ़ी बन्द की गई।[1] ड्योढ़ी बन्द करने वाले श्रीनाथ मंदिर के अधिकारी कृष्णदास थे। क्या मंदिर का अधिकारी सम्प्रदाय के आचार्य से भी बढ़कर शक्ति रखता है? यदि रखता है, तो फिर यह आचार्यत्व कैसा?[2] और फिर एक ओर कलह चल रही है, दूसरी ओर अष्टछाप की स्थापना हो रही है; वह भी ऐसे अवसर पर जब विट्ठलनाथजी का आचार्यत्व स्वयं खटाई में पड़ा हुआ था। यदि ये बातें ठीक हैं, तो संवत १६०६ के पश्चात ही गोस्वामी विट्ठलनाथ का आचार्य-गद्दी पर बैठना प्रमाणित होता है। अष्टछाप की स्थापना भी इसी के पश्चात हुई होगी।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता प्रसंग दो में लिखा है कि आचार्य महाप्रभु गऊघाट पर तीन दिन रहकर ब्रज को चल दिये और मार्ग में सर्व प्रथम श्रीगोकुल पहुँचे। सूरदास भी उनके साथ थे। महाप्रभु ने सूरदास को श्रीगोकुल का दर्शन करने के लिए कहा। सूरदास ने श्रीगोकुल को दण्डवत किया। दण्डवत करते ही श्रीगोकुल की बाललीला सूरदासजी के हृदय में स्फुरित हुई और उन्होंने 'शोभित कर नवनीत लिये'—इस टेक से प्रारम्भ होने वाला पद आचार्यजी के सामने गाया। पुनः वार्ता प्रसंग चार में लिखा है कि सूरदासजी ने बहुत दिनों तक श्रीनाथजी की सेवा की। श्रीनाथजी की सेवा से अवकाश मिलने पर कभी कभी वे श्रीगोकुल जाकर श्रीनवनीतप्रियजी का दर्शन भी

१—अष्टछाप परिचय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१।

२—यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह वही कृष्णदास हैं, जिन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ ने सूरनिर्णय के अनुसार संवत १६०२ में अष्टछाप में सम्मिलित किया था।

अष्टछाप परिचय, द्वितीय संस्करण के पृष्ठ ३७ पर लिखा है: "संवत १६२८ के फाल्गुण मास में वर्तमान गोकुल बसाया गया। इसी सम्वत में नवनीतप्रिय जी का मन्दिर बनवाया गया और गोस्वामी विट्ठलनाथ शिष्य-सेवकों सहित वहाँ जाकर बस गये।" परन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि सूरदास संवत १६२८ के पश्चात नवनीतप्रिय जी का दर्शन करने गोकुल गये थे, असंगत होगा। सूरनिर्णय, पृष्ठ ६८ की आठवीं से १८वीं पंक्ति तक के लेख से प्रकट होता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ संवत १६१६ में राजकीय उपद्रव की आशंका से श्रीनवनीतप्रिय जी के स्वरूप (मूर्ति) और अपने कुटुम्ब को लेकर अड़ैल से रानी दुर्गावती की राजधानी गढ़ा नामक स्थान को चले गये। संवत १६२२ में वे मथुरा आये और मथुरा से गोकुल गये। इसी पृष्ठ के अन्तिम अनुच्छेद में लिखा है:—"सूरदास गोकुल के वासी प्राननाथ वर पावे"— इस कथन से यह सिद्ध होता है कि तब तक गोसाईं विट्ठलनाथ गोकुल में बस गये थे। यह उल्लेख सम्वत १६२२ से भी सम्बन्धित हो सकता है। यदि सम्वत १६२२ तक गोस्वामी विट्ठलनाथ गोकुलवासी बन सकते हैं (क्योंकि तभी उक्त सम्वत में जन्माष्टमी के उत्सव पर उनके परिवार वालों से महावन के भोमियाओं की कहा सुनी हो सकती है), तो अड़ैल वाले श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप की स्थापना भी वहाँ उक्त सम्वत में सम्भव हो सकती है और सूरदास जी उक्त स्वरूप का दर्शन करने के लिए उस समय भी गोकुल जा सकते हैं। वैसे संवत १५५० से ही आचार्य वल्लभ ने अपनी बैठक गोकुल के ठकुरानी घाट पर स्थापित कर ली थी और वहाँ श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप की प्रतिष्ठा भी उस समय अवश्य हुई होगी। यदि यह न भी माना जाय, तो सम्वत १६२२ में तो हो ही गई होगी। फिर इस तिथि को सम्वत १६२२ से खींचकर १६२८ तक ले जाने की क्या आवश्यकता है ?

इसी के साथ यह भी विचारणीय है कि यदि नवीन गोकुल सम्वत १६२८ में बना तो सूरदास ने (यदि वह सम्वत १६२८ के बहुत समय बाद तक, सूरनिर्णय के अनुसार सम्वत १६४० तक, जीवित रहे तो) उसके सम्बन्ध में कुछ तो लिखा होता। गोकुल की प्रतिष्ठा वल्लभीय मत में वैसे भी बहुत अधिक है। नवीन गोकुल बनने के पश्चात और भी अधिक हो गई होगी। पर खेद है, समूचे सूरसागर में गोकुल का वह महत्व कहीं पर भी प्रकट नहीं होता जो वृन्दावन को प्राप्त है ? वृन्दावन के प्रति सूर के पदों से जो अनुराग झलकता है, वह गोकुल के प्रति नहीं। गोकुल का वर्णन श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के अन्तर्गत तो आ जाता है, पर उनकी सरस, भावसम्पन्न,

नित्य लीलाओं में वह स्थान नहीं पाता, इसका क्या कारण है ? सूरसागर के अनुसार श्रीकृष्ण गोकुल में प्रकट होते हैं, अतः वे गोकुल के जीवन हैं, गोकुल के नाथ हैं, उनके अवतार से गोकुल धन्य है, परन्तु यदि गोकुल में उपद्रव होते हैं, तो यशोदा और नन्द दोनों ही गोकुल को छोड़ देने के लिए उद्यत हो जाते हैं और कृष्ण आदि के साथ वृन्दावन में बस जाने की बात कहने लगते हैं।[1] श्रीकृष्ण गोकुल में गायें चराते हैं, गोकुल की गली-गली में उनके कारण आनन्द की धारा भी बहती है, वे गोकुल के रक्षक हैं, इस प्रकार की बातें गोकुल को हरिलीला के साथ सम्बद्ध नहीं करतीं। दशम स्कंध में होली तथा फाग खेलने के वर्णन में गोकुल का वर्णन कुछ सरसता अवश्य लिये है, परन्तु वहाँ भी गोकुल एक ऊँचा-सा नगर है, जहाँ की मदमाती स्त्रियाँ घर-घर में फाग खेल रही हैं। इनके साथ राधा भी है, जो अन्य सखियों को लिये हुये कृष्ण के साथ होली खेल रही है। वृन्दावन यहाँ भी गोकुल के साथ लगा हुआ है और जहाँ लीला का कुछ भी वर्णन आता है, वहाँ यह गोकुल के साथ ही रहता है।

हरिवंश पुराण के अनुसार समस्त लोकों से ऊपर गोलोक का स्थान है, जहाँ पहुँचना अत्यन्त दुष्कर है।[2] ब्रह्मवैवर्त, वायुपुराण तथा पद्म पुराण गोलोक का महिमामय शब्दों में उल्लेख करते हैं।[3] सूरसागर इस सम्बन्ध में क्यों चुप है ? खेद है, सूर के अध्येताओं का ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर आज तक नहीं गया। सूरसारावली में भी गोकुल का नाम ऐतिहासिक घटनाओं से ही सम्बद्ध है। केवल एक स्थान पर, पद वन्द संख्या १०८८ में नित्य लीलाओं के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है, पर हरि का निज धाम वहाँ भी वृन्दावन को ही माना गया है।[4] गोलोक या गोकुल[5], जहाँ श्रीकृष्ण

१—महर महरि के मन यह आई।
गोकुल बहुत उपद्रव दिन प्रति बसिये वृन्दावन अब जाई॥ १०।२६०॥
सूरसागर।

२—हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय १६, श्लोक ३० और ३४।

३—देखो परिशिष्ट १ और २।

४—यह विधि क्रीडत गोकुल में हरि निज वृन्दावन धाम।
इसी विषय की कुछ अन्य पंक्तियाँ देखिये:—

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

अष्टछाप परिचय, द्वितीय संस्करण के पृष्ठ ३७ पर लिखा है: "संवत १६२८ के फाल्गुण मास में वर्तमान गोकुल बसाया गया। इसी सम्वत में नवनीतप्रिय जी का मन्दिर बनवाया गया और गोस्वामी विट्ठलनाथ शिष्य-सेवकों सहित वहाँ जाकर बस गये।" परन्तु इससे यह परिणाम निकालना कि सूरदास संवत १६२८ के पश्चात नवनीतप्रिय जी का दर्शन करने गोकुल गये थे, असंगत होगा। सूरनिर्णय, पृष्ठ ६८ की आठवीं से १८वीं पंक्ति तक के लेख से प्रकट होता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ संवत १६१६ में राजकीय उपद्रव की आशंका से श्रीनवनीतप्रिय जी के स्वरूप (मूर्ति) और अपने कुटुम्ब को लेकर अड़ैल से रानी दुर्गावती की राजधानी गढ़ा नामक स्थान को चले गये। संवत १६२२ में वे मथुरा आये और मथुरा से गोकुल गये। इसी पृष्ठ के अन्तिम अनुच्छेद में लिखा है:—"सूरदास गोकुल के वासी प्राननाथ वर पावे"— इस कथन से यह सिद्ध होता है कि तब तक गोसाईं विट्ठलनाथ गोकुल में बस गये थे। यह उल्लेख सम्वत १६२२ से भी सम्बन्धित हो सकता है। यदि सम्वत १६२२ तक गोस्वामी विट्ठलनाथ गोकुलवासी बन सकते हैं (क्योंकि तभी उक्त सम्वत में जन्माष्टमी के उत्सव पर उनके परिवार वालों से महावन के भोमियाओं की कहा सुनी हो सकती है), तो अड़ैल वाले श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप की स्थापना भी वहाँ उक्त सम्वत में सम्भव हो सकती है और सूरदास जी उक्त स्वरूप का दर्शन करने के लिए उस समय भी गोकुल जा सकते हैं। वैसे संवत १५५० से ही आचार्य वल्लभ ने अपनी बैठक गोकुल के ठकुरानी घाट पर स्थापित कर ली थी और वहाँ श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप की प्रतिष्ठा भी उस समय अवश्य हुई होगी। यदि यह न भी माना जाय, तो सम्वत १६२२ में तो हो ही गई होगी। फिर इस तिथि को सम्वत १६२२ से खींचकर १६२८ तक ले जाने की क्या आवश्यकता है?

इसी के साथ यह भी विचारणीय है कि यदि नवीन गोकुल सम्वत १६२८ में बना तो सूरदास ने (यदि वह सम्वत १६२८ के बहुत समय बाद तक, सूरनिर्णय के अनुसार सम्वत १६४० तक, जीवित रहे तो) उसके सम्बन्ध में कुछ तो लिखा होता। गोकुल की प्रतिष्ठा वल्लभीय मत में वैसे भी बहुत अधिक है। नवीन गोकुल बनने के पश्चात और भी अधिक हो गई होगी। पर खेद है, समूचे सूरसागर में गोकुल का वह महत्व कहीं पर भी प्रकट नहीं होता जो वृन्दावन को प्राप्त है? वृन्दावन के प्रति सूर के पदों से जो अनुराग झलकता है, वह गोकुल के प्रति नहीं। गोकुल का वर्णन श्रीकृष्ण के ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के अन्तर्गत तो आ जाता है, पर उनकी सरस, भावसम्पन्न,

नित्य लीलाओं में वह स्थान नहीं पाता, इसका क्या कारण है ? सूरसागर के अनुसार श्रीकृष्ण गोकुल में प्रकट होते हैं, अतः वे गोकुल के जीवन हैं, गोकुल के नाथ हैं, उनके अवतार से गोकुल धन्य है, परन्तु यदि गोकुल में उपद्रव होते हैं, तो यशोदा और नन्द दोनों ही गोकुल को छोड़ देने के लिए उद्यत हो जाते हैं और कृष्ण आदि के साथ वृन्दावन में बस जाने की बात कहने लगते हैं।[१] श्रीकृष्ण गोकुल में गायें चराते हैं, गोकुल की गली-गली में उनके कारण आनन्द की धारा भी बहती है, वे गोकुल के रक्षक हैं, इस प्रकार की बातें गोकुल को हरिलीला के साथ सम्बद्ध नहीं करतीं। दशम स्कंध में होली तथा फाग खेलने के वर्णन में गोकुल का वर्णन कुछ सरसता अवश्य लिये है, परन्तु वहाँ भी गोकुल एक ऊँचा-सा नगर है, जहाँ की मदमाती स्त्रियाँ घर-घर में फाग खेल रही हैं। इनके साथ राधा भी है, जो अन्य सखियों को लिये हुये कृष्ण के साथ होली खेल रही हैं। वृन्दावन यहाँ भी गोकुल के साथ लगा हुआ है और जहाँ लीला का कुछ भी वर्णन आता है, वहाँ वह गोकुल के साथ ही रहता है।

हरिवंश पुराण के अनुसार समस्त लोकों से ऊपर गोलोक का स्थान है, जहाँ पहुँचना अत्यन्त दुष्कर है।[२] ब्रह्मवैवर्त, वायुपुराण तथा पद्म पुराण गोलोक का महिमामय शब्दों में उल्लेख करते हैं।[३] सूरसागर इस सम्बन्ध में क्यों चुप है ? खेद है, सूर के अध्येताओं का ध्यान इस महत्वपूर्ण विषय की ओर आज तक नहीं गया। सूरसारावली में भी गोकुल का नाम ऐतिहासिक घटनाओं से ही सम्बद्ध है। केवल एक स्थान पर, पद बन्द संख्या १०८८ में नित्य लीलाओं के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है, पर हरि का निज धाम वहाँ भी वृन्दावन को ही माना गया है।[४] गोलोक या गोकुल[५], जहाँ श्रीकृष्ण

१—महर महरि के मन यह आई।
गोकुल बहुत उपद्रव दिन प्रति बसिये वृन्दावन अब जाई ॥ १०।३६०॥
सूरसागर।

२—हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय १९, श्लोक ३० और ३४।

३—देखो परिशिष्ट १ और २।

४—यह विधि क्रीडत गोकुल में हरि निज वृन्दावन धाम।
इसी विषय की कुछ अन्य पंक्तियाँ देखिये:—

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

का अवतार होता है, जहाँ वे विविध प्रकार की क्रीड़ायें करते हैं, इस पद का अधिकारी क्यों नहीं समझा गया ?' कहा जाता है कि सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रतिष्ठा तो गोकुल (गोलोक) की ही है, परन्तु प्रारम्भिक समय में आचार्य महाप्रभु और गोस्वामी जी ने वृन्दावन में भी बैठकें बनवाई थीं, जो आज तक विद्यमान हैं। अतः वृन्दावन का इस प्रकार का उल्लेख सूरसागर जैसे साम्प्रदायिक ग्रन्थों में हो गया है। पर प्रश्न यह नहीं है, प्रश्न यह है कि सूरसागर में गोकुल या गोलोक का वर्णन वृन्दावन जैसा ही होना चाहिये था, वह क्यों नहीं है?

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बल्लभ सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय में गोकुल को यह महत्त्व प्राप्त हुआ होगा और यदि नवीन गोकुल का निर्माण संवत १६२८ में हुआ है, तो उस सम्वत् के कुछ दिनों बाद ही सूर

गत पृष्ठ की शेष टिप्पणी

वृन्दावन निज धाम परम रुचि वर्णन कियो बढ़ाय ॥ ६६७ सारावली
वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिका संग।
भोर निशा कबहूँ नहिं जानत, सदा रहत यक रंग ॥ १०६६ सारावली
नित्यधाम वृन्दावन स्याम। नित्यरूप राधा व्रजवाम ॥ ७२ पृष्ठ ४२६

सूरसागर (ना०प्र०स०३४६१)

सबते धन्य धन्य वृन्दावन जहाँ कृष्ण को वास ॥ १०।१७३०

सूरसागर (ना०प्र०स०१६६२)

वृन्दावन द्रुमलता हूजिये करता सों माँगिये चलो ॥ १०-१७३२

सूरसागर (ना०प्र०स०१६६४)

दुर्लभ जन्म दुर्लभ वृन्दावन दुर्लभ प्रेम तरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है, स्याम तुम्हारो सङ्ग ॥

सूरसागर (ना०प्र०स०१८३४)

५—हरिवंश, विष्णुपर्व, अध्याय १६ श्लोक ३० में गोलोक को 'गवां लोकः' अर्थात गौओं का लोक लिखा है। गोकुल का भी यही अर्थ है, जहाँ गौओं का समुदाय हो। बृहद ब्रह्म संहिता २।४।१०० में भी गोलोक को गोकुल के साथ रक्खा गया है। पद्म पुराण, श्रीकृष्ण माहात्म्य, अध्याय ८८, श्लोक १० में गोकुल और गोलोक की समता इन शब्दों में प्रकट हुई है:—'गोलोकैश्वर्यं यत्किंचित् गोकुले तत्प्रतिष्ठितम् ॥' श्लोक २३ में इसी स्थल पर, गोकुल को सहस्रदलकमल के समान महत्पद की संज्ञा दी गई है।

सकता है। यथा—"मथुरा दिन दिन अधिक विराजती है। केसवराय का तेज प्रताप तीनों लोकों में गाजता है। जिसके पग-पग में कोटिक तीर्थ हैं और मधु विश्रांत (विस्रातें) विराजती हैं।" सूरदास पृष्ठ १४ (द्वितीय संस्करण पृष्ठ २४)। इसी प्रकार सारावली के पदवन्द ११०१ [1] का अर्थ पृष्ठ ६६ (द्वि० सं० पृष्ठ ८६) पर आपने इस प्रकार दिया है:—"सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव है, और माया काल है। प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन ये अंश सब गोपाल हैं।" परन्तु पदवन्द में न तो सकल तत्वों को ब्रह्माण्ड देव कहा गया है, न माया को काल और न गोपाल को प्रकृति नारायण आदि के अंश। पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों को ध्यान में रखकर पदवन्द का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये:— "सकल तत्व, ब्रह्माण्ड, देव, माया, काल, प्रकृति, पुरुष, श्रीपति, नारायण ये सब गोपाल (भगवान कृष्ण) के ही अंश हैं।"

सूर का एक पद है:—

हरि दरसन की साध मुई।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननु संग, फर फूटे ज्यों आक रुई॥

सूरसागर (ना०प्र०स० २४७३)

सूरदास, पृष्ठ ३२१, (द्वि० सं० पृष्ठ ३८७) पर इस पद में आये हुए 'मुई' शब्द का अर्थ आपने 'मर गई' किया है, जो क्रियापरक है। ब्रज में 'मुई', 'मुए' वाच्यार्थ में क्रियावाचक होकर लक्ष्यार्थ में विशेषण वाचक भी हैं, जिनका अर्थ होता है—बेचारी, बेचारे, अभागे या निगोड़े। पद में 'मुई' शब्द विशेषण है, जिसका विशेष्य है—हरि दरसन की साध', जो कर्ता कारक है, और उसकी क्रिया है: 'उड़ियै उड़ी फिरति'। इसी प्रकार प्रथम संस्करण पृष्ठ ४३३ (द्वि० सं० पृष्ठ ४८१) पर—'अब वै लाज मरति मोहि देखत मिलि बैठीं हरि पाँति'—नेत्र पर लिखे हुए सूर के एक पद की इस पंक्ति का अर्थ करते हुए वर्माजी ने 'अब वे (आँखें) मुझे देखते हुए लाज से मरती हैं'—ऐसा लिखा है। पर वस्तुतः लज्जा के मारे गोपी मरी जा रही है, आँखें नहीं, क्योंकि गोपी के देखते ही देखते उसकी अपनी आँखें उसे छोड़कर हरि की पंक्ति में मिलकर बैठ गईं। आँखें लज्जा के कारण क्या मरेंगी? वे तो निर्लज्ज होकर, घरवार छोड़कर, उधर गई हैं। प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४८८ (द्वि० सं० पृष्ठ ५३०) पर 'ढरी हार आजु गोकुल में घर-घर बेचति फिरति दही री' का अर्थ—

१—सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥

'आज गोकुल में जाकर उसे देखा कि वह घर-घर दही बेचती फिरती है,' दिया गया है। यहाँ उसे शोभा के लिए मानकर शोभा को दही बेचने वाली बना दिया है। पर पंक्ति का वास्तविक अर्थ हमें यह प्रतीत होता है: 'एक गोपी कहती है कि मैं गोकुल में घर-घर दही बेचती फिरती थी, उस समय मैंने देखा कि शोभा का अपार समुद्र गोकुल की गली-गली में बहा-बहा फिरता है।' इसी प्रकार पृष्ठ ४६४ (द्वि० सं० पृष्ठ ५३५) पर "शीश सेली केस मुद्रा कनक वीरी वीर" का अर्थ "शीश-सेली, केश-मुद्रा और कनकवीरी धारणकर" लिखा है, जो हमारी समझ में इस प्रकार होना चाहिये:—"योगियों के शिर की सेली हमारे केश हैं और उनकी मुद्रा हमारे कान के स्वर्ण कुण्डल हैं।" अन्तिम शब्द 'वीर' का अर्थ भाई है, जो संबोधन में है।

'सूरदास' प्रबन्ध के विद्वान लेखक ने सारावली और साहित्यलहरी को सूरसागर के रचयिता सूरदास की कृति न मानने में कई कारण दिये हैं। सूरसागर और सारावली में उन्होंने सत्ताईस अन्तर दिखलाये हैं, जिनमें कुछ शैली-सम्बन्धी हैं और कुछ कथा-वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं। पर क्या ये अन्तर ऐसे सुदृढ़ हैं, जिनके आधार पर दोनों ग्रन्थों को दो भिन्न-भिन्न सूरदासों की रचना समझा जाय? शैली-सम्बन्धी अन्तर यदि देखा जाय, तो सूरदास नाम के प्रबन्ध में ही विद्यमान है। उसमें पदों के अर्थ की भाषा एक शैली में तथा स्वकथन उससे भिन्न शैली में है। प्रियप्रवास के रचयिता की शैली उसके अन्य ग्रन्थों की शैली से भिन्न है। तुलसी के रामचरितमानस की शैली उन्हीं की लिखी हुई गीतावली और कवितावली की शैली से भिन्न है। तो क्या इन सबको भिन्न-भिन्न लेखकों और कवियों की कृति माना जाय? रामचरित मानस, गीतावली तथा कवितावली की कथावस्तु में पारस्परिक कई अन्तर स्थापित किये जा सकते हैं और किये जा चुके हैं, पर इससे वे पृथक-पृथक कवियों की रचनायें नहीं मानी जातीं।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने प्रबन्ध तुलसीदास के पृष्ठ २२५ पर जानकी मंगल और मानस की कथा में चार अन्तर स्थापित किये हैं। पुनः पृष्ठ २३४ और २३५ पर गीतावली की कथा को मानस की कथा से आठ बातों में भिन्न बतलाया है।[1] यही नहीं, पृष्ठ २३६ पर उन्होंने छः बातें ऐसी

१—श्री माताप्रसाद जी गुप्त ने केवल आठ अन्तरों का उल्लेख किया है। हमें गीतावली के किष्किंधा कांड तक ही मानस से कथा-वस्तु-सम्बन्धी लगभग

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

सकता है। यथा—"मथुरा दिन दिन अधिक विराजती है। केसवराय का तेज प्रताप तीनों लोकों में गाजता है। जिसके पग-पग में कोटिक तीर्थ हैं और मधु विश्रांत (विसरातें) विराजती हैं।" सूरदास पृष्ठ १४ (द्वितीय संस्करण पृष्ठ २४)। इसी प्रकार सारावली के पदबन्द ११०१[१] का अर्थ पृष्ठ ६६ (द्वि० सं० पृष्ठ ८६) पर आपने इस प्रकार दिया है:—"सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव है, और माया काल है। प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन ये अंश सब गोपाल हैं।" परन्तु पदबन्द में न तो सकल तत्वों को ब्रह्माण्ड देव कहा गया है, न माया को काल और न गोपाल को प्रकृति नारायण आदि के अंश। पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों को ध्यान में रखकर पदबन्द का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये:—"सकल तत्व, ब्रह्माण्ड, देव, माया, काल, प्रकृति, पुरुष, श्रीपति, नारायण ये सब गोपाल (भगवान कृष्ण) के ही अंश हैं।"

सूर का एक पद है:—

हरि दरसन की साध मुई।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननु संग, फर फूटे ज्यों आक रुई।।

सूरसागर (ना०प्र०स० २४७३)

सूरदास, पृष्ठ ३२१, (द्वि० सं० पृष्ठ ३८७) पर इस पद में आये हुए 'मुई' शब्द का अर्थ आपने 'मर गई' किया है, जो क्रियापरक है। ब्रज में 'मुई', 'मुए' वाच्यार्थ में क्रियावाचक होकर लक्ष्यार्थ में विशेषण वाचक भी हैं, जिनका अर्थ होता है—बेचारी, बेचारे, अभागे या निगोड़े। पद में 'मुई' शब्द विशेषण है, जिसका विशेष्य है—हरि दरसन की साध', जो कर्ता कारक है, और उसकी क्रिया है: 'उड़ियै उड़ी फिरति'। इसी प्रकार प्रथम संस्करण पृष्ठ [illegible] (द्वि० सं० पृष्ठ ४८१) पर—'अब वै लाज मरति मोहि देखत मिलि [illegible] हरि पाँति'—नेत्र पर लिखे हुए सूर के एक पद की इस पंक्ति का अर्थ [illegible] वर्मा जी ने 'अब वे (आँखें) मुझे देखते हुए लाज से मरती हैं'—ऐसा लिखा है। पर वस्तुतः लज्जा के मारे गोपी मरी जा रही है, आँखें नहीं, क्योंकि गोपी के [illegible] उसकी अपनी आँखें उसे छोड़कर हरि की पंक्ति में मिलकर [illegible]। आँखें लज्जा के कारण क्या मरेंगी? वे तो निर्लज्ज होकर, घरबार [illegible], उधर गई हैं। प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४८८ (द्वि० सं० पृष्ठ ५३०) पर [illegible] आज गोकुल में घर-घर बेचति फिरति दही री' का अर्थ—

---

१ [illegible] ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
[illegible] नारायण सब हैं अंश गोपाल।।

'आज गोकुल में जाकर उसे देखा कि वह घर-घर दही बेचती फिरती है,' दिया गया है। यहाँ उसे शोभा के लिए मानकर शोभा को दही बेचने वाली बना दिया है। पर पंक्ति का वास्तविक अर्थ हमें यह प्रतीत होता है: 'एक गोपी कहती है कि मैं गोकुल में घर-घर दही बेचती फिरती थी, उस समय मैंने देखा कि शोभा का अपार समुद्र गोकुल की गली-गली में बहा-बहा फिरता है।' इसी प्रकार पृष्ठ ४६४ (द्वि० सं० पृष्ठ ५३५) पर "शीश सेली केस मुद्रा कनक बीरी बीर" का अर्थ "शीश-सेली, केश-मुद्रा और कनकवीरी धारणकर" लिखा है, जो हमारी समझ में इस प्रकार होना चाहिये:—"योगियों के शिर की सेली हमारे केश हैं और उनकी मुद्रा हमारे कान के स्वर्ण कुण्डल हैं।" अन्तिम शब्द 'वीर' का अर्थ भाई है, जो संबोधन में है।

'सूरदास' प्रबन्ध के विद्वान लेखक ने सारावली और साहित्यलहरी को सूरसागर के रचयिता सूरदास की कृति न मानने में कई कारण दिये हैं। सूरसागर और सारावली में उन्होंने सत्ताईस अन्तर दिखलाये हैं, जिनमें कुछ शैली-सम्बन्धी हैं और कुछ कथा-वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं। पर क्या ये अन्तर ऐसे सुदृढ़ हैं, जिनके आधार पर दोनों ग्रन्थों को दो भिन्न-भिन्न सूरदासों की रचना समझा जाय? शैली-सम्बन्धी अन्तर यदि देखा जाय, तो सूरदास नाम के प्रबन्ध में ही विद्यमान है। उसमें पदों के अर्थ की भाषा एक शैली में तथा स्वकथन उससे भिन्न शैली में है। प्रियप्रवास के रचयिता की शैली उसके अन्य ग्रन्थों की शैली से भिन्न है। तुलसी के रामचरितमानस की शैली उन्हीं की लिखी हुई गीतावली और कवितावली की शैली से भिन्न है। तो क्या इन सबको भिन्न-भिन्न लेखकों और कवियों की कृति माना जाय? रामचरित मानस, गीतावली तथा कवितावली की कथावस्तु में पारस्परिक कई अन्तर स्थापित किये जा सकते हैं और किये जा चुके हैं, पर इससे वे पृथक-पृथक कवियों की रचनायें नहीं मानी जातीं।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने प्रबन्ध तुलसीदास के पृष्ठ २२५ पर जानकी मंगल और मानस की कथा में चार अन्तर स्थापित किये हैं। पुनः पृष्ठ २३४ और २३५ पर गीतावली की कथा को मानस की कथा से आठ बातों में भिन्न बतलाया है।[१] यही नहीं, पृष्ठ २३६ पर उन्होंने छः बातें ऐसी

१—श्री माताप्रसाद जी गुप्त ने केवल आठ अन्तरों का उल्लेख किया है। हमें गीतावली के किष्किंधा कांड तक ही मानस से कथा-वस्तु-सम्बन्धी लगभग

शेष टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

लिखी हैं, जिनसे गीतावली रामचरित मानस के आगे भी बढ़ी हुई ज्ञात होती है। पर इन भेदों के होते हुए भी ये सभी ग्रन्थ एक गोस्वामी तुलसीदास के ही लिखे हुए माने जाते हैं, कई भिन्न-भिन्न तुलसीदासों के नहीं। इसी प्रकार यदि सूर के ग्रन्थों में शैलीगत तथा वस्तुगत भिन्नता आ गई है, तो उसके कारण की खोज करनी चाहिये, यह नहीं कि इस आधार पर उन ग्रन्थों को भिन्न-भिन्न सूरदासों की रचनायें माना जाय।

गत पृष्ठ की शेष टिप्पणी

चालीस अन्तर दिखाई दिये। जैसे गीतावली के बालकांड में आये हुए जन्मोत्सव, सोहिलो, छठी, नामकरण, माता की अभिलाषा—'ह्वै हौ लाल कबहिं बड़े' उबटन करके स्नान कराना, झाड़ फूँक—(आजु अनरसे हैं भोर के)। आगमी के रूप में शंकर का आगमन—(अवध एक आगमी आजु आयौ), पालना, आँगन में घुटनों के बल राम का घूमना, घोड़े पर चढ़कर गेंद खेलना—(कन्दुक केलि कुसल हय चढ़ि चढ़ि) (पद संख्या ४३), राम-दर्शन के लिये विश्वामित्र की इच्छा, राम की मार्ग क्रीड़ा, जनक विश्वामित्र की बातचीत में परिहास, धनुष तोड़ने की आज्ञा देने पर विश्वामित्र और जनक का परस्पर वार्तालाप (पद ८६), कौशल्या की चिंता-(मेरे बालक कैसे धों मग निबहहिंगे) परशुराम संवाद का अभाव आदि प्रसंग रामचरित मानस का अनुकरण नहीं करते। अयोध्याकांड में कैकेयी की वर-याचना का अभाव, कौशल्या के भावों में अन्तर— (तजि हरि धरमशील चाहत भयौ नृपति नारि बस सरबस हारे) तथा—राम हौं कौन जतन घर रहिहौं), दशरथ के भाव में परिवर्तन—(मोकों बिधु बदन बिलोकन दीजै), रामसीता वार्तालाप का कवितावली के अधिक निकट होना, ग्राम-वधुओं के स्नेह वचन सुनकर—'तुलसी प्रभु तरु तर विलम्बे किये प्रेम कनौड़े कै न'॥ ग्रामवासियों की दर्शनान्तर की चिन्ता—(आली री पथिक जे एहि पथ परों सिधाये', पद २६), चित्रकूट वर्णन का विस्तार, माता की चिन्ता—(जननी निरखति बान धनुहियाँ), केवट-प्रसंग, जनक आगमन आदि का अभाव, कौशल्या का विलाप आदि मानस के अनुकूल नहीं हैं। अरण्यकांड में निर्गुण सगुण भेद, मृगवधोपरान्त परावृत होने पर पर्णकुटी की दशा का विशेष वर्णन—(सिय सुधि सब सुनि सुनाई, पद ११), गृद्ध का मार्मिक पश्चात्ताप, राम-गृद्ध-संवाद की सकरुणता और किष्किंधाकांड में बालि-वध तथा लक्ष्मण-रोष का अभाव रामचरित मानस की कथा वस्तु से भिन्नता रखते हैं।

सूरदास के ग्रंथों की एकता हम 'सूर सौरभ' में अन्तःसाक्ष्य देकर सिद्ध कर चुके हैं। श्री ब्रजेश्वर वर्मा स्वयं अपने प्रबन्ध के पृष्ठ ६१ (द्वि०सं०पृष्ठ ८३) पर सारावली और सूरसागर के रचयिता की एकता इन शब्दों में स्वीकार करते हैं: "सारावली में चारों भाइयों राम-लक्ष्मणादि की बाल-क्रीड़ा और बाल-शोभा का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसमें सूरसागर में वर्णित कृष्ण की बाल-केलि की स्पष्ट छाया जान पड़ती है। कहीं-कहीं तो शब्द भी ज्यों के त्यों दुहराये गये हैं।" शैलीगत यह एकता स्पष्ट रूप से दोनों रचनाओं को एक ही कवि की कृति सिद्ध करती है।

रचयिताओं को भिन्न-भिन्न मानने के लिये यह भी कहा जाता है कि सूरसागर के रचयिता सूरदास अपने विषय में इतने मुखर और आत्मविज्ञापक कहीं नहीं हुए, जितना 'सूरसागर-सारावली' का कवि दिखाई देता है।[1] वह बहुत दिनों तक अपने 'शिव-विधान-तप' करके असफल होने, 'सरसठ वर्ष प्रवीन' में गुरु के प्रसाद से लीला का दर्शन करने और 'एक लक्ष' पदों की रचना करने की भी घोषणा कर देता है। इस सम्बन्ध में हमारा कहना यही है कि सूरसागर में प्रमुख रूप से हरिलीला गाई गई है। वहाँ कवि को आत्मविज्ञापन के लिये अवसर ही नहीं था। सूरसागर, सारावली और साहित्यलहरी में ऐसा अवसर आ गया। अतः कवि ने अपने सम्बन्ध में कुछ बातें लिख दीं। यह प्रसंग लगभग वैसा ही है, जैसा रामचरित मानस और कवितावली को लेकर तुलसीदास जी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। रामचरितमानस में गोस्वामी जी अपनी जीवन-सम्बन्धी गाथा का कहीं भी उल्लेख नहीं करते, परन्तु कवितावली के अन्त में, रुद्र बीसी, मीन के शनि, महामारी आदि का वर्णन करते हुए 'मात पिता जग जाइ तज्यो', 'रामबोला नाम राख्यो', 'बाँह पीर, पेट पीर' जैसे कई आत्मचरित विषयक प्रसंगों का उल्लेख कर जाते हैं। रामचरित मानस में उसके निर्माण की तिथि अवश्य आ गई है, पर आत्मचरित के लिये कवि को वहाँ अवसर ही नहीं था, वहाँ तो उसे रामचरित गाना था। अतः वह अपनी उन बातों का वर्णन वहाँ न कर सका, जिनका वर्णन कवितावली में पाया जाता है।

यद्यपि सूरसागर के प्रारम्भिक पदों से कवि की व्यक्तिगत जीवनी और उसके स्वभाव का बहुत कुछ पता लग जाता है, (हमने 'सूर-सौरभ' में और श्री ब्रजेश्वर जी वर्मा ने अपने प्रबन्ध 'सूरदास' में ऐसे कई पद उद्धृत किये हैं) फिर भी उन पदों का एक सामान्य अर्थ भी लग सकता है। परन्तु जब मुखर

१—ब्रजेश्वर वर्मा—सूरदास, प्रथम संस्करण पृष्ठ ७७, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९६